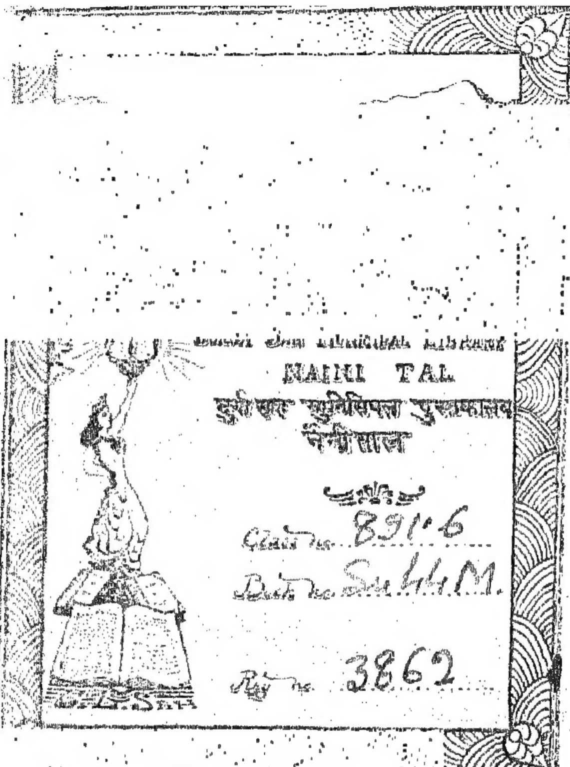


मनोहर-पत्र

इसमें सर्वोत्तम तिरासी पत्रों का समावेष है। पत्रलेखन कला पर यह अपने ढंग की एक ही अनोखी पुस्तक है।



लेखकगण—

भारतके महापुरुष, सर्वमान्य नेता, तपस्वी, विद्वान्, धुरन्धर-साहित्यक



भूमिका लेखक

स्वर्गीय पं० कृष्णकान्त मालवीय



संकलन कर्त्ता

सूर्य्यबलीसिंह

तीसरी बार] १९५३ मूल्य—सात रुपया

अनूठी पढ़ने योग्य पुस्तकें

इन पुस्तकों की उपयोगिता भारतीय समाचार पत्रों ने भी बतायी है। इनके अनेकों संस्करण हो भी चुके हैं। प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों ने भी स्कूल कालेजों और पुस्तकालयों के लिये हमारी निम्नलिखित पुस्तकों को चुना है।

बिहार सरकार की हिन्दी-ग्रन्थ-सूची में हमारी चुनी हुई पुस्तकें सन् १९५२

क्रम संख्या — कहानी (ए)

४०८ कहानीपुञ्ज—श्री सूर्य्यबलीसिंह—काशी-पुस्तक भंडार मू० ३)

विविध विषय

१८४ गीताञ्जलि (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) पद्यात्मक अ० लालधर त्रिपाठी प्रवासी ४॥)

[illegible] [illegible]—ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ४)

२८५ आँख की किरीकिरी—ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ४)

उपन्यास (ए)

२६० आकर्षण—ले० बरजोरसिंह २॥)

२६५ मिलन मन्दिर —ले० देवनारायण द्विवेदी ४)

महिलोपयोगी (त)

३४ कन्या शिक्षादर्पण —ले० पार्वती देवी १)

३५ नारी-धर्म-शिक्षा—मनव्रता देवी २)

अध्यात्म, दर्शन, नीति (ढ)

१६० कुत्सित जीवन—महात्मागांधी १॥)

१६१ रामधुन—सूर्य्यबलीसिंह १)

१६२ सत्संग भजनमाला—सूर्य्यबलीसिंह १।)

अन्य

१ मनोहर-पत्र-ले० भारत के महापुरुष-साहित्यक आदि मू० ७)

२ दहेज —देवनारायण द्विवेदी उपन्यास २॥)

३ ब्रह्मचर्य की महिमा—सूर्य्यबलीसिंह १॥

मिलने का पता—एस० बी० सिंह
काशी-पुस्तक-भण्डार चौक, बनारस।

समर्पण



भारत के
प्रेमी-प्रेमिकाओं के
विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम को
प्रेम-पत्रों का यह हार
सादर समर्पित है।

विनीत
सूर्यबली सिंह

अमी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जिहिं चितवत एक बार॥

ख़त कबूतर किस तरह ले जाय बामे-यार पर।
पर कतरने को लगी हैं कैंचियाँ दीवार पर॥

अपनी प्रिया के प्रति

[महाकवि शेक्सपीयर की कविता से]

क्या वसन्त से करूँ तुम्हारी तुलना ?
तुम हो उससे बढ़कर स्निग्ध, सुशीला;
कुसुमित वन के नव-यौवन का ढलना—
सभी देखते, हाय ! अचिर वह लीला !
है वसन्त का क्षणिक रूप सब छलना,
प्रिये ! शीघ्र ही पड़ जाता वह पीला !
किन्तु तुम्हारी दीप्त ज्योति का जलना
बन्द न होगा कभी, सुनो प्रिय ललना !
तुम्हें न छू सकती है मृत्युच्छाया,
प्रेम-बन्ध तव कभी न होगा ढीला;
मेरी कविता में घुलकर तव माया
सृजन करेगी अमरण विश्व रंगीला।
जब तक जग में शेष रहेगा जीवन,
अजर रहेगा तव कवितामय यौवन।

अभिलाषा

[श्री पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी]

चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ॥

चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ।
चाह नहीं, देवों के शिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ॥

मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ में देना तू फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पर जावें वीर अनेक॥



भवदीय

सम्मतियाँ

हिन्दी-साहित्य में नई क्रान्ति पैदा करने वाला पुस्तक

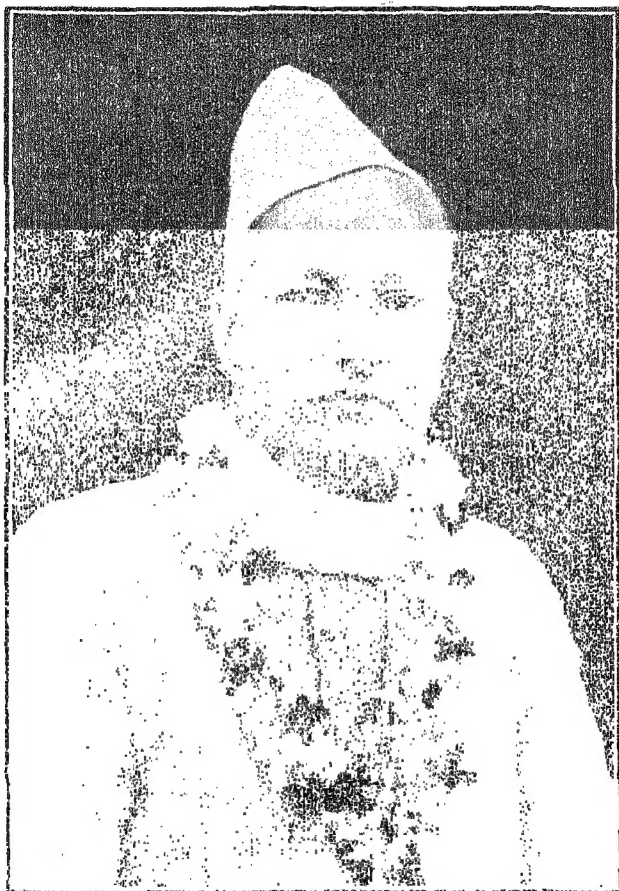
'लव लेटर्स'—प्रेम-पत्र

[भूमिकालेखक स्वर्गीय श्री पं० कृष्णकान्त मालवीय]

संग्रहकर्त्ता—ठा० सूर्य्यबली सिंह

किसी पाठकको "लव-लेटर्स" नाम से ही भड़क न उठना चाहिये। क्योंकि इसमें आदर्श उपस्थित करने वाले संसार के श्रेष्ठ विद्वान महापुरुषों के द्वारा पति-पत्नी अथवा अन्यान्य प्रियजनों के नाम लिखे गये पवित्र प्रेम-पत्र से सराबोर पत्र दिये गये हैं, जो वास्तव में पठनीय है और संग्रहणीय हैं। जैसे स्व० लोकमान्य तिलक के पत्र, श्रीयोगी अरविन्द के २ पत्र, महात्मा गान्धी और उनकी पत्नी कस्तूर बा के पत्र, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मित्र के नाम पत्र, पं० जवाहर लाल नेहरू के उनकी सुपुत्री इन्दिरा के नाम पत्र, श्री श्रीप्रकाश के उनकी कन्या के नाम पत्र आदि संकलित हैं। इसमें मीराबाई द्वारा लिखा गया गो० तुलसीदास के नाम पत्र भी ढूँढ़ कर दिया गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि पुस्तक का कलेवर अत्यन्त महत्वपूर्ण पत्रों से सुशोभित किया गया है। इस बात का तो पढ़ने पर ही पता चलेगा। प्रत्येक पत्र में प्रेम की पवित्र पराकाष्ठा के दर्शन होते हैं तथा पत्र-लेखन-कला की शैली तर्ज-तरीका भी दिया गया है, जिससे प्रत्येक स्त्री-पुरुष काफी लाभ उठा सकते हैं। हम तो सिर्फ यही कहेंगे कि लेखकों ने अपना हृदय निकाल कर रख दिया है। इस पर भारतीय पत्र-पत्रिकाओं की कुछ सम्मतियाँ भूमिका के बाद पढ़िये!

भूमिका-लेखक



स्वर्गीय पं० कृष्णकान्तजी मालवीय, अनेक हिन्दी की पुस्तकों के रचयिता, प्रसिद्ध 'अभ्युदय' पत्र के यशस्वी सम्पादक और केन्द्रीय लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सदस्य थे। जन्म सं० १९४०, ज्येष्ठ सुदी ११ (सन् १८८३ ई०) स्वर्गवास सन् १९४४ ई०

भूमिका

दोस्त !

जिस समय श्रीसूर्यबलीसिंह जी ने भूमिका लिखने के लिए पत्र लिखा, बुढापे की दुहाई देकर मैंने उत्तर भेजा कि अब इस योग्य नहीं कि 'लव-लेटर्स' की भूमिका लिख सकूँ।

'हाली' के शब्दों में मैंने लिखाः—

"हुई अरमाने जवानी की बहार आखिर हैफ,
नवए रंगी थी मयए इश्क की जब मतवाली।
अपनी रूदाद थी तो इश्क का करते थे बयाँ,
जो ग़ज़ल लिखते थे होती थी सरासर हाली।
आप बीती न हो जो है वो कहानी बेलुत्फ,
गरचे हों लफ्ज़ फ़सीह और ज़बाँ टकसाली।
गर ग़ज़ल लिखिए तो क्या लिखिए ग़ज़ल में आखिर,
न रही चीज़ वह मजमून लिखानेवाली।
हाँ अगर इश्क के कुछ कीजिए औरों के बयाँ,
लाइए बाग़ से औरों के लगाकर डाली।
ताकि भड़काए जवानों के दिल आतश की तरह,
वह हवा जिसमें दिमाग़ अपना हुआ है खाली।
पर यह डर है कि कहीं अपना वही हो न मसल,
कह यह चूँ पीर शवद पेशा कुनद दल्लाली।

किन्तु श्री सूर्यबली सिंह जी न माने, उन्होंने अन्य मित्रों से जोर डलवाना शुरू किया। कवि 'हाली' स्वर्ग से मना कर रहे थे, 'ग़ालिब' की रूह सामने खड़ी कहती थी—

"थी एक बुत के तसौव्वुर से

अब वोह रानाइये ख़याल कहाँ ?"

दिल कहता था जब 'खुशी की काबलीयत ही नहीं बाकी रही दिल' में तो मजमून क्या लिखोगे, जो लिख चुके हो, उसे मिटाने पर मत अमादा हो। लिख भेजो, लाचारी है, नहीं लिख सकता, एक से एक अच्छे लिखनेवाले युवक लेखक हैं, किसी से लिखवा लीजिये। इस तरह भी कोशिश की; किन्तु सफलता न मिली क्योंकि मित्रगण आग्रह नहीं, हठ से काम ले रहे थे।

सर्वथा विवश हो, मस्तिष्क ने कहा, "हाली और गालिब स्वर्ग में हैं, तुमको स्वर्ग में पहुँचना नहीं, उनसे चश्मपोशी करो, आँखें चुरा लो, उनकी सुनी-अनसुनी कर दो। दुनियाँ के रहने वालों से रोज का वास्ता है, उनसे आँखें चुराई नहीं जा सकतीं, उनको तो खुश रखना ही होगा, चाहे इसके लिए अपने को मिटाना ही क्यों न पड़े। "बूढ़े दिल ने कहा, यही सही, प्रेमी हृदय को तो कुछ अपने को मिटाने में ही सुख मिलता है। लाचार, कलम चलाना ही निश्चय किया और फल आपके सामने है।

लव-लेटर्स की भूमिका क्या हो सकती है ? 'लव' या प्रेम की भूमिका तो कभी न सुना न जाना। शायद भूमिका इसकी कोई होती भी नहीं। प्रेम का तो जहाँ तक मैं जानता हूँ आदि और अन्त होता ही नहीं, और अगर होता भी है तो कुछ अज्ञात-सा। इसका कोई कारण भी नहीं होता। यह तो एक प्रकार से स्वयंभू ही होता है। प्रेम का पात्र जरूर होता है किन्तु पात्र, वास्तव में कारण भी होता है यह सदा, सर्वदा सब दशा में ठीक ही नहीं। प्रेम वर्तमान से ही जुड़ा होता है, इसका न कोई भूत है न भविष्य। इस बात को अगर इस तरह से कहा जाय कि, यदि सृष्टि का आरम्भ है तो प्रेम का भी आरम्भ हो सकता है, तो अधिक गलत न होगा। लोग 'प्रेम' को आकाश की तरह

अनन्त भी कहते हैं। लोगों की राय में होगा, किन्तु मैं उसे अनन्त न मानकर आकाश की तरह उस समय के लिए सर्व-व्यापक All-pervading और उस समय के जीवन के प्रत्येक अंग और कार्य पर हावी जरूर मानता हूँ।

अगर यह सब सच या ठीक हो सकता है तो आप ही कहिये 'लव लटर्स' की भूमिका में क्या लिखूँ?

मेरी कठिनाई यह भी है कि 'प्रेम' के सम्बन्ध में आज तक जो लिखा गया है, उसमें से ९५ फीसदी को मैं गलत समझता हूँ या यह समझता हूँ कि एक नितान्त इन्द्रियगत किन्तु सर्वप्रेरक और सबसे प्रबल वासना को अधिक से अधिक पवित्र और सुन्दर रूप देने के लिए ही 'प्रेम' की दुनियाँ भर की व्याख्या लेखकों और कवियों ने कर डाली है। वास्तव में 'लव' इन्द्रियगत, काम से प्रेरित वासना या आकर्षण के सिवा कुछ है नहीं। हाँ दुनियावालों ने जरूर समाज में बैठकर इन्द्रियगत वासना और प्रजनन की संकोचविहीन चर्चा करने के लिए उसे पवित्रतर 'लव' या प्रेम के नाम से विभूषित कर दिया है।

प्रेम शक्तिशाली और प्रबल है। इसमें तूफान की शक्ति और सागर की गहराई, स्थिरता और गम्भीरता है। हिमालय-सा उत्तरदायित्व और माँ तथा माता का-सा त्याग इसके माथे पड़ा है। 'लव' के जबान होती और वह बोल सकता तो कवि के शब्दों में कहता—

"बनूं बगूला वोह खाक हूँ मैं
बहूँ लहू बनके हूँ वोह पानी।
जलाऊँ किस्मत वोह आग हूँ मैं
उड़ाऊँ खाक अपनी वोह हवा हूँ।"

मेरा ख्याल है कि दुनिया में आज तक में जो भी बड़ा से बड़ा, भला से भला और बुरा से बुरा काम हुआ है और संसार में जो कुछ भी भलाई या अच्छाई है, उसकी तह में अगर देखा जाय तो 'प्रेम' या

'लव' ही प्रेरक शक्ति के रूप में दिखाई देगा। प्रेम में मस्त होकर किसी ने वह काम कर दिया होगा जिसे आज हम आश्चर्य, सुख या सन्तोष की दृष्टि से देखते हैं और जो आज संसार के लिए कल्याण तथा अह्लादकारी सिद्ध हो रहा है।

एक यूरोपीय लेखक का कहना है कि दुनिया के प्रत्येक भले तथा बुरे काम की जड़ में काम की वासना, किसी-न-किसी अंश में, कहीं न कहीं प्रेरक-शक्ति के रूप में छिपी होती है। यह कहाँ तक ठीक है यह कौन जाने, किन्तु यह तो निर्विवाद बात है कि काम के वशीभूत हो या प्रेम में पागल हो, दुनिया के कठिन से कठिन, बड़े से बड़े और छोटे से छोटे काम प्रसन्नता से मनुष्य कर देता है। उसकी कठिनाइयों का उसे ज्ञान या बोध नहीं होता, साथ ही उस काम को करने में ही वह अपने को सुखी समझता है।

माता की स्नेहमयी भक्ति में स्नान कर, उसके आशीर्वाद से अमर होने के लिए, एक बहन की बात को रखने के लिए, एक प्रेमिका की चितवन में जगह पाने के लिए, उसके मुख से एक बार अपनी वाहवा सुनने के लिए, उसके अधरों की अर्चना मात्र कर पाने के लिए, अपनी और अपने प्रेमिका की आत्मा के स्वरूप की संसारयात्रा को अधिक से अधिक सुखमय बना देने के लिए, पुरुष संसार के बड़े से बड़े और छोटे से छोटे काम बिना संकोच के, बिना कुछ विचारे, बिना उसकी कठिनाइयों पर तनिक भी ध्यान दिये कर बैठता है। यह है स्नेह और प्रेम की प्रबलता, यह है उसकी शक्ति और यही है उसकी महत्ता और व्यापकता का रहस्य।

आप पूछेंगे कि आखिर प्रेम में इतना अन्धापन, पागलपन, इतनी शक्ति, इतनी प्रबलता क्यों और कैसे है? और यह है क्या? क्या इसकी जोड़ की कोई दूसरी वस्तु भी संसार में है? अगर नहीं तो क्यों?

जवाब इन बातों का 'लव' शब्द में ही छिपा हुआ है। कुछ अंग्रेज

लेखकों का कहना है कि 'लव' शब्द संस्कृत धातु 'लुभ' से बना है, कुछ का ख्याल है कि एङ्गलो सेक्सन शब्द लुफ़ (Lufu) से इसका सम्बन्ध है। लुभ और लुफ़ दोनों ही का कामना, वासना या इच्छा से घना सम्बन्ध है। दोनों ही में प्राप्त करने, और कब्जा पाने की लालसा है।

Platonic love वासनाविहीन प्रेम कोरी कल्पना है। 'लव' चाहता है। दर्शन, स्पर्शन, संवेदन तथा घनिष्टतम सम्बन्ध स्थापना में आनन्द प्राप्त करना[१] अगर 'लव' यह सब नहीं चाहता, अगर वह यह नहीं चाहता कि दूसरा सदा सामने रहे, हँसता-बोलता रहे, उसे हम छूते रहें, उससे हम चिमटते रहें, हम उसमें और वह हम में भीन जाय, वह हमारा ही हो और किसी का नहीं, हम उसी को देखें और वह हमको ही, हम उसके चरण-कमलों में अपने को, दुनिया को, न्यौछावर कर दें, हम उसे सर्वस्व दे दें और वह भी अपना सर्वस्व दे दे, तो वह 'लव' नहीं है और जो भी कुछ हो।

'लव' में इतनी प्रबलता वा प्रखरता क्यों है? उसमें हाथी से भी अधिक बल कहाँ से आता है, इसका सूक्ष्म में जवाब यह है कि 'लव' कोरी काम की वासना है। काम की वासना, प्रजनन की लालसा की जननी है, 'लव' इस तरह से Life force या जीवन-शक्ति या सृष्टि करने की शक्ति से सम्बन्धित है और इसी कारण से Life force या जीवन-शक्ति की सारी विशेषताएँ 'लव' में मौजूद होती हैं और Life force की ही तरह वह काम करता है।

लोग कहते हैं 'God is love and love is God' ईश्वर प्रेम है और प्रेम ही ईश्वर है' किन्तु इस वाक्य को अनन्त सत्य समझने

---

१ Love means taking pleasure in seeing, touching perceiving with every sense and in the closest possible contact.

वालों के ध्यान में शायद ही कभी यह आया हो कि ईश्वर सृष्टिकर्ता है और Sex या प्रेम भी सृष्टिकर्ता है और इसीलिए ईश्वर और प्रेम एक ही समान सृष्टिकर्ता होने के कारण एक दूसरे से परिवर्तित और परिवर्धित हो सकते हैं। 'लव' सृष्टिकर्ता होने के कारण सृष्टिकर्ता या सृष्टिकर्ता का प्रधान अङ्ग होता है और सृष्टिकर्ता की सारी विभूतियों से विभूषित होता है।

दुनिया के विशेषज्ञ मेरी इस बात को ठीक मानेंगे या नहीं! यह मैं नहीं जानता। किसी लेखक ने पहले कभी ऐसा लिखा है यह भी मैं नहीं जानता किन्तु मेरी कल्पना मुझ से कहती है कि यही ठीक है।

सृष्टि के आदिकाल से कल्पना कर देखिए, Sex प्रजनन किन-किन घाटियों में होकर गुजरी है और किन-किन रूपों को उसने धारण किया है। छोटी-सी भूमिका में Love 'लव' के रूपान्तरों का विस्तृत वर्णन सम्भव नहीं किन्तु सूक्ष्म में यह तो कहा ही जा सकता है कि आदि काल से प्रजनन (Sex) की प्रधानता और महत्ता ही Love (प्रेम), तथा Religion (धर्म) आदि का रूप धारण करती रही है। मेरा ख्याल है कि जिस तरह से Love 'लव' का 'लुभ' धातु से सम्बन्ध है उसी तरह से Sex का शक्ति से है।

विकास का काम, एक महत्त्वपूर्ण प्रेरक शक्ति को, जिसे अज्ञान या लज्जा से हम घृण्य समझने लगे थे, अच्छा से अच्छा, पवित्र से पवित्र और सुन्दर से सुन्दर आच्छादन ही देना रहा है। प्रजनन से जीवन था, प्रजनन से समाज की वृद्धि थी। प्रजनन के द्वारा ही अपना और दूसरों का अस्तित्व था। स्वभावतः 'प्रजनन शक्ति' Sex सबसे प्रधान और महत्त्वपूर्ण विषय था।

मानव मजहब या धर्म भी पहले Sex worship प्रजनन-शक्ति की पूजा या किसी-न-किसी रूप में लिंग पूजा से ही आरंभ होता है। सच तो यह है कि सृष्टिकर्ता को पिता के नाम से जिस घड़ी से हमने

प्रकार उसी घर्ड़ी से प्रजनन-शक्ति ने धर्म और मजहब का बाना पहनना शुरू किया।

भारत में ही नहीं, रोम, यूनान, मिश्र, बेबिलोन और सारी दुनिया में जहाँ भी मनुष्य का निवास था Sex worship शक्ति पूजा और Phallic Religions लिंग पूजा की प्रधानता थी, किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं विकास की कोशिश यही रही है कि Sex प्रजनन या काम अच्छे से अच्छे, सुन्दर से सुन्दर शब्दों के आच्छादन से ढका रहे।

Love 'प्रेम' के Physical aspect इन्द्रियगत या पार्थिव पहलू या शरीर-अंश की महत्ता को छिपाने के लिए उसके अध्यात्मिक Spiritual अङ्ग और उसकी पवित्रता के गीत गाये जाने लगे Platonic love या वासनाविहीन प्रेम की सृष्टि की गई, ठीक वैसे ही जैसे Sex worship शक्तिपूजा और Phallic religions लिंगपूजा को छिपाने, मिटाने या दबाने के लिए, प्रकृति, पुरुष और माया तथा अध्यात्म और वेदान्त की सीढ़ियों पर मजहब चढ़ाया गया। संसार के किसी भी देश की Mythelogy गाथाओं को पढ़िये, 'काम' तथा Sex की ही विजय आपको अधिकतर पढ़ने को मिलेगी।

आदिकाल में स्त्री-पुरुष नग्न रहते थे। अधूरे ज्ञान या अज्ञान ने बतलाया—यह जेहालत या जंगलीपन है। दूसरों को आकृष्ट करने के लिए शरीर ढके जाने लगे। पेड़ों की छालों, पत्तियों, फूलों, घोंघों और मूँगों से। मनुष्य अपनी समझ में विकास की सीढ़ियों पर और आगे बढ़ा। छालों और पत्तियों की जगह सुन्दर रंगीले चमकदार कपड़ों ने ली, घोंघों और मूँगों के स्थान पर हीरा, मोती, जवाहरात, सोने और चाँदी ने कब्जा किया, ठीक उसी तरह से जैसे Sex worship शक्ति-पूजा और Phallic religions लिंगपूजा का स्थान आज हिन्दू-धर्म, ईसाई धर्म तथा इस्लाम लिए बैठे हैं।

Sex काम या प्रजनन ने भी इसी तरह से उपर्युक्त विकास की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए कवियों और लेखकों की कृपा से Love या प्रेम का नाम प्राप्त कर लिया है और Love में भी Spiritual side पवित्रता पैदा कर दी गई है। वास्तव में यह सब कुछ है नहीं, और Love या प्रेम शुद्ध प्रजनन या काम की वासना मात्र है।

मुसीबत यह हुई है कि कवियों और लेखकों ने जो नहीं भी किया, उसको दुनिया के लोगों ने कर डाला। Love, Affection प्रेम तथा स्नेह दो प्रकार की भावनाएँ हैं, किन्तु दुनिया वाले बिना समझे बूझे शब्दों का अनुचित प्रयोग करने लगे। पति-पत्नी में प्रेम Love हो सकता है। माता पुत्र या भाई बहन में स्नेह होगा। किन्तु कहे कौन, दुनिया वालों ने सब धान बाइस पसेरी कर दिया और 'स्नेह' Affection की जगह पर भी Love प्रेम शब्द का व्यवहार होने लगा। नतीजा यह हुआ कि मित्रों में स्नेह नहीं प्रेम होने लगा। इस गड़बड़ के कारण बहुत सी स्नेह की विशेषताएँ नोच कर 'लव' में जड़ दी गईं और नतीजा वही हुआ जो आज दिन सर्वत्र दिखाई देता है। Love अपनी विशेषताओं को रखता हुआ स्नेह के सानिध्य से परिष्कृत और परिमार्जित रूप धारण कर गया। इसीलिए नहीं कि उसमें कोई गन्दगी पहले थी, वरन् इसलिये कि दुनियावाले उसकी चर्चा करते समय सभ्यता के नाम पर नजर नीची न करें।

'लव' की अगर ऊपर की सब व्याख्या ठीक है तो 'लव-लेटर्स' में क्या होना चाहिये ! यह कहने की जरूरत नहीं। बेटी का माँ को, सखा का सखी को, भावज का देवर को तथा एक मित्र का दूसरे मित्र को पत्र लव लेटर नहीं हो सकता। 'लव लेटर्स' तो प्रेमियों और प्रेमिकाओं के ही पत्र हो सकते हैं।

इस सम्बन्ध में हमको यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि प्रेमी ने अपनी प्रेमिका को या प्रेमिका ने अपने प्रेमी को पत्र लिखा है—

केवल इसीलिए पत्र प्रेम-पत्र या Love letter नहीं हो जायगा। प्रेम पत्र वही होगा जो प्रेमपत्र है, दुनियाभर के पत्र प्रेम-पत्र नहीं हो सकते, न प्रेम का जिक्र या नाम आ जाने से ही कोई पत्र प्रेम-पत्र हो सकता है।

पत्र-लेखन भी एक सुन्दर कला है। हम सब ही बोलते हैं, जबान सबके पास है, शब्दों का भण्डार भी सबके पास थोड़ा बहुत होता ही है किन्तु सब वाक्पटु नहीं होते। विद्वान और पण्डित होने से ही कोई अच्छी बातें करनेवाला Conversationalist नहीं हो जाता। ठीक इसी तरह से कवि होने, लेखक होने या भाषा पर अधिकार रखने से ही कोई सुन्दर पत्रों का लिखनेवाला नहीं हो सकता। पत्र-लेखन एक कला है, और जिस तरह से अन्य कलाओं पर संसार में अधिकार प्राप्त किया जाता है उसी तरह से इस कला पर भी अधिकार प्राप्त किया जा सकता है।

पत्र-लेखन-कला क्या है, कैसी है, उसका रूप या गुण क्या है, इसकी चर्चा छोटी-सी भूमिका में सम्भव नहीं। यह भी सम्भव है कि जिसे मैं ठीक समझता हूँ उसे दूसरे ठीक न मानें। 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' और 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' की बात है। किन्तु पत्रलेखनकला के सम्बन्ध में मेरे कुछ विचार हैं। विशेषकर प्रेम-पत्रों के सम्बन्ध में मेरी राय में पहली बात पत्र के सम्बन्ध में यह होनी चाहिए कि वह स्वाभाविक तथा सरल हो, हृदय की भाषा में लिखा हो, पुस्तकों और कोषों की नहीं, साथ ही इस तरह से लिखा गया हो मानो जिसको पत्र लिखा गया है, वह सामने बैठा है और लिखनेवाला सामने बैठा बातें कर रहा है। एक अच्छा क्रम यह भी है कि पत्र इस तरह से लिखा गया हो मानो लेखक खुद ही अपने से बैठा बातें करता हो। हृदय के 'रेसकोर्स' में विचारों की घुड़दौड़ होती रहती है, कभी-कभी आदमी अपने से ही बातें भी करने लगता है। प्रेम-पत्र लिखने का यह क्रम अत्यन्त सुन्दर

है। मिलाप और वियोग, दुख, सुख प्रेमकी उत्ताल तरंगों, उसकी आशा और निराशा उसकी टीस और पीड़ा को प्रकट करने और प्रेम के उलाहनों को बिना फरियादी बने हुए—देने का यह अच्छा क्रम है।

प्रेम की अनन्त दशा के अनन्त भावों को अपने संसार और जीवन के उलट-पलट, बनाव और बिगाड़को, अगर हम पत्र में उसी तरह व्यक्त न कर सकें जिस तरह हम खुद उसको अनुभव करते हैं तो कागज को काला करना बेकार है। पत्र ऐसा तो होना ही चाहिए कि पढ़नेवाला लिखनेवाले के हृदयसागर की तरंगों में उसी तरह तैरता और डूबता रहे जिस तरह से लिखने वाला खुद उतराता और डूबता रहता है। पत्र की विशेषता यह भी है कि लेखक के हृदय के वसन्त और पतझड़ के जीवनमय और कभी-कभी झुलसा देनेवाले वायु के झोंकों से पढ़ने वाले या वाली का हृदय अपनी रक्षा न कर सके।

गहरा और प्रगाढ़ प्रेम, शोक, विस्मय और आनन्द की अंतिम सीमा कभी-कभी प्रेमी की आत्मा में नहीं मालूम कैसी क्रान्ति, कैसी घबराहट और कहाँ की बेचैनी पैदा कर देता है। ये मूक भावनाएँ कभी कभी आप ही सस्वर हो उठती हैं। अगर प्रेमी इनके स्वर, इनकी आवाज को अपने प्रेमपात्र के हृदय तक न पहुँचा सके, तो दोनों हृदय एक ही तरंग से कैसे तरंगित हो सकते हैं, दोनों हृदयों के तार भिन्न होते हुए भी, मिलकर जीवन का संगीत कैसे पैदा कर सकते हैं?

'शब्द' ही ब्रह्म है—ऐसा लोग कहते हैं। यह कहाँ तक ठीक है—यह तो ब्रह्म के जाननेवाले ही जानें। मैं इतना जानता हूँ कि शब्दों के द्वारा नित्य अनित्य में से भासता हुआ नजर आ सकता है, साथ ही शब्दों के ही सहारे वाणी में मौन की गहराई और स्थिरता और मौन में वाणी की चपलता और लालित्य उछलते कूदते और रंगरलियाँ करते नजर आ सकते हैं।

शर्त यही है कि शब्द आत्मा के चीत्कार हों, हृदय के सच्चे उद्-

सार हों, अपने सच्चे और असली रूप में हों और कृत्रिमता से लाखों कोस दूर हों। कृत्रिमता के दोष से परे होने की कसौटी यह है कि अर्थ और भाव को प्रकट करने के लिए शब्द न ढूँढे जायँ, शब्द अनायास, स्वयं आप आते रहें अर्थ उनके आगे-आगे आप ही भागता दिखाई दे।

'कृत्रिमता' की बात के साथ मैं यह कह भी देना चाहता हूँ कि प्रेमी और प्रेमिका आपस में नमस्कार, या सप्रेम बन्दे नहीं किया करते। उनके अभिवादन मूक-भावना से ही होते रहते हैं। प्रेम के पत्रों में इनको स्थान देने की आवश्यकता नहीं। पत्र तो वैसा ही होना चाहिए जैसा एक दूसरे के साथ नित्य के जीवन में वे आचरण करते हों।

मेरी रानी, प्राणेश्वरी, स्नेहमयी, श्रीमतीजी, प्यारे, प्राणेश्वर, देवता, "मेरे हृदय की रानी, मेरे जीवन की सहचरी" आदि संबोधनों के मैं पक्ष में नहीं। लोग इस तरह लिखते होंगे और शायद लिखते रहेंगे भी किन्तु मेरा भी प्रेम से कुछ-कुछ परिचय है।

"निगाहे नाज मुझ पर भी पड़ी थी
इसी से एक जमाना बदगुमाँ है।"

पत्र भी सहस्रों मैंने लिखे हैं, किन्तु मुझे इस प्रकार के सम्बोधनों की आवश्यकता या उपयोगिता कभी प्रतीत नहीं हुई।

सबसे अच्छा सम्बोधन वह है, जिससे हम उसे रोज पुकारते हों, जिसकी सहायता से दुनिया के सामने हम उससे बातें करते हों, जो हर समय जबान पर रहता हो और जो हमारी जबान पर और उसके कानों में रमा हुआ हो। हर वक्त कुछ और पत्रों के लिए और कुछ यह मेरी समझ में ठीक नहीं।

ऊपर और नीचे दोनों के लिए उपर्युक्त क्रम ही मेरी समझ में ठीक है। "तुम्हारा कातर प्रेमी," 'तुम्हारा अभागा कृष्ण,' 'तुम्हारा दीवाना

कृष्ण', 'तुम्हारा ही कृष्ण', 'तुम्हारा पति'...तुम्हारी दासी, सन्तप्त-हृदया-मृणाल, सौभाग्यवती मृणाल, 'सर्वस्व तुम्हारा, 'वन्दी एक, चरणस्नेही चुन्नी, 'वही खादिमा-सुलोचना' आदि क्या है ? सब ही जगह में तुम्हारा या तुम्हारी और नाम काफी है। नाम के साथ किसी भी विशेषण की आवश्यकता नहीं, अगर पत्र की पंक्तियों के बाद भी अपनी स्थिति को प्रकट करने के लिए नाम के साथ किसी विशेषण की आवश्यकता प्रतीत होती है तो यह पत्र की कमी है और वह कमी नाम के साथ पुछल्ला लगाने में पूरी नहीं की जा सकती।

अगर विशेषण ही देना मंजूर हो तो केवल विशेषण ही काफी है। अभागा, अधम, पागल, दासी तथा इन शब्दों के साथ साथ 'तुम्हारा तुम्हारी और नाम की कोई जरूरत नहीं।

तुम्हारा ही..., तुम्हारी ही...की बात तो मेरी समझ में कुछ थोड़ी-सी भी है। 'तुम्हारा ही ? क्या इस बात के आश्वासन के लिए कि यह न समझो कि मैं औरों का भी हूँ, मैं कसम खाता हूँ, मैं तुम्हारा ही हूँ और किसी का नहीं। 'तुम्हारी ही' का भी इसी तरह से व्याख्या कर देखिए, व्याख्या में क्या कोई रस पैदा होता है ?' 'तुम्हारा पति' सोचिये तो कि 'पति' न लिखा जाय तो क्या लेखक 'पति' नहीं रहेगा। गरीबिनीकी को सोते जागते इसकी याद दिलाते रहना कि तुम्हारा पति हूँ, क्या अर्थ रखता है ?

सचाई तथा प्रेम दिखावे, आश्वासन या शपथ खाने का विरोधी है। मैं तो तुम्हारा, तुम्हारी या इस तरह के किन्हीं भी शब्दों या विशेषणों का विरोधी हूँ। मैं तो केवल हस्ताक्षर के ही पक्ष में हूँ। जो एक दूसरे के निकट हैं, एक दूसरे के लिए हैं, एक दूसरे से प्रेम करते हैं उनके लिए न सम्बोधन के लिए और न अन्त के लिए ही किसी भी प्रकार के विशेषण की जरूरत है और अगर है तो मैंने इस जरूरत को कभी अनुभव नहीं किया।

जहाँ स्नेह हो वहाँ भी इनकी जरूरत नहीं। पूज्य, आदरणीय या इस तरह के विशेषणों में बनावट, दिखावे और कृत्रिमता की बू आती है मैंने तो पूज्य मालवीयजी को सदा।

बाबू,   आपका
                                                                              कृष्ण

ही लिखा। बाबूजी या पूज्य बाबूजी भी कभी नहीं लिखा। आज कल पूज्य पिता जी, पूज्य माता जी, पूज्य गुरुजी लिखने की प्रथा चल पड़ी है। यह कृत्रिमता है और रसहीन है। कृत्रिमता और दिखलावे की बातों के लिए दुनिया पड़ी हुई है, रोज दूसरों के पत्रों में जो चाहे लिखा करिए किन्तु अपनों के लिए तो अपनापन ही काफी है।

मेरा पुत्र यदि मुझे 'पूज्य या श्रद्धेय बाबूजी', आपका आज्ञाकारी आदि लिखे' तो मेरे मनमें बात आयेगी कि यह मेरा मखौल कर रहा है, या इसके हृदय में मेरे लिए स्नेह के, आदर के, या श्रद्धा के भाव हैं ही नहीं और इसीलिए कमी की पूर्ति वह शब्दों द्वारा करना जरूरी समझता है।

प्रेमियोंके बीच तो नाम ही चलना चाहिए, जो जिसे—जिस नाम से पुकारता हो। अक्सर प्रेमियों में दो नाम भी चला करते हैं, एक जो दुनियावालों के लिए होता है, वह नाम जिससे समाज में बैठकर, दुनियाँ की निगाहों में एक दूसरे को सम्बोधित करते हैं, एक उनका नाम होता है, जिसे वे आपस या अकेले में व्यवहार करते हैं। पत्र में नाम वह होना चाहिए जो दुनिया के लिए नहीं, आपस में चलता हो। समाज में सम्भव है सरला जी, शान्ति देवी जी, या सुलोचना देवी जी कहना जरूरी हो, किन्तु अकेले में अगर 'सरले' 'शान्ति' या 'सुलोचना' का मैं व्यवहार करता हूँ तो मैं पत्र में यही लिखूँगा और नीचे लिखूँगा केवल कृ०, न आपका, न तुम्हारा, और न अधम, अभागा या दीवाना। अगर, समझता है कि दीवाना है तो वह दीवाना नहीं और स्त्री इस तर्क

को खूब समझती है। स्त्रियाँ प्रेम तथा स्नेह मय हैं। प्रकृति के अत्यन्त निकट हैं, ये 'स्वाभाविकता' को पसन्द करते हैं, और बनावट और दिखावे से दूर भागते हैं।

प्रेमियों के पत्र में सदा प्रेम की ही बातें नहीं होतीं, सदा वे भावुकतापूर्ण ही नहीं होते। प्रेम में Misunderstanding होती है, प्रेम में झगड़ा होता है, प्रेम में रूठना होता है। प्रेम में लड़ाई और कभी कभी भीषण लड़ाई भी होती है। प्रेम मांगता है—पूर्णरूप से आत्म-समर्पण और प्रेमिका चाहती है कि आत्म-समर्पण सर्वदा, सर्वथा दृष्टिगोचर हो। कभी-कभी व्यर्थ ही सन्देह, अविश्वास या गलत भावना से वह प्रेरित होती है।

कभी अभियोग का जवाब देना होता है, कभी सफाई देनी पड़ती है, कभी Misunderstanding को दूर करने का प्रयत्न करना पड़ता है। ऐसे पत्रों में तथ्य तथा वास्तविकता ही काम देती है, भावुकता की बातों का असर ऐसी स्थितियों में कम होता है, क्योंकि प्रेमिका इनके प्रयोगों से बचने के लिए सचेत रहती है मगर तथ्य बातों और कोरी दलीलों में भी सर्वाङ्गपूर्ण प्रेम, शब्दों में साकार नहीं निराकार रूप में, छिपा होना चाहिए। इस प्रकार के पत्रों का जिनमें भावुकता की झलक भी न हो, साथ ही जो प्रेमपूर्ण हों, लिखना जरा कठिन है! किन्तु इस प्रकार की सारी कठिनाई अगर लेखक सच्चा प्रेमी है और उसका प्रेम सच्चा है तो आप से आप दूर हो जाती है, प्रेमी हृदय अपनी भाषा आप ही लिखा देता है।

ऐसी भी स्थिति हो सकती है कि पत्र का पहुँचना ही मुश्किल हो या प्रियतमा या प्रियतम से इतनी नाराज हो गई हो कि पत्र को पढ़े नहीं, बिना पढ़े लौटा दे, फाड़कर फेंक दे, साथ ही भेंट होने पर कभी बातें करने का मौका ही न दे।

स्त्रियाँ प्रेम के मामले में जहाँ देती सर्वस्व हैं, वहीं सर्वस्व बदले में

भी जाती हैं। व अविवेकी Unreasonable भी इन मामलों में बहुत होती हैं। बिना किसी भी कारण के या अकारण, जबर्दस्ती व्यर्थ के सन्देह पर या अपनी नासमझी से कभी-कभी वे मुँह फुला लेती हैं और उस समय में तो कुछ भी समझाओ, उनकी समझ में नहीं आता, क्योंकि स्त्रियों में हठ तथा डाह Jealousy आदि का माद्दा कम नहीं होता। लड़ाई इस बात पर भी हो जाती है कि तुम फलाँ से बोले क्यों? बोले ही थे तो हमसे क्यों?

पुरुष सामाजिक जीव है, समाज में रहता है, लोगों से मिलेगा-जुलेगा ही। कहीं किसी की पार्टी में आप किसी से हँसते बोलते देख लिए गये, बस जवाब ही नहीं तलब है, बल्कि यह भी कसम खा ली गई है कि मर जाऊँगी मगर इससे अब नहीं बोलूँगी।

कहिये, क्या करियेगा? इस दशा में, विशेष कर जब आप सर्वथा निर्दोष हैं और वास्तव में आप अपनी प्रेमिका से प्रेम करते हैं और आप को सफाई देने का मौका भी नहीं दिया जाता। जोरों की कहा-सुनी हो चुकी है और पत्र भी लिखिए तो वापस आ जाने का डर या विश्वास है।

आप क्या करेंगे? यह आप जानें, मगर मैंने ऐसी स्थितियों में पत्र न लिखकर, क्योंकि उसके पढ़े जाने की सम्भावना ही नहीं हो सकती थी "अभ्युदय" के अग्रलेखों में वही सारी बातें, उसी तरह से लिख दीं जिस तरह से पत्र में लिखता। सिवा एक मित्र के जिनको बातें मालूम हैं या जिनसे मैंने ही कह दिया है। आज तक 'अभ्युदय' का एक भी पाठक यह न कह सका कि जो मैंने लिखा था वह किसी के लिए पत्र था और उसी सप्ताह की महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्या पर लेख नहीं। 'अभ्युदय' की पुरानी फाइलों में कमसे कम चार अग्रलेख इसी तरह के हैं।

यह प्रशंसा कमाने के लिये मैंने नहीं लिखा है। लिखा यह इस-

लिए है कि पत्र इस प्रकार भी लिखे जा सकते हैं जिनमें अपना ही सब कुछ होने पर भी अपनापन न हो ! दुनिया उनको पढ़ ले तब भी सन्देह न हो। वह यही न समझ पाये कि किसी के प्रेम से इसका सम्बन्ध है या यह किसी के लिये विशेष रूपसे प्रेम-पत्र भी है। इस प्रकार के पत्रों के लिए जरूरी यह है कि अपने ऊपर लगाये गये अभियोगों का इनमें पूरा जवाब हो, अपनी सफाई पूरी हो। साथ ही दूसरे के अभियोगों का तर्कपूर्ण खण्डन हो और किसी विषय पर वादविवाद की तरह पर लिखा गया हो या एक विषय का खण्डन-मण्डन हो। इस तरह के पत्र यूँ भी अच्छे होते हैं क्योंकि अगर असावधानी से किसी के हाथ पड़ भी जायँ तो किसी तरह की हानि नहीं हो सकती।

यहाँ पर यह भी कह देना चाहता हूँ कि प्रेम-पत्रोंको जुगहकर जमा रखना या करना अच्छा नहीं होता। कुछ लोग बार-बार पत्रोंको पढ़कर पुरानी घड़ियोंकी याद कर उनके सुख-अनुभव करना चाहते हैं, कुछ लोग पुराने पत्रोंको पढ़कर उसी रसका रसास्वादन बार-बार करना चाहते हैं और कुछ मिन्टोंके लिए पुरानी जिन्दगी बसर कर लेना चाहते हैं। मेरी रायमें यह अच्छा नहीं है, साथ ही यह खतरे से भी खाली नहीं। इसके कारण व्यर्थमें ही "चबाईनोंको चर्चा" का अवसर मिलता है, किसी गरीबनी के बदनाम होनेकी सम्भावना होती है और अन्य भी कितनी खराबियोंके पैदा हो जानेका डर रहता है।

'लव-लेटर्स' के सम्बन्धमें जो कुछ मुझे कहना था, कह चुका। हाँ इस पुस्तकके पत्रोंकी चर्चा मैंने नहीं की। इसकी जरूरत भी नहीं और समालोचना करनेके लिये मैंने कलम भी नहीं उठाई है। साथ ही सबही पत्र एकसे एक बढ़कर विद्वानों और लेखकों के हैं। सब ही एक दूसरे से बढ़े हुए हैं। इन बातों के साथ ही साथ यह भी सत्य है कि अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने के लिए अपने मनमें मैं अपने को कुछ भी समझता रहूँ किन्तु दुनिया के लिए मेरा शुरू से क्रम यही रहा है कि हिन्दी के सब

ही लेखक मुझसे अधिक विद्वान् और मुझसे अच्छे लेखक हैं। ऐसी दशा में पत्रों के सम्बन्ध में मैं टीका-टिप्पणी कर ही क्या सकता हूँ !

श्री सूर्यबलीसिंह जी, मित्र गर्देजी तथा श्री अन्नपूर्णानन्दजी से अन्त में यह निवेदन है कि लिखाने और खिलाने के मामलों में हठसे काम लेना अच्छा नहीं। भूख हो, भीतर से कुछ हो, तब ही भोजन अच्छा लगता है। ठीक इसी तरह से लिखने के लिए रुचि और तबीयत होनी चाहिये। अगर रुचि नहीं है तो लिखना सुहाता नहीं और लेख भी आत्माविहीन और फीका होता है।

जैसे जबर्दस्ती कोई प्रेम करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता और प्रेमकी भीख शील के नामपर नहीं दी जा सकती। उसी तरह से लेख जो वास्तव में लेखके नाम से पुकारे जाने के योग्य हो—जबर्दस्ती न लिखा और न लिखाया जा सकता है।

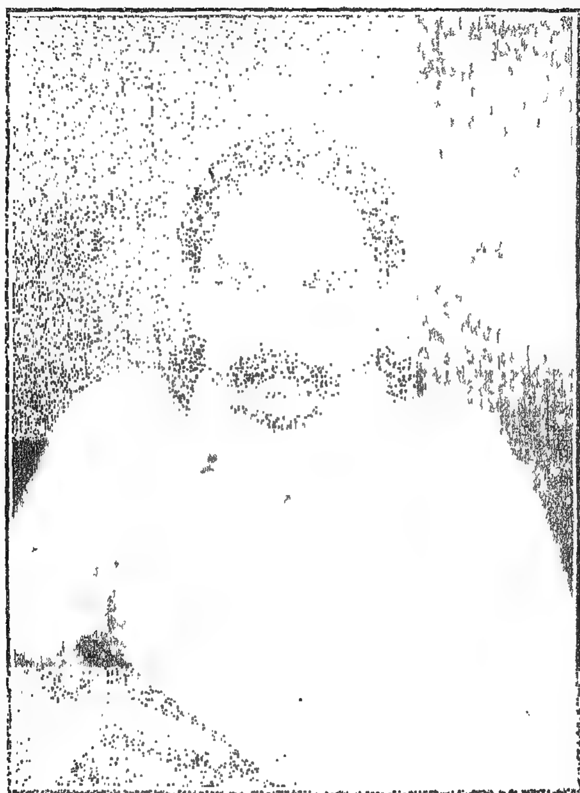
दिल्ली
९ - ११ - ३८

कृष्णकान्त मालवीय

विरह

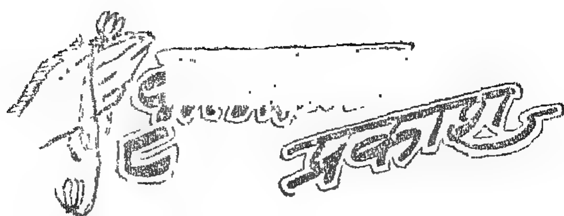
हे री मैं तो प्रेम दिवानी, (मेरो) दरद न जाने कोय ॥ टेक ॥
सूली ऊपर सेज हमारी, सोनो किस विध होय।
गगन-मँडल पर सेज पिया की, किस विधि मिलना होय ॥ १ ॥
घायल की गति घायल जाने, जो कोई घायल होय।
जौहरि की गति जौहरि जानै, दूजा न जानै कोय ॥ २ ॥
दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्यौ नहिं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटै जब, बैद साँवलिया होय ॥ ३ ॥

संकलन-कर्त्ता



श्री सूर्य्यबलीसिंह । जन्म सम्वत् १९८२

सामाजिक तथा राजनीतिक पुस्तकों के प्रकाशक ।



पाठक वृन्द,

'लव-लेटर्स' नामकी पुस्तक निकालने का विचार मेरा बहुत दिनों से था। ईश्वर की दया से इतने दिनों के बाद मेरी वह अभिलाषा पूरी हुई है। इसका प्रधान श्रेय हिन्दी जगत् के परिचित पं० नन्दकिशोरजी तिवारी द्वारा सम्पादित 'चाँद' नामकी मासिक पत्रिका के 'पत्रांक' को है। चाँद का पत्रांक देखने के बाद ही मेरा उत्साह बढ़ा और मैं 'लव-लेटर्स' की सामग्री जुटाने में लग गया। उक्त विशेषांक से मुझे पर्याप्त सामग्री मिली है। अतः मैं उसके लेखक, सम्पादक और प्रकाशक का परम कृतज्ञ हूँ।

इसके लिये मुझे बहुत से लेखकों के पास सैकड़ों बार जाना पड़ा और अनुनय-विनय करके पत्र लेने पड़े हैं। इस प्रकार कई वर्षों के परिश्रम के बाद हिन्दी-संसार के सम्मानित वृद्ध एवं युवक लेखकों के भिन्न-भिन्न शैली के ऐसे सुन्दर-सुन्दर पत्र प्राप्त हो सके हैं, जिनसे प्रेमी प्रेमिकाओं एवं पति-पत्नी को अपूर्व आनन्द मिल सकेगा।

पुस्तक में लिखे हुए अधिकांश पत्र तो असली हैं, किन्तु कुछ पत्र काल्पनिक भी हैं। इस पुस्तक के प्रकाशित करने में पूज्य गुरुदेव पं० लक्ष्मणनारायणजी गर्दे, बाबू अन्नपूर्णानन्दजी, पं० देव नारायणजी द्विवेदी, पं० बिहारीलालजी गुजराती तथा पं० धन्पतरामजी नागर ने जो कुछ सहायता करने की कृपा की है, उसके लिए मैं आपलोगों के प्रति किन शब्दों में अपने हृदय का भाव व्यक्त करूँ, समझ में नहीं आता। क्योंकि केवल कृतज्ञता-प्रकाश करने से हृदय को सन्तोष नहीं

हो सकता। मेरा यही भाव उन समस्त आदरणीय लेखकों के प्रति है, जिनके पत्र इसे पुस्तक का रूप दे सके हैं।

अन्त में मैं अत्यन्त संकोच भाव से पं० कृष्णकान्त मालवीय महाराज से क्षमा मांगता हूँ। मैंने आपके बुढापे और कार्य का ख्याल न करके इस पुस्तक की भूमिका लिखने के लिए पंडितजी से अत्यधिक हठ किया, किन्तु कोमल प्रकृति पंडितजी ने उस हठ पर मुझे दंड न देकर भूमिका द्वारा पुरस्कृत किया। इस उदारता के लिए मैं तो श्रीमान् पंडितजी का चिरऋणी हूँ ही—आपलोगों को भी उनका उपकृत होना चाहिए।

मुझे विश्वास है कि पाठकगण इस पुस्तक को अपनाकर मेरा परिश्रम सफल करेंगे। बहुत से विद्वानों का प्रेमपत्र स्थानाभाव के कारण नहीं दिया जा सका है; इसके लिये मुझे विशेष दुःख है। एक बात और। इस पुस्तक में पत्रों को क्रम से रखने का खयाल नहीं किया गया है। जैसे जैसे पत्र मिलते गये, छपते गये। विद्वज्जनों को इस बात का खयाल नहीं करना चाहिये कि कौन सा पत्र पहले दिया गया है और कौनसा बाद में।

शिवरात्रि
सं० १९९५

सूर्य्यबली सिंह

द्वितीय संस्करण

ईश्वर की कृपा से आज पुस्तक का दूसरा संस्करण सामने है। ऐसी आशा मुझे नहीं थी, इसका श्रेय हिन्दी प्रेमी पाठकों को है, पहले संस्करण की अपेक्षा इसमें कुछ विशेषता है, अवलोकन करने से ही पता चलेगा।

—प्रकाशक

तृतीय संस्करण

'लवलेटर्स' का यह तृतीय संस्करण पाठकों के हाथ में पहुँच रहा है। इस संस्करण के प्रकाशित करने में श्रीयुत बा० हरसूसिंहजी

तथा उनके सगे सम्बन्धी श्री ठा० अलखनारायण सिंह साहब ने आवश्यक सहयोग प्रदान किया है। इनके लिये मैं उन महाशयों का हृदय से कृतज्ञ हूँ। साथ ही प्रेमी पाठक और पाठिकाओं से प्रार्थना है कि देश के सर्वमान्य योगी अरविन्द, लोकमान्य तिलक, महात्मागान्धी, कवी रविन्द्र, पं० जवाहरलाल नेहरू, सुभाष बाबू, श्री श्रीप्रकाश आदि के महत्वपूर्ण पत्र भी दिये गये हैं, इसलिये 'लव लेटर्स' में प्रकाशित कुछ पत्र नहीं आ सके हैं, जो पूरे के पूरे 'चुभती हुई आदर्श चिट्ठियाँ' नाम की दूसरी पुस्तक में अक्टूबर सन् ५३ में छप जायँगे। ५।=) डाक व्यय सहित अग्रिम भेजने से वह पुस्तक भेजी जा सकेगी।

दीपावली
काशी-पुस्तक भंडार
चौक बनारस
सं० २००९ वि०

प्रकाशक
सूर्यबली सिंह [संकलनकर्त्ता]

सम्मतियाँ

लीडर—LOVE LETTERS (Hindi) collected by Sri Suryabali Singh: published by Kashi-Pustak-Bhandar Chowk: Banaras. Rs. 7/—.
selves and for others.' The letters published in this volume will serve not only to preserve some charming sentiments but also to provide modest of love letters to of love letters to young men and women at the romantic age.

हिन्दुस्तान, दिल्ली—इसमें हिन्दी-संसार के सम्मानित लेखकों के पत्रों का यह चुनाव बहुत सुन्दर हुआ है

भारत, इलाहाबाद—पुस्तक में अनेक प्रेम-पत्र गद्य और पद्य दोनों ही में हैं, जो प्रेम, करुणा, हास्य, व्यङ्ग आदि भावों से ओतप्रोत हैं। अन्त में लव-लेटर्स के सम्बन्ध में 'चेतावनी' और 'उपसंहार' सुरुचि के साथ लिखे गये हैं। पुस्तक में अनेक सुन्दर चित्र दिये गये हैं। कवर का रंगीन चित्र विशेष चित्ताकर्षक है।

—विश्वम्भरनाथ जिज्जा, भारत ८ अगस्त १९३९

विषय सूची

विशेष खण्ड

बन्धु, स्नेही, मित्र, कन्या, पत्नी, भाभी, साली को भेंट दें

यह हार का उपहार कुछ-कुछ प्रेम की निशानी है।

लव लेटर्स [प्रेम-पत्र]

सजिल्द सचित्र मूल्य ७)] पर [डाक खर्च ।।।)

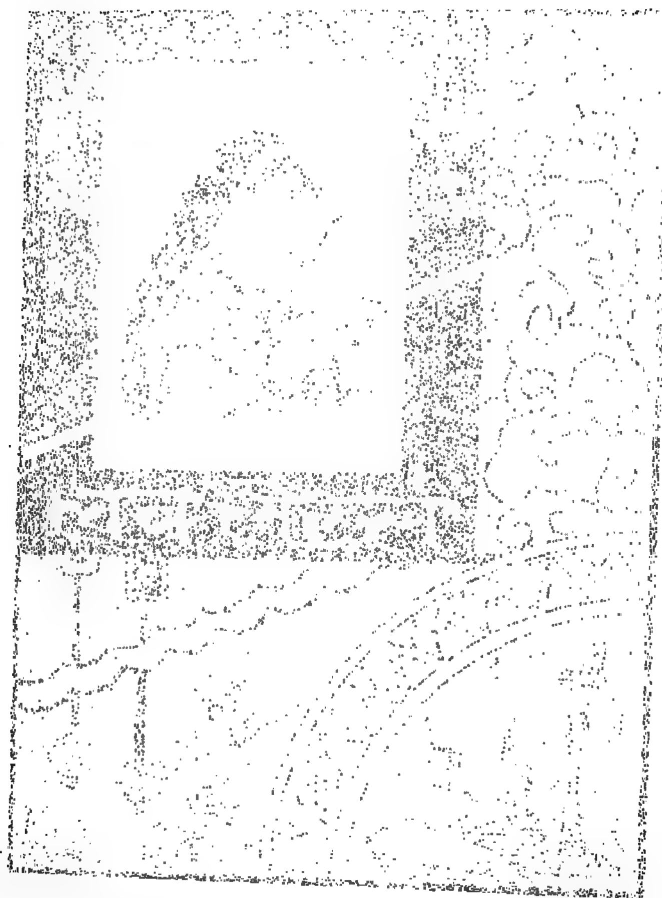
सुप्रसिद्ध पत्रकार की शुद्ध सम्मति पढ़िये

प्रसिद्ध पत्रकार और अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के के 'भूतपूर्व सभापति पं० बाबूराव विष्णुपराड़कर' 'प्रधान सम्पादक आज'—काशी—संकलनकर्ता श्री सूर्यबली सिंह। भूमिका-लेखक (स्वर्गीय) पण्डित कृष्णकान्त मालवीय, एम० एल० ए०, प्रकाशक—काशी पुस्तक भण्डार, चौक, बनारस। मूल्य सजिल्द ७) रुपया। हमें खेद है कि इस सुन्दर पुस्तक पर हम पहले ही अपनी सम्मति न दे सके। इसके लिये श्रीसूर्यबली सिंह से क्षमा माँगते हैं।

अंग्रेजी नामकी यह पुस्तक वस्तुतः हिन्दी है। इसका उल्था प्रेम-पत्र हो सकता है, पर सम्भवतः आधुनिक 'लव' से जो सब भाव प्रगट होते हैं वे हमारे परम्परागत 'प्रेम' में नहीं हैं। इसीसे संकलनकर्ता ने अंग्रेजी पेटिकामें हिन्दी मेंवे पाठकोंको भेंट किये हैं। उपहार बहुत ही अच्छा—मनोरंजक और ज्ञानवर्धक है। विशेषकर इसकी भूमिका में स्वर्गीय पण्डित कृष्णकान्त मालवीय ने नर-नारी विषयके अनुभव की बहुमूल्य बातें कही हैं जिनका प्रत्येक युवकको मनन करना चाहिये। 'लेटर्स' नये भी और पुराने भी, युवकोंके भाव पूर्ण, प्रौढ़ोंके विचार पूर्ण हैं। आकर्षण विकर्षणके साथ हास्य भी है। 'बीबी और शौहर के खत' पढ़ते-पढ़ते पाठक लोट-पोट हो जायगे, इसमें सन्देह नहीं। पण्डित वेंकटेशनारायण तिवारी का 'कृष्ण के पत्र राधाके नाम' एक नवीन समस्या उपस्थित करता है—विचारको उत्तेजन देता है। पण्डित कृष्णकान्त मालवीयका राधा का एक पत्र इसपर अच्छा भाष्य भी है और टीका भी। विचारशील पाठकोंको इन पत्रोंमें विचारके लिये काफी मसाला मिलेगा। मनोविज्ञानके विद्यार्थी भी इससे लाभ उठा सकते हैं। सारांश, पुस्तक संग्रहणीय और मननीय है।

—बाबूराव विष्णु पराड़कर

प्रियतम को पतिया लिखूँ जो कहुँ होय विदेश ।
तनमें मनमें नैनमें, ताको कहाँ संदेश ॥
प्रेम-धाम प्रीतम बसै, प्रीतममें रह प्रेम ।
दोनों एक सरूप हैं, तहाँ न कोऊ नेम ॥



प्रेम-विह्वला अपने प्रेमी की सुध में बैठी प्रेम-पत्र लिखने की तैयारी में है

यौवन गया तो भल भया, सर से गई बलाय ।
जने-जनेका रूठना, मोसे सहा न जाय ॥

❀ श्री ❀

लव्-लेटर्स

प्रेम-पत्र

कर कँपै, लेखनि डिगै, अंग-अंग अकुलाइ।
सुधि आए छाती जरै, पाती लिखी न जाइ॥

× × ×

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेसु लजात।
कहिहैं सबु तेरो हियो, मेरे हियकी बात॥

× × ×

कर लै, चूमि, चढ़ाइ सिर, उर लगाइ, भुज भेंटि।
लहि पाती पियकी लखति, बाँधति, धरति समेटि।

—बिहारी।

कागा नयन निकाल दूँ, पिया पास लै जाय।
पहले दरस दिखाय कै, पीछे लीजै खाय॥

—मीराबाई

पत्र-कला



[ले० पण्डित देवनारायण द्विवेदी]

काशी

कृष्णाष्टमी, १९९४ वि०

समय ७ बजे शाम

प्राणाधिके,

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने जितने प्रश्न किये हैं, सबका उत्तर मैं स्पष्ट और थोड़ेमें देनेका प्रयत्न करूँगा। आशा है कि तुम उससे उचित लाभ उठाओगी।

१—पत्र हमेशा साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये, जिसमें वह ठीक-ठीक पढ़ा जा सके। मुंडे अक्षरोंमें लिखे जानेवाले पत्रोंमें तो 'चूना' लिखा रहनेपर 'चीनी', 'चना' तथा 'साहुजी अजमेर गये' को 'साहुजी आज मर गये' पढ़ा जाना सम्भव ही रहता है-देवनागरीके पत्रोंमें भी सुपाठ्य अक्षर न लिखा रहनेपर ऐसी भ्रमात्मक बात पढ़ ली जाती है, जो पत्र भेजनेवालेको अभीष्ट नहीं रहती। घसीट पत्रोंमें 'स' का 'रु', 'द' का 'ह' या 'ह' का 'द' 'क' का 'फ' या 'फ' का 'क' पढ़ लिया जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि शब्द ही औरका और बन जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि पढ़े-लिखे लोग अटकलसे घसीट अक्षरोंको भी ठीक पढ़ते हैं, किन्तु सोचनेकी बात तो यह है कि जिस लिपिमें भ्रमकी जरा भी गुंजायश नहीं है, उसे ऐसा क्यों

लिखा जाय कि पढ़नेमें अटकल लगानेकी जरूरत पड़े ? कहनेका आशय यह नहीं कि पत्र लिखनेमें शीघ्रता से कलम चलायी ही न जाय; आदमी जितनी ही अधिक तेजीसे लिख सके, उतना ही अच्छा; किन्तु तेज लिखनेमें किसी अक्षर की सान इतनी अधिक न बिगाड़ देनी चाहिये कि यह औरका और ही पढ़ा जाय।

२—जहाँतक सम्भव हो, अपने भावोंको थोड़े शब्दोंमें समाप्त करना चाहिये। व्यर्थकी बातें लिखकर या थोड़ी-सी बातको विस्तारमें लिखकर पत्रको लम्बा करना ठीक नहीं। इससे एक तो पढ़नेवालेका जी ऊब जाता है, दूसरे पत्र लिखनेवालेकी अयोग्यता जाहिर होती है।

३—पत्रमें ऐसी अश्लील बात कभी न लिखनी चाहिए जिसे दूसरोंके जाननेपर किसी प्रकारकी हानि हो अथवा लज्जा मालूम हो। बहुतसे लोग भेदभरी बातोंको अपनी नासमझीके कारण पत्रमें लिख देते हैं; किन्तु कभी-कभी यदि वह पत्र किसी दूसरेके हाथमें पड़ जाता है तो उसका भयंकर परिणाम उन्हें भोगना पड़ता है, और उस दशामें वे अपनी करनीपर पश्चात्ताप करते हैं। इसलिए बुद्धिमानका काम यह है कि वह भूलकर भी ऐसे खतरेका काम करके अपने लिए संकटका बीज न बोये।

४—पत्र मुहावरेदार भाषामें लिखना चाहिए। जो लोग लच्छेदार और सामासिक कठिन भाषामें पत्र लिखते हैं, वे भूल करते हैं। क्योंकि सभ्य समाजमें ऐसे पत्र बहुधा उच्च दृष्टिसे नहीं देखे जाते। पंडित वे हैं जो अपने गहन भावोंको सरल भाषामें व्यक्त करें।

५—समूचे जगत्में लिखे गये या लिखे जानेवाले पत्र दो श्रेणीमें रखे जा सकते हैं। एक श्रेणी तो उन पत्रोंकी है, जो केवल व्यक्ति-विशेषके कामका होता है और जिसका स्थायित्व अल्पकालतक रहता है। ऐसे पत्र अन्य लोगोंके किसी कामके नहीं होते। उदाहरणके लिए एक पत्र उद्धृत किये देता हूँ—

"प्यारी सरला,

पत्र पाकर प्रसन्नता हुई। बड़े भैया अभीतक स्वस्थ होकर घर नहीं आये, लखनऊमें ही इलाज चल रहा है। इस गाँवमें प्लेगकी कुछ शिकायत है। इससे सबलोग घबड़ा गये हैं। भैयाका बड़ा लड़का तुझे बहुत याद करता है। शाम होते ही 'बुआ-बुआ' कहकर रोने लगता है और जबतक सो नहीं जाता, तबतक चुप नहीं होता। तू जल्द पत्र भेजेगी तो मुझे मिल जायगा, नहीं तो शायद मैं आठ दिनमें चली जाऊँगी।

१३ जनवरी १९३७ तेरी बड़ी बहन—
रामपुर मालती।"

इस पत्रमें तुम देखोगी कि जिसके लिए यह पत्र लिखा गया है, उसके सिवा दूसरे किसी भी आदमीके कामकी एक भी बात नहीं है। किन्तु दूसरी श्रेणीका पत्र हर परिचित और अपरिचितके लिए एक-सा लाभदायक होता है और वह चिरकालतक अपना महत्त्व कायम रखता है। जो पत्र आज मैं तुम्हें लिख रहा हूँ; उसी श्रेणीका है।

६—पत्र लिखनेकी दो रीतियाँ हैं; एक प्राचीन और दूसरी नवीन। यद्यपि अब तो पुरानी प्रणालीका लोप-सा हो चला है, तथापि उसका ज्ञान रखना आवश्यक है। इसमें बड़ोंको 'सिद्धि श्री' और छोटोंको 'स्वस्ति श्री' लिखा जाता है। पुरुषको 'सर्वोत्तमोपमाह' और स्त्रीको 'सर्वोत्तमोपमाहा' लिखनेकी रीति है। जैसे—

पुत्रकी ओरसे माताको

सिद्धि श्री सर्वोत्तमोपमाहा पूजनीया माताजीको श्यामलालका साष्टांग प्रणाम। अत्र कुशलं तत्रास्तु। कई दिनोंसे आपका पत्र न मिलनेके कारण मेरा जी बेतरह उचाट हुआ है। आपके वात्सल्य प्रेमकी याद आते ही हृदय व्याकुल हो जाता है। आपसे प्रार्थना है कि शीघ्र पत्र भेजकर मेरे उद्विग्न हृदयको शान्त करें। किमधिकम्। आश्विन शुक्ल ४ सं० १९९३ विक्रमाब्द।

किन्तु नयी शैलीमें सिद्धिश्री या स्वस्तिश्री कुछ भी नहीं लिखा जाता। जो पत्र तुम्हें लिख रहा हूँ, यह नयी शैलीका ही पत्र है। पुत्र अपनी माँको नयी प्रणालीसे इस प्रकार लिखेगा—

ज्ञानपुर

ता० १६—७—३७

"माँ,

मैं जानता हूँ कि आजकल तुम घोर कष्टमें हो। मेरी समझमें नहीं आता कि क्या करूँ। एक ओर तुम्हारे लिए चिन्तित रहता हूँ और दूसरी ओर दीन देशकी आर्त्त पुकार सुनकर व्यथित होता रहता हूँ। प्रतिदिन सोचता हूँ कि अब देशके कामोंमें कुछ भी भाग न लेकर कालेजसे छुट्टी मिलते ही ट्यूशनपर जाया करूँगा और उससे जो आय होगी, अपना खर्च बाद देकर पहलेकी भाँति तुम्हारे पास भेज दिया करूँगा; किन्तु कालेजसे निकलकर घर पहुँचते न पहुँचते ही साथियोंका दल आ धमकता है और जबर्दस्ती मुझे घसीट ले जाता है। मैं कहता हूँ कि 'भाई, पहले अपने घर दिया जलाकर पीछे मसजिदमें जलाया जाता है। मेरी स्नेहमयी माँ घरमें भूखी बैठी होगी; मुझे छोड़ दो, मैं देशके काममें भाग नहीं ले सकता।' मेरी यह बात सुनकर सब साथी कहने लगते हैं कि एक माँकी चिन्ता छोड़कर देशकी लाखों माताओं और बहनों की दयनीय दशापर ध्यान देना जरूरी है।

इस प्रकार इच्छा न रहनेपर भी मुझे देहातोंमें जाकर सहपाठियोंके साथ ग्राम्य-संगठनका काम करना पड़ता है। यदि यही दशा रही तो पन्द्रह दिन के बाद मुझे अपने ही खर्चके लाले पड़ जायँगे। मित्रोंकी यह उद्धतता मुझे बेतरह खल रही है; किन्तु समझमें नहीं आता कि इनसे किस प्रकार पिंड छुड़ाऊँ। रात-दिन इसी चिन्तामें घुला जा रहा हूँ। यदि मैं कुछ भी रुपये इकट्ठा कर सका तो सबसे पहले तुम्हें भेजूँगा।

जानता हूं कि तुम उत्तर देनेके लिए लिफाफा न खरीद सकोगी, इसीसे इस पत्रके साथ ही लिफाफा भी भेज रहा हूं। आशा है कि तुम मुझे क्षमा प्रदान करोगी।

तुम्हारा पुत्र—
दिवाकर।"

अस्तु। आशा है कि तुम मेरे इस पत्रसे उचित लाभ उठाओगी। भविष्यमें यदि कोई बात पूछनी हो तो इसी प्रकार निःसकोच होकर पूछ लिया करना। आदर्श पत्र वे ही कहे जाते हैं, जो सबके लिए लाभप्रद हों।

तुम्हारा—
वही

"प्रियतम,

कृपापत्र पढ़कर चित्तको शान्ति मिली। मैं आपका अमूल्य समय लेना नहीं चाहती; किन्तु मनमें शंकाएँ उत्पन्न होनेपर मुझे तो सिर्फ आपहीकी शरण दिखायी पड़ती है। कुछ कार्यवश मुझे डिस्ट्रिक बोर्डके चेयरमैनके पास पत्र लिखना था, मेरी समझमें नहीं आया कि मैं उन्हें किस शब्दसे सम्बोधित करके पत्र लिखना शुरू करूँ। देशवासियोंपर अंग्रेजी भाषाकी ऐसी गहरी छाप लग गयी है कि मेरे घरमें एक भी आदमी मुझे यह बात न बता सका। इसीसे आपको कष्ट दे रही हूँ। कृपाकर एक ऐसी सूची लिख भेजें, जिसमे मुझे किसीको भी पत्र लिखते समय ऐसी कठिनाईका सामना न करना पड़े। साथ ही यह भी जानना चाहती हूँ कि पत्रके अन्तमें 'भवदीय' के स्थानपर किसे क्या लिखना चाहिये। किन्तु यह सब तो आप लिखेंगे ही, क्या यह लिखनेकी कृपा न करेंगे कि अभी आप कब तक दर्शन देनेकी कृपा करेंगे? हर बार पत्र आनेपर सोचती हूँ कि इसमें आनेका समय लिखा होगा; किन्तु पत्र पढ़नेपर निराश हो जाती हूँ। यदि मुझे रुलानेमें ही आपको आनन्द आता हो तो कोई हर्ज नहीं,

न लिखें; किन्तु क्या ऐसा करना उचित है ? सोचती हूँ कि इस सम्बन्धमें अब कुछ न लिखूँगी ? किन्तु कैसे सब्र करूँ ? आपको गये पूरे दो साल हो गये।

भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदा सं० १९९४ ९१ मालरोड, लाहौर।	चरण-सेविका— रेखा।

मेरी रानी,

तुम्हारे पत्रका उत्तर बहुत जल्दीमें लिख रहा हूँ, क्योंकि मैं दो हफ्तेके लिए बाहर जा रहा हूँ। किसको क्या सम्बोधन करना चाहिये, इसे मैं नीचे लिख देता हूँ। इतना ध्यान रखना कि अपनेसे बड़े और अपरिचितको मान नीय महानुभाव', 'आदरणीय महोदय', 'महानुभाव', 'महोदय', 'श्रीमान्' आदि सम्बोधन लिखनेमें कोई हर्ज नहीं है। कोई अपरिचित अपनेसे बड़ा हो या छोटा, हमेशा उसे बड़ा समझकर आदरणीय श्रेष्ठ शब्दों द्वारा सम्बोधन करना चाहिये। क्योंकि जो आदमी परिचित नहीं है, उसे कोई कैसे जान सकता है कि वह अपनेसे बड़ा है या छोटा ? इसलिए ऐसे लोगोंको हमेशा बड़ा समझकर ही पत्र लिखना उचित है। अपनेको सबसे छोटा समझना बड़ोंका काम है। इस बातका हमेशा ध्यान रहे कि पत्रमें सम्बोधन शब्दके आगे कामा (,) लगाना चाहिए न कि सम्बोधन चिन्ह (!)।

किसकी ओरसे किसको	क्या सम्बोधन लिखना चाहिए
पुत्र अथवा कन्याकी ओरसे पिताको	पूज्य पिताजी, बाबूजी, श्रद्धेय बाबूजी आदरणीय पिताजी अथवा अपने पुकारनेका नाम।

शिष्य अथवा शिष्याकी ओरसे गुरुको	स्नेहास्पद गुरुदेव, पूज्यवर गुरुजी, श्रद्धेय गुरुजी, पूज्य गुरुदेव, माननीय गुरुजी, आदि।
दामाद या बहूकी ओरसे सास, ससुरको	पुकारनेके नामके साथ 'श्रद्धेय' विशेषण जोड़कर लिखे। जिस नामसे पति अपने माँ-बापको पुकारता हो, उसी नामसे पत्नीको भी उन्हें पुकारना चाहिए। इसी प्रकार पत्नी अपने माँ-बापको जो कहकर पुकारती हो, वही कहकर पतिके लिए भी अपने सास-ससुरको पुकारना उत्तम है।
पिता, गुरु, सास, ससुर अथवा माताकी ओरसे पुत्र, शिष्य अथवा दामादको।	प्रियवर, प्रिय वत्स, अथवा चिरंजीव, बेटा, प्रिय, आदि शब्दोंके आगे पुत्र, शिष्य अथवा दामाद जिसे पत्र लिखना हो उसका नाम लिख दे।
गुरुजनोंकी ओरसे जैसे—माता, पिता, गुरुकी ओरसे कन्याको	बेटी, प्यारी बेटी, सौभाग्यवती बेटी या बेटीके आगे जिसे पत्र लिखा जा रहा हो, उसका नाम।
पतिकी ओरसे पत्नीको	प्रिये, प्राणाधिके, प्राणेश्वरी, हृदयेश्वरी, प्राणप्यारी, प्यारी, प्राणवल्लभे, प्रियतमे, इत्यादि।

पत्नीकी ओरसे पतिको	प्राणनाथ, प्राणप्यारे, जीवनधन, प्राणेश, प्राणेश्वर, हृदयेश्वर, प्यारे, प्राणवल्लभ, प्रियतम, नाथ, स्वामिन्, प्रभो, जीवन-सर्वस्व, मेरे नाथ, इत्यादि ।
भाभीकी ओरसे बड़ी ननँदको	पूज्या जीजी, सौभाग्यवती जीजी, इत्यादि—
भाभीकी ओरसे छोटी ननँदको	बीबीजी, प्यारी बीबीजी, बीबी, इत्यादि ।
ननँदकी ओरसे भाभीको	प्यारी भाभी, सौभाग्यवती भाभी, श्रीमती भाभी, भाभी, इत्यादि ।
मित्रकी ओरसे मित्रको	प्रिय मित्र, मित्रवर, सुहृद्वर, इत्यादि ।
सखीकी ओरसे सखीको	प्यारी सखी, मेरी सहेली, इत्यादि ।
किसी पुरुष या स्त्रीकी ओरसे किसी पत्र-सम्पादकको	ऊपर इस तरह लिखना चाहिए:— सेवामें— श्रीमान् सम्पादक "सरस्वती" इसके बाद इन शब्दोंसे सम्बोधन करना उचित है :— महोदय, महानुभाव, महाशय, इत्यादि ।

किसी पुरुष या स्त्रीकी ओरसे किसी पत्र-सम्पादिकाको	सेवामें— श्रीमती सम्पादिका "चाँद" इसके बाद निम्नलिखित शब्दोंसे सम्बोधन करना चाहिये :— महाशया, महोदया, इत्यादि ।
किसी पुरुष या स्त्रीकी ओरसे किसी अपरिचित अथवा अल्प परिचित पुरुषको	महाशय, महोदय, प्रिय महाशय या महोदय, महानुभाव, प्रिय महानुभाव, श्रीमन्, प्रिय बन्धु इत्यादि ।
किसी पुरुष या स्त्रीकी ओरसे किसी अपरिचिता अथवा अल्प परिचिता स्त्रीको	श्रीमतीजी, देवि, महोदया, देवीजी इत्यादि ।
बड़ी बहन या बड़े भाईकी ओरसे छोटे भाई मोहनको	प्यारे मोहन, भाई मोहन, प्रियवर, इत्यादि ।
भाई या बहनकी ओरसे बड़े भाईको	भैया, श्रद्धेय भैया, इत्यादि ।
भाई या बहनकी ओरसे बहनको	बहन, प्यारी बहन, प्रिय बहन, या केवल बहनका नाम ।
भाभीकी ओरसे देवरको	बहुआजी, चिरंजीवी बबुआजी, प्रियवर, इत्यादि ।
देवरकी ओरसे भाभीको	भाभी, श्रीमती भाभीजी, प्रिय भाभी, सौभाग्यवती भाभी, इत्यादि ।

सार्वजनिक संस्थाओंके सभापति, मंत्री, लोकल बोर्डके चेयरमैन; सेक्रेटरी, सरकारी ओहदेदार अथवा इस प्रकारके अन्य किसी सज्जनको

महानुभाव, महोदय, महाशय, श्रीमन्, इत्यादि लिखना चाहिये। किन्तु उसके ऊपर नाम लिख देना उचित है।
जैसे बनारस डिस्ट्रिक्ट बोर्डके सेक्रेटरीको ऊपर इस प्रकार लिख देना चाहिये :—

सेवामें—

सेक्रेटरी, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, बनारस।

अंग्रेजीमें इन लोगोंके लिए केवल Sir (सर) लिखा जाता है।

यह तो हुआ संक्षेपमें सम्बोधन। अब यह बतलाता हूँ कि पत्र समाप्त होनेपर अन्तमें किसको क्या लिखा जाता है। जैसे मोहन अपने पिताको पत्रके अन्तमें लिखता है:—

"आज्ञाकारी—

मोहन।"

इस प्रकार 'आज्ञाकारी' के स्थानपर किसको कौन-सा शब्द लिखना चाहिए, यही मेरे लिखनेका मतलब है। यों तो इसके लिए बहुतसे शब्द हैं, किन्तु संक्षेपमें इसे इस प्रकार समझो कि बड़ेको पत्र लिखनेमें 'आज्ञाकारी चरण-सेवक, दर्शनाभिलाषी, आपका, दास, सेवक', इत्यादि लिखा जाता है, बराबरवालेको या मित्रको 'तुम्हारा', 'अभिन्न', 'स्नेही', 'अभिन्न', 'हृदयी', 'भवदीय', इत्यादि लिखा जाता है, तथा छोटेको 'शुभचिन्तक', 'शुभाकांक्षी', इत्यादि लिखना चाहिए।

ऊपर लिखे हुए शब्दोंके नीचे अपना नाम लिखना उचित है, किन्तु बड़ोंके तथा मित्रोंके पत्रमें अपना पूरा नाम न लिखकर वही नाम लिखना चाहिए जिस नामसे गुरुजन पुकारते हों। जैसे किसीका श्यामसुंदर नाम है, किन्तु बड़े लोग उसे 'श्यामा' 'श्याम' या 'श्यामो' कहकर पुकारते हैं, ऐसी

इसलिए श्यामसुन्दरको चाहिए कि वह बड़ोंके या मित्रके पत्रमें अपना 'श्याम-सुन्दर' नाम न लिखकर पुकारा जानेवाला ही नाम लिखे। हाँ, छोटोंके लिए लिखे जानेवाले पत्रमें पूरा नाम लिखना उचित है।

ऊपर जिन शब्दोंका उल्लेख किया गया है, जैसे 'आज्ञाकारी' 'भवदीय' आदि—उनके अतिरिक्त समयानुसार और भी बहुतसे शब्दोंका प्रयोग किया जाता है या किया जा सकता है। जैसे जगदीश किसीको शोकपूर्ण पत्र लिख रहा है। उसमें वह नीचे इस प्रकार लिखेगा:—

व्यथित हृदयी—

जगदीश।"

'व्यथित हृदयी' के स्थानपर 'सन्तप्त हृदयी', 'शोकाकुल', 'मर्माहत' आदि शब्द भी लिखे जा सकते हैं। शब्द-ज्ञान अच्छा रहनेपर परिस्थितिके अनुसार भिन्न-भिन्न नये और सुन्दर शब्दोंका प्रयोग किया जा सकता है। इसीसे कहता हूँ कि यदि तुम अच्छा पत्र लिखना चाहो तो अपनी योग्यता बढ़ानेमें हमेशा लगी रहो। पूर्ण योग्यता हो जानेपर शब्दोंका ठीक-ठीक वजन मालूम हो जाता है और इस बातका पुष्ट ज्ञान हो जाता है कि कहाँ कौन-सा शब्द लिखना संगत है और कहाँ असंगत।

बस आज यहींतक। आनेके सम्बन्धमें फिर कभी लिखूँगा। सन्तोषके लिए इतना लिख देता हूँ कि अब मैं शीघ्र तुम्हारे पास पहुँचनेकी चेष्टा करूँगा। सचमुच ही आये बहुत दिन हो गये।

ता० १३—६—३७ तुम्हारा वही—

विश्रामपुर अभिन्न"

पत्र-व्यवहार

रचयिता—श्री बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन'

(संपादक 'प्रताप')

[इधर से]

(१)

यही नहीं कि हाथ काँपता, हिय भी कँपता आज,
पूरन कैसे होगा पतिया-लेखनका यह काज !
बड़े जतनसे, हिम्मत करके, लिखने बैठा पत्र,
पर ना जानूँ कैसे यह हो गया आर्द्र सर्वत्र !
हिय धड़के, युग हस्त कँपें चिट्ठीका ओर न छोर,
थोड़ेमें समझना बहुत तुम, हे प्राणों की डोर !

[२]

मेरे हियकी मञ्जूषामें नहीं रतन अनमोल,
और नहीं है वहाँ तरलताकी कोई कल्लोल !
फिर भी हूँ कर रहा समर्पित श्री चरणोंमें आज,
इसमें क्या है ! तुम मत पूछो, तुम्हें लगेगी लाज !
टूटी सन्दूकची बनी यह—इसमें वंशी एक,
कभी-कभी वह रो उठती है करुण-रागकी रेख !

[३]

तुम हो कौन ? ज़रा बतला दो, हे मेरी सम्भ्रान्ति !
शान्ति-सरोवरकी चञ्चल रेणु हो, याकि विरहकी क्रान्ति !
इस चितवनने छलनी कर डाला हिय-भाजन दीन ,
बूँद-बूँद कर टपक गई वह सुरस-राशि तल्लीन !
बिना नीरके तड़पा करता है अब यह मन-मीन ,
अरे ज़रा तो इसे उबारो आकर, हे हिय-हीन !

[४]

लज्जा है कि उपेक्षा ? तुमको ज़रा बता दो, प्राण !
चरणोंके नखसे भी लिख दो कुछ धीरेसे आन !
मेरी मन-कुटी, आँगनमें, चरण-चिह्नको देख ,
सच कहता हूँ, पुलक उठेगी, त्यागे ज्ञान-विवेक !
पर मेरे मनके आँगन क्यों आने लगे हुजूर ?
फिर पद-नखसे लिखनेकी तो बात बहुत है दूर !

[५]

पर इतनी यह मूक भावना क्यों उमड़ी इस बार,
कहाँ गया वह सजल सलोनी बातोंका विस्तार !
सब जगसे बोलो हो, हमसे इतनी खफ़गी ? हाय !
अजी, कभी तो कुछ कह दिया करो हमसे मुसकाय !
इधर-उधर आते-जाते पलकोंका ढँकना खोल ,
हमको तुम क्यों ना दिखलाते अपनी निधि अनमोल !

[६]

क्या जानूँ किस घड़ी निगोड़ी आँखे अटकी आय,
उसी पाशमें बँधी फिरें है, जरा न ये शरमायँ!
तुमको क्या ? तुम तो इस गतिको समझे हो खिलवाड़!
बड़ी लाजकी मूरत बन, करते हो बन्द किवाड़!
झाँकी कर लेने दो, वरना ये लोचन बेचैन,
तड़प-तड़पकर बन जाएँगे सूरदासके नैन!

[उधर से]

[१]

क्या कह तुम्हें करूँ सम्बोधित ? लिखते लगती लाज,
'प्या ...' लिखते ही कलम निगोड़ी कँप जाती है आज!
एक यही अच्छर लिख-लिखकर कागद करे खराब,
यह लेखनी ढीठ है नेक न सहती मेरी दाब!
यह तो मचल-मचल पड़ती है, कैसे समझे ? हाय!
पत्र पड़ा लिखनेको, मैं तो आज हुई निरुपाय!

[२]

सब जग मुझे दोष देता है, मैं हूँ बड़ी कठोर,
साथिन कहतीं कि मैं रुलाती हूँ अपना चित-चोर!
'ऐसा भी क्या मूक प्यार जो कभी न ले सुध, आह!'
यों चुटकी लेती हैं सखियाँ मुझको चलते राह!
मैं क्या करूँ लाज डाइन यह मुझको खाए जाय,
इधर तुम्हारा ध्यान कोंचता मुझे रुलाय-रुलाय!

[३]

भर आँखोंमें नीर, हियेमें पीर, भिगोये चीर,
कैसे लिखूँ नेह-पाती, तुमही बोलो मति-धीर !
बार-बार कागद पसीज उठता—मेरा क्या दोष ?
यह कुण्ठिता लेखनी निष्क्रियतामें पाती तोष !
स्याही ? स्याही—वह तो सूख चुकी कबकी बिरहेश,
जबसे तपिश हुई तबसे स्याहीका रहा न लेश !

[४]

आओ, आज बलैयाँ ले लूँ इस भादोंके बीच,
रिम-झिम बरसो, अहो मचा दो मेरे अँगना कीच !
मैं दौड़ी आऊँ स्वागतको, फिसल पड़ूँ हरषाय,
तुम घबराए-मुसकाए-से बाँह पकड़ लो आय !
उस क्षण मेरी लोक-लाजका गढ़ हो जाये चूर्ण,
योंही पत्र अधूरा मेरा होता जाए पूर्ण !

[५]

निस्साधना तुम्हारी दासी, बाधाएँ भरपूर,
इसपर यह न पता कि कहाँ हो तुम, हो कितनी दूर ?
नाम-गाँव सब भूल गई हूं मैं बौरानी नार,
केवल रूप-छटा है आँखों में, हियमें, इस बार !
सिरनामा लिखवा दो आके, जरा हाथ लो थाम,
जरा बता दो, ओ परदेशी, अपना मृदु उपनाम !

बीबी और शौहर के ख़त

(लेखक—पं० रत्ननाथ दर 'सरशार' लखनवी)

अनु०—स्वर्गीय श्रीयुत प्रेमचन्दजी

एक दिन मियाँ आजाद सरायमें बैठे सोच रहे थे, किधर जाऊँ कि एक बूढ़े मियाँ लठिया टेकते आ खड़े हुए और बोले,—मियाँ ज़रा ख़त तो पढ़ दीजिए और इसका जवाब भी लिख दीजिए। आजादने ख़त लिया और पढ़कर सुनाने लगे—

मेरे खूसट शौहर, खुदा तुमसे समझे।

आजाद—वाह। यह तो निराला ख़त है। न सलाम न बंदगी। शुरू ही से कोसना शुरू किया।

बूढ़े जनाब—आप ख़त पढ़ते हैं कि मेरे घरका कज़िया चुकाते हैं? पराए झगड़ेसे आपका वास्ता? जब मियाँ-बीबी राजी हैं, तब आप कोई काज़ी हैं।

आजाद—अच्छा, तो यह कहिए कि आपकी बीबीजानका ख़त है। लीजिए, सुनाए देता हूँ—

"मेरे खूसट शौहर खुदा तुमसे समझे। सिकन्दर पातालसे प्यासा आया मगर तुमने अमृतकी दो-चार बूँदें जरूर पी ली हैं, जभी मरनेका नाम नहीं लेते। कुछ ऊपर सौ बरसके तो हुए, अब आखिर क्या आकबतके बोरिए बटोरोगे? जरा दिलमें शरमाओ, हजारों नव-जवान उठते जाते हैं, और तुम टैयाँसे मौजूद हो। डेंगू-फीवर भी आया; मगर तुम मूछोंपर ताव ही देते रहे। हैजेने लाखों आदमी चट किए; मगर आप तो हैजेको भी चटकर जायँ; और डकारतक न लें। बुखारमें हजारों हयादार चल बसे; मगर तुम और भी मोटे हो गये। तुम्हें लकवा भी नहीं मारता; लूके झोंके भी तुम्हें

नहीं झुलसाते; दरियामें भी तुम नहीं फिसल जाते; और सौ बातकी एक बात यह है कि अगर हयादार होते, तो एक चिल्लू काफी था, मगर तुम वह चिकने घड़े हो कि तुमपर चाहे हजारों ही घड़े पड़ें, लेकिन एक बूँद न थम सके। वाह पट्ठे क्यों न हो। किस बुरी साइतमें तुम्हारे पाले पड़ी। किस बुरी घड़ीमें तुम्हारे साथ ब्याह हुआ। माँ-बापको क्या कहूँ, मगर मेरी गरदन तो कुंद छुरीसे रेत डाली। इससे तो किसी कुएँहीमें ढकेल देते, कसाईहीके हवाले कर देते, तो यह रोज-रोजका कुढ़ना तो न होता। तुम खुद ही इन्साफ करो। तुम्हारे बुढ़भससे मुझपर क्या गाज पड़ी। हाथ तो आपके काँपते हैं, पाँवमें सकत नहीं, मुँहमें दाँत न पेटमें आँत, कमर कमानकी तरह झुकी हुई, आँखोंकी यह कैफियत कि दिनको ऊँट नहीं सूझता। लाठी टेककर दस कदम चले भी, तो साँस फूल गई, दम टूट गया। सुसताने बैठे तो उठनेका नाम नहीं लेते। सुबहको नन्हीं-नन्हीं दो चपातियाँ खा लीं, तो शामतक खट्टी डकारें आ रही हैं, तोला भर सिकंजबीनका सत्यानाश किया, मगर हाजमा ठीक न हुआ। हाफिजेका यह हाल कि अपने बापका भी नाम याद नहीं। फिर सोचो तो कि ब्याह करनेका शौक क्यों चर या। एक पाँव तो कब्रमें लटकाया है और खयाल यह गुद-गुदाया है कि दूल्हा बनें, दुलहिन लाएँ। खुदा-कसम, जिस वक्त तुम्हारा पोपला मुँह, सफेद भौंह, गालोंकी झुर्रियाँ-दोहरी कमर, गंजी चाँद और मनहूस सूरत याद आती है, तो खाना हराम हो जाता है। वाह बड़े मियाँ वाह! खुदा झूठ न बोलावे, तो हमारे अब्बाजानसे पचास-साठ बरस बड़े होंगे और अम्माजानको तुमने गोदमें खिलाया हो, तो ताज्जुब नहीं। खुदा गवाह है, तुम मेरे दादाके बापसे भी बड़े हो, मगर बाहरी किस्मत कि आप मेरे शौहर हुए। जमीन फट जाय, तो मैं धँस जाऊँ।

तुम्हारी जवान बीबी।"

आजाद—जनाब, इसका जवाब किसी बड़े मुन्शीसे लिखवाइये।

बूढ़ा—बुढ़ापेमें अब कभी शादी न करेंगे।

आजाद—वाह, क्या अभी शादी करनेकी हवश बाकी है? अभी पेट नहीं भरा?

बूढ़ा—अब इसका ऐसा जवाब लिखिए कि दाँत खट्टे हो जायँ।

आजाद—आप औरतके मुँह नाहक लगते हैं।

बूढ़ा—जनाब, उसने तो मेरी नाकमें दम कर दिया और सच पूछो, तो जिस दिन उसको ब्याह लाए, नाक ही कट गई। ऐसी चंचल औरत देखी न सुनी। मजाल क्या कि नाकपर मक्खी बैठ जाय।

आखिर आज़ादने पत्रका जवाब लिखा—

"मेरी अलबेली छैल-छबीली, नादान बीबीको उसके बूढ़े शौहरकी उठती जवानी देखनी नसीब हो। वह जुग-जुग जिए और तुम पूतों फलो दूधों नहाओ, अठारह लड़के हों और अठारह दूनी छत्तीस छोकरियाँ। जब मैं दालानमें कदम रक्खूँ, तो सब बच्चे 'अब्बा आए, खिलौने लाए, पटाखा लाए' कहकर दौड़ें मगर डर यह है कि तुम भी अभी कमसिन हो, उनकी देखा-देखी कहीं मुझे अब्बा न कह उठना कि पास-पड़ोसकी औरतें मुझे उँग-लियोंपर नचावें। मुझे तुमसे इतनी ही मुहब्बत है, जितनी किसीको अपनी बेटीसे होती है, अपनी नानीको मैं ऐसा प्यारा न था, जितनी तुम मुझे प्यारी हो। और क्यों न हो, तुम्हारी परदादीको मैंने गोदियोंमें खिलाया है और मेरी बहनने उसे दूध पिलाया है। मुझे तुम्हारी दादीका गुड़िया खेलना इस तरह याद है, जैसे किसीको सुबहका खाना याद हो। तुम्हारे खतने मेरे दिलके साथ वह किया, जो बिजली खलिहानके साथ करती है, लेकिन मुझमें एक बड़ी सिफत यह है कि परले सिरेका बेहया हूं। और क्यों न हो, शर्म औरतोंको चाहिये, मैं तो चिकना घड़ा हूँ। माना कि आँखोंमें नूर नहीं, मगर निगाह बड़ी बारीक रखता हूँ; बहरा सही लेकिन मतलबकी बात खूब सुनता हूँ, बुड्ढा हूँ, कमजोर हूँ, मगर तुम्हारी मुहब्बतका दम

भरता हूँ। तुम्हारा प्यारा-प्यारा मुखड़ा, रसीली अँखियाँ, गोरी-गोरी बहियाँ जिस वक्त याद आती हैं, कलेजेपर साँप लोटने लगता है। तुम्हारा चाँदनी रातमें निखरकर निकलना, कभी मुसकिराना कभी खिलखिलाना--किसका शरमाना ! कैसा लजाना ! और तो और, तुम्हारी फुर्तीमें दिल लोट पोट है, कलेजेपर चोट है। फिरकीकी तरह चारों ओर घूमना, मोरोंकी तरह झूमना, कभी खेलते-खेलते मेरी चपतगाहपर टीप जमाई, कभी शोखीसे वह डाँट बताई कि कलेजा काँप उठा, कभी आप-ही-आप रोना, कभी दिन-दिन भर सोना, अल्हड़पनके दिन बारह बरसका सिन, बीबीजान, तुमपर कुर-बान, ले अब कहा मानो, हमें ग़नीमत जानो। मैं सुबहका चिराग हूँ, हवा चले या न चले, गुल हुआ, अब गुल हुआ। डूबता हुआ आफताब हूँ, अब डूबा, अब डूबा। मुझे सताना, मुएपर सौ दुर्रे। तुम खूब जानती हो कि मेरी बातें कितनी मीठी होती हैं। सत्तर बरस हो गए कि दाँत चूहे ले गए, तबसे हलुएपर बसर है, फिर जो रोज हलुवा खायगा, उसकी बातें मीठी क्यों न होंगी। तुम लाख रूठो, फिर भी हमारी हो, वह शुभ घड़ी याद करो, जब हम दूल्हा बने, पुराने सिरपर नई पगड़ी जमाए, मुर्गीके बराबर घोड़ियापर सवार, 'मीठी पोई जाते थे, और तुम दुलहिन बनी, सोलह सिंगार किए पालकीमेंसे झाँक रही थी। हमारे गालोंकी झुर्रियाँ, हमारा पोपला मुँह, हमारी टेढ़ी कमर देखकर खुश तो न हुई होगी ! और क्याँ लिखूँ, एक नसीहत याद रक्खो, एक तो मेले-ठेले न जाना, दूसरे आस-पासकी छोकरियोंको गुइयाँ न बनाना। खुदा करे, जब तक जमीन और आसमान कायम है, तुम जवान रहो, और नादान रहो, हमारे सफेद बाल तुम्हें भाएँ हासिद खार खाएँ।

तुम्हारा बूढ़ा शौहर।

बूढ़ा—माशा-अल्लाह ! आपने खूब लिखा, मगर इस खतको ले कौन जाय ! अगर डाकसे भेजता हूँ तो गुम होनेका डर, उसपर तीन

दिनकी देर। अगर आप इतना एहसान करें कि इसे वहाँ पहुँचा भी दें, तो क्या पूछना।

आज़ाद मैलानी तो थे ही, समझे हर्ज क्या है, साँढ़नी मौजूद है, चलूँ इसी बहाने ज़रा दिल्लगी देख आऊँ। कुछ बहुत दूर भी नहीं, साँढ़नी पर मुश्किलसे दो घंटेकी राह है। बोले,—आप बुज़ुर्ग आदमी हैं, आपका हुक्म बजा लाना मेरा फ़र्ज़ है, लीजिए जाता हूँ।

वे दिन

[ले० —श्रीसीताराम गुप्त 'विनोद' बी० काम, ए० एम० आई० एस० ई०]

"प्राणनाथ,

प्राणनाथ ! यह क्या लिख दिया ? प्राणनाथ, प्राणवल्लभ, प्राणेश्वर, आदि यह सब तो गँवारू भाषा है ! 'डियर' 'डार्लिङ्ग', 'माई लव' आदि में जितनी मधुरता है उनके आगे ये शब्द शुष्क प्रतीत होते हैं, तथापि मातृभाषा होनेसे बोलनेमें तो नहीं, परन्तु लिखनेमें अवश्य ही लेखनीसे निकल ही पड़ते हैं। हमलोग विश्वविद्यालयमें प्रेम-परिणयके समय सदा अँग्रेजीहीके 'डियर' आदि प्रयोग करते थे। इन शब्दोंसे हमारी पुरानी स्मृति हरी हो जाती है। मैंने प्रथम बार आपको विश्वविद्यालयके रंग-मञ्चपर विदूषकका अभिनय करते देखा था। दूसरे दिवस आप कालेज चले जा रहे थे। रात्रिका आपके चेहरेका पाउडर और काला रंग भलीभाँति छूटा नहीं था, इससे आपकी शक्ल अजीब दिखाई पड़ती थी। उसको देखकर मैं

हँसी नहीं रोक सकी। मेरी मुस्कुराहटको आपने देख लिया और उसका कुछ और ही अर्थ लगा लिया। बस यहींसे नवीन नाटकका प्रथम दृश्य आरंभ हुआ। आप मेरे पीछे हाथ धोकर पड़ गये। कौन जानता था कि एक दिन मेरी शादी उसी भौंड़से (क्षमा करना मिस्टर विदूषकजी) होगी। आप जहाँ मिलते, नेत्रोंसे संकेत करते, हृदयपर हाथ रखते, ठंढी साँस लेते। मैं नीची निगाह करके कभी-कभी मुस्कुराकर चल देती। मुझे आप निष्ठुर समझते। कभी-कभी आपकी जबानसे 'आह जालिम, मार डाला' के शब्द निकल जाते। उन शब्दों को सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती अभिमान होता, गर्व होता। दिलमें खयाल होता, मैं बड़ी सुन्दरी हूँ। लोग मुझको चाहते हैं। आइनेके सामने खड़ी होकर अपना रूप अपने-आप निहारती और खुश होती थी। परन्तु मेरा हृदय भी पाषाण न था। मैं भी आपको चाहती थी, परन्तु कुछ कह नहीं सकती थी। दोनों ओर से 'वायरलेस' चलती रही। अन्त में 'कनवोकेशन' (उपाधि वितरण) के दिन आपने समय निकाल ही लिया और अपना प्रथम पत्र मुझको दिया। बस यहींसे बाँध टूट गया। हमारा पत्र-व्यवहार चला, छिप-छिपकर भेंट चली। आह, वह भी कितना सुन्दर समय था! हम चोरीसे मिलते, हृदय सशंक रहता, सदा भय रहता कि कोई देख न ले, थोड़ी पत्तों की खड़खड़ाहट के कारण हमलोग पीपलके पत्तोंकी तरह काँपने लगते, परन्तु तथापि वही चन्द मिनट भी हमारे लिये स्वर्गसे बढ़कर होते। हमलोग पुनः मिलनेका निश्चय कर पृथक होते और पुनर्मिलन-तककी घड़ियाँ किस प्रकार काटते, लिखना कठिन है।

मैंने बी० ए० पास किया, आपने एम० ए०। हमारी पढ़ाई समाप्त हुई। हमलोग बिछुड़ गये। आह उस रात्रिका वर्णन जबकि मैं आपसे पृथक हुई थी किस प्रकार करूँ। रातभर रोती रही। हृदयमें होता था उड़कर आपके पास पहुँचूँ। जब आपका पत्र मिला, कुछ तसल्ली हुई। आपके पिता तथा मेरे पितामें हमारे सम्बन्धके लिये पत्र-व्यवहार आरम्भ

हुआ। यह सब आपकी कार्रवाई थी। आपके मित्रोंद्वारा मेरे पिताको प्रेरित किया गया। सब कुछ तय हो गया। हमारी भीआशायें फलीभूत होती हुई दिखाई पड़ने लगीं। परन्तु जब मैंने सुना कि आपके पिताने तिलकका धन कम समझकर शादी करनेसे नाही कर दी, तब तो मैं मरणासन्न हो गई। हमारी दशा उन्हीं प्रेमियोंकी हुई जो प्रयागमें एक गंगामें और एक यमुनामें नौकापर सवार होकर संगमपर मिलनेकी आशा से आवें, परन्तु संगमपर इन दोनों नदियोंकी धाराओंके वेगसे दोनों नावें टकराकर अलग हो जावें। संयोग होते-होते रहा। आपके पिता इतने शिक्षित, समाजमें इतना बड़ा पद रखते हुए भी 'तिलक' के पक्षपाती थे। हा! इस तिलककी प्रथाने पता नहीं कितनी युवतियोंका सत्यानाश किया, कितने ही माता-पिताओंका संहार किया। अब यह हमारे जीवनको नष्ट करनेवाला था। परन्तु ईश्वरकी कृपा हुई। समझौता हो गया।

अन्तमें शादी हो गई। हमलोग एक सूत्रमें बंध गये। विचारा था, अब सब आपदायें दूर हो गयीं। अब हमारे हृदयोंकी ज्वालायें शान्त होंगी। परन्तु विधिनाकी विधि कौन बतावे। कहाँ तो हमारे 'हनीमून' का समय आया, कहाँ आपको राजा साहिबके यहाँका तार मिला कि आप प्राइवेट सेक्रेटरीके पदपर नियुक्त हो गये, परन्तु चले आइये। घरभरने इस समाचारसे प्रसन्नता मनाई, इधर अँधेरा हो गया। आप चले गये, मेरे हृदयकी ज्वाला अधिक बढ़ गई। मैं आपके वियोगमें तड़पने लगी। संसार सूना दिखने लगा।

आह, देखिये कोयल बोल रही है। इसका यह अर्थ है कि मैंने इतनी रात आपकी यादमें और इस पत्रमें बिता दी। पत्र लिखकर मैं अपने हृदयका उद्गार प्रकट कर रही थी। इससे मुझको कुछ सांत्वना मिल रही थी। घाव भर रहा था, परन्तु इस पापिन कोयलने अपनी कूकसे उसे भरते हुए घावको नोच डाला। उससे पुनः रक्तकी धारा प्रवाहित हुई। मेरी दशा तो इस समय उस पुरुषकी तरह है जो कि अपने

सुन्दर उद्यानमें, जिसमें भाँति-भाँतिके सुन्दर सुगन्धित पुष्प लगे हुए हैं—टहल रहा हो, वाटिकाकी सुन्दरता देखकर मुग्ध हो रहा हो। एक सुंदर गुलाबके पुष्पको तोड़कर सूंघना चाहता हो, परन्तु उसपर बैठी हुई शहदकी मक्खी उसको काट ले। हाय! हमारे पास सबकुछ है, परन्तु किस काम का? मुझसे तो वह भला है जिसके पास कुछ भी नहीं।

प्राणेश्वर, मुझसे तो कहकर गये थे कि अधिक-से-अधिक एक मासमें अवश्य बुला लूँगा, परन्तु अब तो तीन मास व्यतीत हो गये। आपने सुध भी न ली। सुध कैसे लें? सुध लेनेकी सुध हो तो सुध लें। वहाँपर तो राजासाहबके साथ नई-नई 'मिसों' से भेंट करनेसे ही फ़ुर्सत नहीं मिलती होगी। मुझको कौन पूछे। क्यों, कैसी पते की कही? खैर, आप भ्रमर बनकर भिन्न-भिन्न फूलोंके रस लें, परन्तु इस पुष्पके लिए तो केवल एक ही भ्रमर है। यह पुष्प वनमें अकेला खिला रहकर मुर्झा जावेगा।

उफ़! मैंने बहुत लिख डाला, परन्तु हृदयका बोझ अभी हल्का नहीं हुआ। कहाँ हमने विचारा था कि किसी बड़े शहरमें रहकर दोनों शिक्षा-विभागमें कार्य करेंगे और कहाँ मुझे चूल्हे-चक्कीसे काम पड़ा! जिन वस्तुओं के सम्बन्धमें मैंने केवल पुस्तकोंमें पढ़ा भर था, आज वही हमारे सरपर पड़ी। मैं शिक्षिता हूँ, परन्तु मुझे रसोई बनानी पड़ती है। माताजी (सासजी) सदा बिगड़ा करती हैं कि मेरे घरमें मेम लाकर डाल दिया। एक दिवस सब कोई मुझसे नाराज थे, मैंने बड़े परिश्रमसे भोजन तैयार किया। दो-तीन सब्जियाँ और खीर बनाई थी, परन्तु किसीने उसकी सराहना न की। मैंने तो खाना छुआ ही नहीं। नौकर भी खाकर हँसने लगा। कहने लगा कि बहूजी, दाल और साग सब मीठे हैं और खीर नमकीन है। आपको नमक और चीनीकी पहचान नहीं। इसमें मेरा क्या कसूर था? डिब्बोंपर 'नमक' और 'चीनी' लिख देना चाहिये था। अस्तु, अब माताजी रसोईके समय सदा सरपर सवार रहती हैं। दिनभर तो काम करती हूँ और रातभर याद करती हूँ। हृदय मेरा भरा हुआ है,

यदि लिखती जाऊँ तो अन्त न होगा। प्राणनाथ, क्षमा करो, शीघ्र दर्शन दो।

आपकी दर्शनाभिलाषिनी

कुसुम।"

प्रालिङ्ग,

पत्र तुम्हारा मिला। इसने बेकली पैदा कर दी। पुराना दृश्य, पुराना जीवन, सब आँखोंके सामने नाचने लगा। कालेजकी पढ़ाई, तुम्हारी याद, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारा वियोग, तुम्हारा मिलन पुनः वियोग सिनेमाके चित्रपटकी तरह दिखाई पड़ रहा है। क्या करूं, विवश हूं। तुलसीदासका ग्यान "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" सत्य ही है। लोग मेरे पदको ईर्षाकी दृष्टिसे देखते हैं, परन्तु मैं जानता हूं कि यह पद कैसा है। एक मिनटका भी समय अपना नहीं है। बोलो तो राजासाहिबके लिये, लिखो तो राजा-साहिबके लिये, सोचो तो राजासाहिबके लिये, चलो तो राजासाहिबके लिये, अर्थात मैं राजासाहिबका एक अंग हूं। मैं उनका मुंह हूँ, हाथ हूँ, जिह्वा हूं। करना तो सब कुछ मुझको ही पड़ता है। मुझे नींद आ रही हो, परन्तु राजासाहिबको जबतक नींद न आवे मैं कह नहीं सकता कि मुझको नींद आ रही है। इस नौकरीमें केवल शरीरहीको नहीं परन्तु अपनी आत्माको भी बेचना पड़ता है। सेक्रेटरी देखता है कि राजासाहिब अनुचित कार्य कर रहे हैं, परन्तु वह बोल नहीं सकता। उसको भी हाँ-में-हाँ मिलानी पड़ती है। यद्यपि मैंने केवल तीन मास ही यह नौकरी की है; परन्तु मुझको इससे घृणा हो गई है। मैं स्वतंत्रता चाहता हूं, परन्तु मैं परतंत्र हूं। मेरी दशा पिंजड़ेमें बन्द नाना भाँतिके बहुमूल्य भोजन पानेवाले पक्षी-की तरह है; परन्तु वह भी मुझसे एक बातमें उत्तम है। उसको तो बोलनेकी स्वतन्त्रता है, परन्तु मुझको वह भी नहीं। मैं शीघ्र ही इस नौकरीको छोड़नेवाला हूं।

'प्रिये, तुमने विलायती' 'मिसों'के सम्बन्धमें लिखा है। वह तो तुम्हारे चरणोंकी धूलकीभी बराबरी नहीं कर सकती। उनमें केवल चमक दमक है, हृदय नहीं। वह तो तितलीके समान हैं। पंखके साथ तितली बड़ी सुंदर दिखलाई पड़ती है। बच्चे पीछा करते हैं। बड़ी कठिनता व परिश्रमसे पकड़ पाते हैं। पकड़ते ही, पंखोंपर हाथ लगते ही, पंख टूट जाते हैं और केवल कीड़ा रह जाता है! बच्चे उस भयानक कीड़ेको देखकर ठुकराए देते हैं। समझदार मनुष्य तितलीको उड़ते हुए केवल देखकर ही प्रसन्न होता है, उसके पीछे दौड़ता नहीं; क्योंकि वह उसकी वास्तविकताको भली भाँति जानती है। विलायती मिसों और हिन्दू रमणियोंमें विलायती तथा हिन्दुस्तानी पुष्पोंका-सा भेद है। विलायती पुष्प देखनेमें सुन्दर परन्तु गन्धरहित होते हैं। इनमें अनेक रंग होते हैं, तड़क-भड़क होती है, जिससे यह साहबोंके बँगलोंकी शोभा बढ़ाते हैं। बहुत हुआ माली उनको तोड़कर गुलदस्ता बनाकर भोजनके कमरेमें अथवा बैठकमें सजा देता है। हिन्दुस्तानी पुष्प बेला, जूही, चमेली, मोतिया आदिका सादा रंग होता है। इनमें विलायती पुष्पोंकी-सी चमक नहीं, रंग नहीं, परन्तु इनमें वह वस्तु है जो उनमें नहीं। इनमें सुगंध है। इनको तोड़कर रूमालमें बाँध लीजिये यह मुरझा जायँगे, नष्ट हो जायँगे; परन्तु अपनेको नष्ट करके भी आपको अपना हृदय, अपना सार दे जायँगे। आपके रूमालमें हफ्तों उनकी खुशबू रहेगी। उनकी स्मृति बनी रहेगी। इनकी स्मृतिको सदाके लिये बनाये रखनेके लिये इनका अर्क (एसेंस) निकाला जाता है। परन्तु विलायती का नहीं। विलायती पुष्प साहब लोगोंके कोटके 'बटन होल' की शोभा बेशक बढ़ा लें, परन्तु हिन्दुस्तानी पुष्प अपने हृदय को छिदाकर मालाके रूपमें हिन्दुस्तानियोंके कंठसे ही लगते हैं और उनके हृदयपर झूलते हैं तथा अपनी सुगन्धिको मस्तिष्कमें पहुँचाते अर्थात् उसके अन्दर और बाहर दोनों स्थानोंको सुख पहुँचाते हैं, उनके शरीर और आत्मा दोनोंको प्रसन्न करते हैं।

प्राणेश्वरी, घबराओ नहीं। मैं शीघ्र ही मिलनेवाला हूँ। तुम्हारा वियोग अब सहा नहीं जाता। यह कष्ट जो हमको प्रतीत होता है, केवल हमारी ही भूल से। हम पूर्वीय होकर पश्चिमी शिक्षा और सभ्यताके फेर-में पड़े हे। तुमने शिक्षा प्राप्त की मेमोंकी स्वच्छंदता प्राप्त करनेके लिये, और मैंने शिक्षा प्राप्त की दासताकी बेड़ीमें जकड़े जानेके लिए, दोनोंकी भूल थी। यह शिक्षा केवल मेमोंके लिये ही उपयुक्त है। उनके पति नौकरी करते हैं और मेमसाहब लोग शिमला, मंसूरी आदि स्थानोंमें गुल-छर्रे उड़ाती फिरती हैं। बच्चे होनेपर धायको सुपुर्द कर दिये जाते हैं। वह अपनी माताके प्रेमको जानते तक नहीं। परन्तु हिन्दुस्तानी स्त्रियोंका स्थान है, अपने पतिके साथ। तुम्हारी भी शिक्षा यदि हिन्दुस्तानी घरके लिये हुई होती तो नमक और चीनीमें फर्क बतलानेके लिए उनको भिन्न-भिन्न डिब्बोंमें नाम लिखकर रखनेकी आवश्यकता नहीं होती। यदि मेरी भी शिक्षा ठीक रूपसे हुई होती तो मैं भी देशकी शिल्पकलाके लिये प्रयत्न करता फिरता न कि अपनी आत्मा बेचकर चार पैसे कमानेके लिये। मुझे खेद है कि हमारे देशवाले इस दशाको नित्य देखते हुए भी हाथ-पर हाथ रखे बैठे हुए हैं और कुछ करते नहीं।

हृदयेश्वरी! कालेजका प्रेम पश्चिमी प्रेम था। वह 'कोर्टशिप' था। पश्चिमी प्रेमका अन्त 'डाइवोर्स' (विच्छेद) में होता है। मेरी आँखें खुल गई हैं। मैं अपने आपको समझ चुका हूँ। मैं इस प्रेमको पश्चिमी प्रेम नहीं बनाना चाहता, जो कि क्षण-भंगुर हो; बल्कि अमर प्रेम बनाना चाहता हू। मुझे आशा है कि तुम भी इसी अमर प्रेमका स्वप्न देखती हो। हमारा पूर्वी प्रेम सदा एक समान रहता है। चाहे दोनों शरीर एक स्थानपर हों अथवा सहस्रों कोसकी दूरीपर हों पर हृदय एक रहता है। देखनेसे, स्पर्श करनेसे, आलिंगनसे प्रेम बाँसों ऊपर नहीं उछलता और नहीं वियोगके समय समुद्रकी पेंदीमें चला जाता है। यह तो भावनाओं और उमंगोंकी दशा होती है। हमारेमें अमर प्रेम है, अविच्चल प्रेम है,

स्थायी प्रेम है और देशीय प्रेम है ।

मैं आशा करता हूँ कि तुम मेरे भावोंको भलीभाँति समझ गई होगी । माताजीकी देख-रेखमें शीघ्र ही आदर्श गृहिणी बन जाओगी । मैं अभी कुछ और लिखता । कितने दिनोंके पश्चात् यह लिखनेके लिये थोड़ा-सा अवकाश मिला है, लेकिन टेलीफोनकी घंटी बज रही है, राजासाहिबको इस एक बजे रातको भी मेरी आवश्यकता पड़ ही गई । हा, ईश्वर ! ...

राजासाहिबके यहाँ तुरन्त आनेकी बुलाहट है । मोटर बाहर खड़ी है । मैं देर नहीं कर सकता । अच्छा प्रिये, तुमको मेरा प्यार, आलिंगन और सबकुछ ।

तुम्हारा---

हृदयेश

प्राणेश्वर,

आपके प्रेम-पत्रने मेरी आँखें खोल दी । प्रेम क्या है, संसार नहीं जानता । वह स्त्रियोंके रंग, रूप, मुस्कान, कटाक्ष, हाव-भावपर ही मुग्ध हो जाता और उनके पीछे दौड़ने लगता है । इसे ही वह प्रेम कहता है । इस नश्वर शरीरके बाहरी ठाट-बाटपर मरनेवाले भला क्या जानें, प्रेम क्या है ? अपनी इन्द्रिय-लोलुपताको ही आजकलके नवयुवक प्रेम कहते हैं ! कालेजों में, विश्वविद्यालयोंमें हमारे युवक प्रेमका अभिनय करते हैं और पवित्र प्रेमको बदनाम करते हैं । आपके पत्रने मेरे दिलमें नवीन शक्ति उत्पन्न कर दी, नवीन-भाव पैदा हो गये और अब मैं नया संसार देख रही हूँ । सारा संसार प्रेममय दिखाई पड़ रहा है ।

आज एक माताजीका बिगड़ना, बकना-झकना मुझको बहुत बुरा ज्ञात होता था, परन्तु मैं समझ गई । यह उनके केवल प्रेमके कारण था । वह मुझको आदर्श बधू देखना चाहती हैं । उनका प्रेम इस बिगड़नेसे ही झलकता है । मैंने गृहस्थीका बहुत सा कार्य सीख लिया है । माताजी भी प्रसन्न रहती हैं ।

मेरे देवता ! आप दर्शन अवश्य दें, परन्तु नौकरी छोड़कर नहीं। इससे पिताजीको दुःख होगा। मैं बड़ी स्वार्थिनी हूं कि आपको आनेके लिये लिखती हू, किन्तु क्या करूँ, हृदय नहीं मानता। आपके दर्शनके लिये हृदय अकुला रहा है। पत्नीका स्थान पतिके चरणोंमें है। मैं आपकी सेवा करके अपना तुच्छ जीवन सार्थक करना चाहती हूँ। आशा है आप इस दासीपर शीघ्र कृपा करेंगे।

चरण-सेविका—
कुसुम

डियर पुष्पा,

तुम्हारे पिताकी तबदीलीने मेरे संसारको अंधेरा कर दिया। भला इन हाकिमोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर भेजकर, उनको सदा 'खानाबदोश' बनाकर सरकारको क्या मजा आता है। जहाँ इन गरीबोंकी जरासी गृहस्थी जमी, कुछ मित्र बने कि सरकारका परवाना आया—तुम तबदील कर दिये गये। बस बाँधो बोरिया-बिस्तर, रवाने हो जाओ। सहस्रों रुपये व्यर्थके टी० ए० (राह खर्च) में इसी प्रकार व्यय होते हैं परन्तु बेकारी दूर करनेके लिये सरकारके पास पैसे नहीं। पैसेका सवाल करो तो तुम्हारे ऊपर टैक्सका बोझ लाद दिया जावेगा।

डार्लिंग, मैं तो अपने सूने संसारका जिक्र कर रहा था, परन्तु इस सरकारने बीचमें कहाँसे टाँग अड़ा दी ? तुम भी कहोगी कि कैसा पागल है। प्रेमकी बातें करता करता राष्ट्रीयता दिखलाने लगता है। परन्तु पुष्पे, जो हृदयमें रहता है निकल ही पड़ता है। हमारा तुम्हारा परिचय जब इसी राष्ट्रीय कार्यके सिलसिलेमें हुआ तो यह कीड़ा मेरे मस्तिष्कसे किस प्रकार निकल जाय ? जब मैं बाँधकर कैदीकी भाँति तुम्हारे पिताके सामने उपस्थित किया गया तो तुमने दया की। मुझ प्याससे तड़पतेको जल पिलाया। उस जलकी तृष्णाको शान्त करके दूसरी तृष्णा आरम्भ

कर दी। तुमने मुझको जल देकर मेरे हृदयको कदाचित् बाहरी रूपसे शान्त किया हो; परन्तु उसमें उसी समय दूसरी ज्वाला उत्पन्न हो गई। वह ज्वाला जलसे शान्त होनेवाली न थी, न है। तुम्हारे उस जलने मेरे सूखते हुए हृदयके पौदको हरा कर दिया। पुष्प तो तुम्हारा नाम व्यर्थ रखा गया है। तुम वास्तवमें माली हो।

जबतक तुम यहाँपर थीं, दिनमें एक बार तो दर्शन अवश्य ही हो जाते थे। इसीके लिये मैं सदा अपनी कोठरीमें बँगले के सामने बैठकर बाहरी रूपसे पुस्तकोंका ध्यान करता, परन्तु अन्दर तो तुम्हारा ध्यान रहता। पुष्प, जिस समय स्कूलके लिये तुम निकलती तो एक बार मेरी खिड़कीकी ओर देखकर मुस्करा देती! उस समय मेरी हृदय-वाटिकाके सब पुष्प खिल उठते। परन्तु अब तो तुम्हारे चली जानेसे यह वाटिका सूख चली है। जिस बागका माली न होगा वह बाग भला कबतक हरा-भरा रहेगा? हाय! जिस दिलमें पुष्प ही पुष्प था वहाँपर अब सिर्फ काँटे ही रह गये।

पढ़ाई समाप्त हो चुकी है। कालेज बन्द है, परन्तु तथापि मेरा स्थान अपनी खिड़कीपर ही है। मैं जानता हूँ कि तुम अब उस बँगलेमें नहीं हो और न ही इस खिड़कीसे तुम्हारे दर्शन हो सकते हैं। परन्तु हृदय नहीं मानता। खैंचकर उसी स्थानपर ले जाता है। दिलमें आया था कि किसी बहानेसे तुम्हारे यहाँ आऊँ; पर कोई बहाना ही नहीं मिलता। मैं जानता हूँ कि हमारा तुम्हारा संबंध असम्भव है; परन्तु क्या करूँ, हृदय नहीं मानता। देखो कोई बहाना ढूँढ़ता हूँ। न होगा तो कालेजके लिये चन्दाके ही बहाने वहाँ पहुँचूँगा, परन्तु एक बार तुम्हारे दर्शन अवश्य करूँगा।

तुम्हारा—
प्रकाश

डियर प्रकाश,

पत्र तुम्हारा मिला। तुम बड़ी धृष्टता करोगे, यदि यहाँपर किसी बहाने आओगे। तुम मेरा ध्यान छोड़ दो। मेरी शादी अब तय हो चुकी है और कुछ दिनोंमें शादी हो जायगी। मैं किसी दूसरेके घर चली जाऊँगी। वही मेरा पति होगा। धर्मके अनुसार हमको उनके सिवा और किसीका चिन्तन न करना चाहिये। यह मैं जानती हूँ कि तुम मुझसे प्रेम करते हो और मैं भी इस पथपर कुछ अग्रसर हुई थी, परन्तु वह सब बचपनका खेल था।

प्रकाशका कार्य है तिमिरको दूर करना। प्रकाश, तुम मेरे पथ-प्रदर्शक बनो। मुझे अपने सच्चे मार्गपर जाने दो। मैं जानती हूँ कि मैंने बड़ी भारी भूल की कि तुम्हारे प्रेमको बढ़नेका समय दिया, आशा दी; पर मैं परतन्त्र हूँ। भारतकी लड़कियाँ सदा परतन्त्र हैं। उनका भविष्य उनके माता-पिताके हाथमें है। चाहे वह डुबा दें अथवा उबार लें। बस, मैं तुम्हें भाई प्रकाशके सिवा और कुछ नहीं कह सकती। क्षमा करना, इस समाचारसे तुम्हारे हृदयको कष्ट पहुँचेगा, परन्तु मैं क्या करूँ, परवश हूँ। आशा है तुम मुझे धर्म-पथपर चलनेके लिये दृढ़ करोगे और इस कार्यमें सहायता ही दोगे।

अनुगृहीता—
पुष्पा

पुष्पे,

पत्र तुम्हारा मिला। हृदयको पत्थर बनाकर पढ़ा। मुझको जो आघात पहुँचा है, तुम स्वयं ही समझ सकती हो। मैं तुमको पथ-भ्रष्ट करना नहीं चाहता। ईश्वर तुमको सदा सुखी रखे। तुम्हारे सुखमें मेरा सुख है। मैं तुम्हारे रास्तेमें कभी न आऊँगा। मैं अब देशभ्रमणको निकलता हूँ। देशसेवामें प्राण-अर्पण कर दूँगा। ईश्वर जो करता है भला ही

करता है। मेरी देश-सेवामें एक यही काँटा था, वह भी निकल गया। मैंने जो कुछ धृष्टता की थी, उसके लिये क्षमा चाहता हूँ।

तुम्हारा—

प्रकाश

पत्र-पुष्पांजलि

[रचयिता—श्री रामचन्द्रजी शुक्ल 'सरस']

सिद्धि श्रीयुत ! जोग लिखी गोकुल ते प्यारे !
राम राम बंचने श्याम ! गोपाल ! मुरारे !!
कृपा रावरी सौं इतै, सब विधि सब आनन्द !
रहौ द्वारिका मैं सदा, सकुशल हे व्रज-चन्द—
—मनावे राधिका ॥ १ ॥

अहो भाग्य है आज, रावरी पाती पाई !
कैसे हूँ तो भला सुरति, हमरी हू आई !!
लिख्यौ कि जो अवकास कछु, मिलै न पाती हेत !
तातैं जनि जानौ घट्यो हमरे हिय तें हेत—
—सत्य यदुराज सो ॥ २ ॥

लिख्यौ कि रहि-रहि सुरति तिहारी हमको आवै !
कैसे हू कहुँ कबौं चैन हित चपल न पावै !!
करि सुधि हमरी होत जो, हिय रावरो बिहाल !
फिर-फिर विनती करि कहौं, इतनी रसिक रसाल—
—बिसारौ तौ हढ हमें ॥ ३ ॥

रहो जौन विधि सुखी, श्यामजू सोई कीजै !
सुनि-सुनि तुमको सुखी, दुखी हम तौ हू जी जै !!
विरह-व्यथा वैसेहि दहै, सुनि पुनि तुम्हैं बिहाल !
होत हाल जो, का कहैं, जानत तुम गोपाल—
—व्यवस्था प्रेम की ॥ ४ ॥

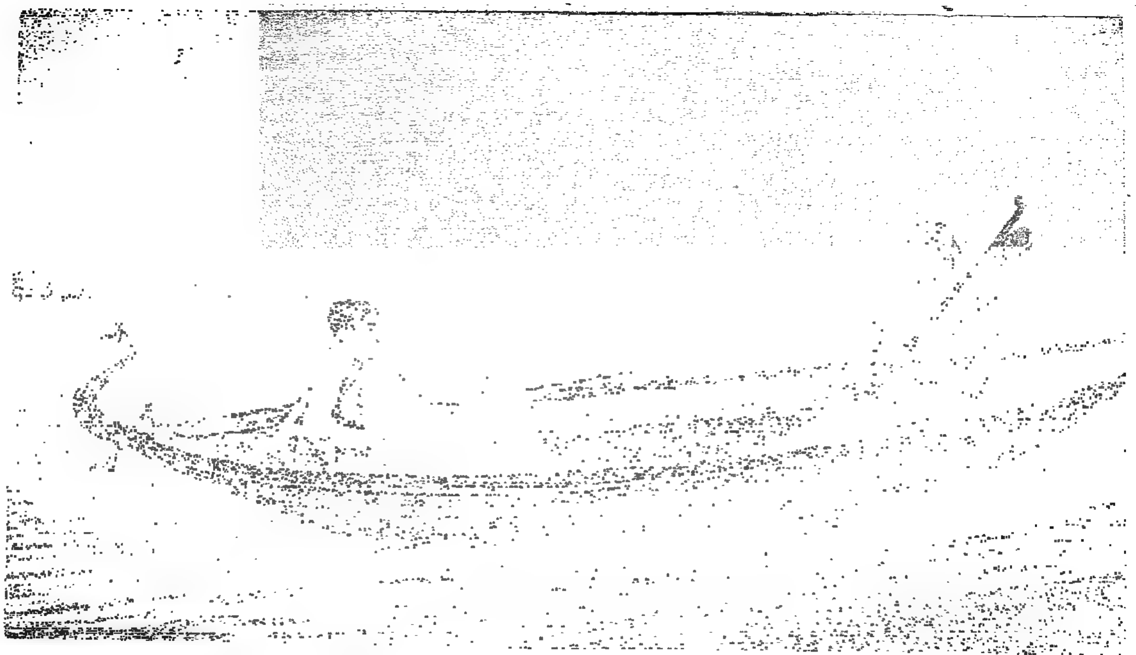
लखि निज हिय में तुम्हैं विलोचन को सुख लेतीं !
तब सुगना सों बोलि, खोय रसना दुख देतीं !!
रहो सहो सब दुरत दुख, लहि रावरो सँदेश !
जानि परै नहिं नेक हू, हौ तुम बसे बिदेश—
—मुदित यातैं हियो ॥ ५ ॥

हम सपनेमें नित्त श्याम तुम सौं मिलि लेतीं !
[illegible] लगीं कलियाँ खिलि लेतीं !!
[illegible], जहँ कदम्ब कल कुञ्ज !
नित सुनि लेतीं बैठि कै, वह मुरली की गुञ्ज—
—मधुर 'कानन' बसी ॥ ६ ॥

इतनी चिन्ता तजो, सौंह है तुम्हैं हमारी !
मुदित रहो तुम नित्त, चित्त में विपिन-बिहारी !!
हैं तुममें, तुम बसत हौ, हमरे हिये हमेस !
और अधिक अब का लिखैं दरस आस प्रानेस—
—शान्ति अब इति शुभम् ॥ ७ ॥

* * *

कृष्ण पक्ष शुभ दुइज दिन, मङ्गल है मधु मास !
दिव्य द्वारिका-नगर में, पहुँचै श्रीहरि पास—
—पत्रिका प्रेम की ॥ ८ ॥



बजड़ेमें बैठकर जल-विहार करते हुए श्रीशंकर कविता-काननका रसास्वादन कर रहे हैं।

वैयाकरण

दम्पतिका पत्र-व्योहार

प्रणयदूत—सुप्रसिद्ध विनोदी लेखक और आलोचक
साहित्यभूषण स्वर्गीय श्री पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी

प्रणयिनीका पत्र

प्रियवर, प्रियतर, प्रियतम प्यारे !
फागुनमें क्यों बैठे न्यारे ?

हम-तुममें कब सन्धी ह्वैहै ?
शुद्धरूप हमरो है कैहै ?

हम प्रत्यय तुम धातु विलच्छन,
तुमसों मिलि सफल मम जीवन।

हम व्यञ्जन तुम स्वर स्वाधीन,
तुम बिन हम हैं अति ही दीन।

अलङ्कार तुम कविता हम हैं,
बिना तुम्हारे हम बेदम हैं।

अपादान कारक नहिं चहिये,
द्वन्द्व समास यहाँ बनि रहिये।

करहु क्रिया कछु कर्त्ता होई,
जासों कर्म्म प्रगट हो कोई।

“स्यति स्यतः” कब होइहै दूर,
“तिप तस्”को चलिहै दस्तूर।

भयो यहाँ पै छन्दोभंग,
करो आय शोभनको ढंग।

तुम्हारी—भगवती।

प्रणयीका उत्तर

हे भगवती ! प्रानकी प्यारी,
पायी चिट्ठी आज तुम्हारी।
पाती पढ़ी तुम्हारी जा छन,
भूले सकल लिङ्ग अनुशासन।

पुनि पुनि कोष निहार्यो जाई,
अर्थ भाव तब पर्यो लखाई।
तुम अधिकरन रूप हो प्यारी,
हमें भरोसा तुम्हरो भारी।

हे हलन्त तुम्हरे बिन प्यारी,
दिन दिन बाढ़त व्यथा हमारी।
याद तुम्हारी जब ही आवे,
हमको लुप्ताकार बनावे।

सहि नहिं सकत सन्धि विच्छेदन,
[illegible] परयोजन।
[illegible] निकालत,
विरह व्यथा तुम्हरी है सालत।

बिन्दु विसर्ग तनिक नहिं जानत,
[illegible]
[illegible]
[illegible]

तुम्हारा—[illegible]

देवदासी

[ले० स्वर्गीय श्री जयशंकर 'प्रसाद']

'..........'

१—३—२५

प्रिय रमेश !

परदेशमें किसी अपनेसे घर लौट आनेका अनुरोध बड़ी सान्त्वना देता है, परन्तु अब तुम्हारा मुझे बुलाना एक अभिनय-सा है। हाँ, मैं कल्पना करता हूँ, जानते हो क्यों ? मैं झगड़ना चाहता हूँ; क्योंकि संसारमें अब मेरा कोई नहीं है। मैं उपेक्षित हूँ। सहसा अपनेकासा स्वर सुनकर मनमें क्षोभ होता है। अब मेरा घर लौटकर आना अनिश्चित है। मैंने '...... ' के हिन्दी-प्रचार-कार्यालयमें नौकरी कर ली है। तुम तो जानते ही हो कि मेरे लिए प्रयाग और '...... ...' बराबर है। अब अशोक विदेशमें भूखा न रहेगा ! मैं पुस्तक बेचता हूँ।

यह तुम्हारा लिखना ठीक है कि एक आनेका टिकट लगाकर पत्र भेजना मुझे अखरता है, पर तुम्हारे गाल यदि मेरे समीप होते तो उनपर पाँचों नहीं तो मेरी तीन उँगलियाँ अपना चिह्न अवश्य बना ही देतीं। तुम्हारा इतना साहस ! मुझे लिखते हो कि बेयरिंग पत्र भेज दिया करो ! ये सब गुण मुझमें होते तो मैं भी तुम्हारी तरह ...... प्रेसके प्रूफ-रीडर का काम करता होता। सावधान ! अब कभी ऐसा लिखोगे तो मैं उत्तर भी न दूँगा।

लल्लूको मेरी ओरसे प्यार कर लेना, उससे कह देना कि पेटसे बचा सकूँगा, तो एक रेलगाड़ी भेजूँगा।

यद्यपि अपनी यात्राका समाचार बराबर लिखकर मैं तुम्हारा मनोरञ्जन न कर सकूँगा, तो भी सुन लो '.........' में एक बड़ा पर्व है, वहाँ '.........' का देव-मन्दिर बड़ा प्रसिद्ध है। तुम तो जानते होगे कि दक्षिण में कैसे-कैसे दर्शनीय देवालय हैं, उनमें भी यह प्रधान है। मैं वहाँ कार्यालय की पुस्तकें बेचनेके लिए जा रहा हूँ।

तुम्हारा—

अशोक।

पुनश्चः—

मुझे विश्वास है कि मेरा पता जाननेके लिए कोई उत्सुक न होगा। फिर भी सावधान! किसीपर प्रकट न करना।

---

[२]

'.........'

१०—२—२५

प्रिय रमेश!

रहा नहीं गया, लो सुनो! मन्दिर देखकर हृदय प्रसन्न हो गया। ऊँचा गोपुरम्, सुदृढ़ प्राचीर, चौड़ी परिक्रमाएँ और विशाल सभा-मण्डप भारतीय स्थापत्यकला के चूड़ान्त निदर्शन हैं। यह देव-मन्दिर हृदयपर गम्भीर प्रभाव डालता है। हम जानते हैं कि तुम्हारे मनमें यहाँके पण्डोंके लिए प्रश्न होगा। फिर भी उत्तरीय भारतसे वे बुरे नहीं हैं। पूजा और आध्यात्मिक [illegible] प्रभावशाली वातावरण [illegible]

मैं कभी-कभी [illegible] देखता हूँ [illegible] जिस [illegible] प्राचीन भारतीय संस्कृतिकी [illegible] शक्तिकी अपनी महत्ता, सौन्दर्य और ऐश्वर्यके [illegible] आती थी। तुमसे कहूँगा कि कभी [illegible]

सको तो एक बार दक्षिणके मन्दिरोंको अवश्य देखना। देव-दर्शनकी कला यहाँ देखनेमें आती है। एक बात और है, मैं अभी बहुत दिनोंतक यहाँ रहूँगा। मैं यहाँकी भाषा भलीभाँति बोल लेता हूँ। मुझे परिक्रमाके भीतर ही एक कोठरी संयोगसे मिल गई है। पासमें ही एक कुआँ भी है। मुझे प्रसाद भी मन्दिरसे ही मिलता है। मैं बड़े चैनसे हूं। यहाँ पुस्तकें बेच भी लेता हूँ। सुन्दर चित्रोंके लिये पुस्तकोंकी अच्छी बिक्री हो जाती है। गोपुरम्के पासहीमें दूकान फैला देता हूँ और महिलाएँ मुझसे पुस्तकोंका विवरण पूछती हैं। मुझे समझानेमें बड़ा आनन्द आता है। पास ही बड़े सुन्दर-सुन्दर दृश्य हैं। नदी, पहाड़ और जंगल—सभी तो हैं। मैं कभी-कभी घूमने भी चला जाता हूँ। परन्तु उत्तरीय भारतके समान यहाँके देव-विग्रहोंके समीप हमलोग नहीं जा सकते। दूरसे ही दीपालोकमें उस अचल मूर्तिकी झाँकी हो जाती है। यहाँ मन्दिरोंमें संगीत और नृत्यका भी आनन्द रहता है। बड़ी चहल-पहल है। आजकल तो यात्रियोंके कारण और भी सुंदर-सुन्दर प्रदर्शन होते हैं।

तुम जानते हो कि मैं अपना पत्र इतना सविस्तार क्यों लिख रहा हूँ? तुम्हारे कृपण और संकुचित हृदयमें उत्कण्ठा बढ़ानेके लिये। मुझे इतना ही सुख सही।

तुम्हारा—
अशोक।

---

[३]

....
१७-३-२५

प्रिय रमेश!

समयको उलाहना देनेकी प्राचीन प्रथाको मैं अच्छी नहीं समझता। इसलिए जब यह शुष्क मांसपेशी अलग दिखलानेवाला, नोंकी नहीं...

अपना शरीर लठियाके बलपर टेकता हुआ, चिदम्बरम् नामका पण्डा मेरे समीप बैठकर; अपनी भाषामें उपदेश देने लगता है, तो मैं घबरा जाता हूँ। वह समयका एक दुर्दश्य चित्र खींचकर, अभाव और आपदाओंका उल्लेख करके विभीषिका उत्पन्न करता है। मैं उनसे मुक्त हूँ! भोजनमात्रके लिए अर्जन करके सन्तुष्ट घूमता हूँ---सोता हूँ! मुझे समयकी क्या चिंता? पर मैं यह जानता हूँ कि वही मेरा सहायक है---मित्र है। इतनी आत्मीयता दिखलाता है कि मैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। अहा! एक बात तो लिखना मैं भूल ही गया था। उसे मैं अवश्य लिखूँगा क्योंकि तुम्हारे सुने बिना मेरा सुख अधूरा रहेगा। मेरे सुखको मैं ही जानूँ। तब उसमें धरा ही क्या है, जब तुम्हें उसकी डाह न हो! तो सुनोः---

सभा-मण्डपके शिल्प-रचनापूर्ण स्तम्भसे टिकी हुई एक उज्ज्वल श्याम वर्णकी बालिकाको अपनी पतली बाहु-लतासे एक बुदनेको छातीसे लगाए प्रायः बैठी हुई देखता हूँ। स्वर्ण-मल्लिकाकी माला उसके जूड़े लगी रहती है। प्रायः वह कुसुमाभरण-भूषिता रहती है। उसे देखनेका मुझे चसका लग गया है। वह मुझसे हिन्दी सीखना चाहती है। मैं तुमसे पूछता हूँ कि उसे पढ़ाना आरम्भ कर दूँ? उसका नाम है पद्मा, चिदम्बरम् और पद्मासे [illegible]। पर न-जाने क्यों [illegible]। मेरी बातें सुनते-न [illegible], और मैं प्रायः आधी बात कहते-कहते [illegible] रहा हूँ। इसका अनुभव मुझे तब होता है, जब मेरे दृष्टि-पथसे वह हट जाती है। [illegible] कविता करनेकी इच्छा होती है, यह [illegible] सौन्दर्य [illegible] अभागे अशोक [illegible] देखा! पर मैं सच कहता हूँ, उसे देखने [illegible] अनन्त [illegible]शाली हो जाता हूँ।

हाँ, वह मन्दिरमें नाचती और गाती है। और भी बहुत-सी हैं, पर मैं कहूँगा वैसी एक भी नहीं। जो लोग उसे देवदासी पद्मा कहते हैं, वे अधम हैं। वह देवबाला पद्मा है।

वही—
अशोक

---

[४]

(.........)

२८-२-२५

प्रिय रमेश !

तुम्हारा उलहना निस्सार है। मैं इस समय केवल पद्माको समझ सकता हूँ। फिर अपने या तुम्हारे कुशल-मङ्गलकी चर्चा क्यों करूँ? तुम उसका रूपसौन्दर्य पूछते हो। मैं उसका विवरण देनेमें असमर्थ हूँ। हृदयमें उपमाएँ नाचकर चली जाती हैं, ठहरने नहीं पातीं कि मैं उन्हें लिपिबद्ध करूँ। वह एक ज्योति है, जो अपनी महत्ता और आलोकमें अपना अवयव छिपाए रखती है, केवल तरल, नील, शुभ्र और करुण आँखें मेरी आँखोंसे मिल जाती हैं। मेरी आँखोंमें श्यामा कादम्बिनीकी शीतलता छा जाती है, और संसारके अत्याचारोंसे निराश इस झँझरीदार कलेजेके वातायनसे वह स्निग्ध मलयानिलके झोंकेकी तरह घुस आती है। एक दिनकी घटना लिखे बिना नहीं रहा जाता।

मैं अपनी पुस्तकोंकी दूकान फैलाए बैठा था। गोपुरमके समीप ही वह कहींसे झपटी हुई चली आती थी। दूसरी ओरसे एक युवक उसके सामने आ खड़ा हुआ। वह युवक मन्दिरका कृपा-भाजन एक धनी दर्शनार्थी था। यह बात उसके कानोंके चमकते हुए हीरेके टैपसे प्रकट थी। वह बेरोक-टोक मन्दिरमें चाहे जहाँ आता-जाता है। मन्दिरमें उससे लोगोंको प्रायः कुछ मिलता है। सब उसका सम्मान करते हैं। उसे सामने

देखकर पद्माको खड़ी होना पड़ा। उसने बड़ी नीच मुखाकृतिसे कुछ बातें कहीं, पद्मा कुछ न बोली। फिर उसने स्पष्ट शब्दोंमें रात्रिको अपने मिलनेका स्थान निर्देश किया। पद्माने कहा—'मैं नहीं आ सकूँगी।' वह लाल-पीला होकर बकने लगा। मेरे मनमें क्रोधका धक्का लगा। मैं उठकर उसके पास चला आया। वह मुझे देखकर हटा तो, पर कहता गया कि 'अच्छा देख लूँगा।'

उस नील-कमलसे मकरन्द-बिन्दु टपक रहे थे! मेरी इच्छा हुई कि वे मोती बटोर लूँ। पहली बार मैंने उन कपोलोंपर हाथ लगाकर उन्हें लेना चाहा। आह! उन्होंने वर्षा कर दी। मैंने पूछा—उससे तुम इतना भयभीत क्यों हो?

"मन्दिरमें दर्शन करनेवालोंका मनोरञ्जन करना मेरा कर्त्तव्य है। मैं देवदासी हूं।"—उसने कहा।

"यह तो बड़ा अत्याचार है। तुम क्यों यहाँ रहकर अपनेको अपमानित करती हो।"—मैंने कहा।

"कहाँ जाऊँ, मैं देवताके लिए उत्सर्ग कर दी गई हूँ।"—उसने कहा।

"नहीं-नहीं, देवता तो क्या, राक्षस भी मानव-स्वभावकी बलि नहीं लेता, वह तो रक्त-मांससे ही सन्तुष्ट हो जाता है। तुम अपनी आत्मा और अन्तःकरणकी बलि क्यों करती हो?"—मैंने कहा।

"ऐसा न कहो, पाप होगा; देवता रुष्ट होंगे"—उसने कहा।

"पापोंका देवता खोजो, मनुष्यके पास कुछ पुण्य भी है पद्मा! तुम उसे क्यों नहीं खोजती हो? पापोंका न करना ही पुण्य नहीं। तुम अपनी आत्माकी अधिकारिणी हो; अपने हृदयकी तथा शरीरकी सम्पूर्ण स्वामिनी हो, मत डरो। मैं कहता हूं कि इससे देवता प्रसन्न होंगे। आशीर्वादोंकी वर्षा होगी।" मैंने एक साँसमें कहकर देखा कि उसके मस्तकमें उज्ज्वलता आ गई है। वह एक स्फूर्तिका अनुभव करने लगी है। उसने कहा—अच्छा, तो फिर मिलूँगी।

वह चली गई। मैंने देखा कि बूढ़ा चिदम्बरम् मेरे पीछे खड़ा मुस्करा रहा है। मुझे क्रोध भी आया, पर कुछ न बोलकर मैंने पुस्तक बटोरना आरम्भ किया।

तुम कुछ अपनी सम्मति दोगे?

अशोक

---

[५]

'............'

१-४-२५

रमेश!

कल संगीत हो रहा था। मन्दिर आलोक-मालासे सुसज्जित था। नृत्य करती हुई पद्मा गा रही थी :—

"नाम समेतं कृत संकेतं वादयते मृदु वेणु......ओह! वे संकेत मदिरा की लहरें थीं। मैं उसमें उभचुभ होने लगा। उसकी कुसुम-आभरणसे भूषित अंग-लताके सञ्चालनसे वायुमण्डल सौरभसे भर जाता था। वह विवश थी, जैसे कुसुमिता लता तीव्र पवनके झोंकेसे। रागोंके स्वरका स्पन्दन उसके अभिनयमें था। लोग उसे विस्मय-विमुग्ध देखते थे। पर न-जाने क्यों मेरे मनमें उद्वेग हुआ, मैं जाकर अपनी कोठरीमें पड़ रहा। आज कार्यालयसे लौट आनेके लिए पत्र आया था। उसीको विचारता हुआ कबतक आँखें बन्द किए पड़ा रहा, मुझे विदित नहीं। सहसा सायँ-सायँ, [illegible] सुनाई पड़ा, मैं ध्यान लगाकर सुनने लगा।

[illegible] गया कि दो व्यक्ति बातें कर रहे थे—चिदम्बरम् और रामस्वामी नामका वही धनी युवक। मैं मनोयोगसे सुनने लगा।

चिदम्बरम्—तुमने आजतक उसकी इच्छाके विरुद्ध बड़े अत्याचार किए हैं, अब जब वह नहीं चाहती तो तुम उसे क्यों सताते हो?

रामस्वामी—सुनो चिदम्बरम्, सुन्दरियोंकी कमी नहीं, पर न-जाने

क्यों मेरा हृदय उसे छोड़कर दूसरी ओर नहीं जाता। वह इतनी निरीह है कि उसे मसलनेमें आनन्द आता है। एक बार उससे कह दो कि मेरी बातें सुन ले, फिर जो चाहे, करे।

चिदम्बरम् चला गया और बातें बन्द हुईं। और सच कहता हूँ, मन्दिरसे मेरा मन प्रतिकूल होने लगा। पैरोंके शब्द हुए, वही जैसे रोती हुई बोली—'रामस्वामी, मुझपर दया न करोगे?' ओह! कितनी वेदना थी उसके शब्दोंमें! परन्तु रामस्वामीके हृदयमें तीव्र ज्वाला जल रही थी। उसके वाक्योंमें लू जैसी झुलस थी। उसने कहा—पद्मा! यदि तुम मेरे हृदयकी ज्वाला समझ सकती तो तुम ऐसा न कहती। मेरे हृदयकी तुम अधिष्ठात्री हो, तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता। चलो, मैं देवताका कोप सहनेके लिए प्रस्तुत हूँ, मैं तुम्हें लेकर कहीं चल चलूँगा।

'देवताका निर्माल्य तुमने दूषित कर दिया है, पहले इसका तो प्रायश्चित्त करो। मुझे केवल देवताके चरणोंमें मुरझाए हुए फूलके समान गिर जाने दो! रामस्वामी, ऐसा स्मरण होता है कि मैं भी तुम्हें चाहने लगी थी। उस समय मेरे मनमें यह विश्वास था कि देवता यदि पत्थरके न होंगे तो समझेंगे कि यह मेरे मांसल यौवन और रक्तपूर्ण हृदयकी साधारण आवश्यकता है। मुझे [illegible] देंगे, परन्तु मैं यदि वैसा पुण्य परिणय कर सकती! आह! [illegible] समान हृदयमें इतना सौन्दर्य लेकर क्यों अतिथि हुए? रामस्वामी, तुम मेरे दुखोंके मेघमें वज्रपात थे।'

पद्मा रो रही थी। सन्नाटा हो गया। सहसा जाते-जाते रामस्वामीने कहा—'मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता!' रमेश! मैं भी पद्माके बिना नहीं रह सकता। मैंने भी कार्यालयमें त्यागपत्र [illegible] मरूँगा, पर उपाय क्या है?

—अभागा अशोक

---

[६]

(..........)

२-४-२५

रमेश !

मैं बड़ा विचलित हो रहा हूँ। एक कराल छाया मेरे जीवनपर पड़ रही है ! अदृष्ट मुझे अज्ञात पथपर खींच रहा है, परन्तु तुमको लिखे बिना रह नहीं सकता।

मधुमास, जंगली फूलोंकी भीनी भीनी महक सरिताके कूलकी शैल-मालाको आलिङ्गन दे रही थी। मक्खियोंकी भन्नाहटका कलनाद गुञ्जरित हो रहा था। नवीन पल्लवोंके कोमल स्पर्शसे बनस्थली पुलकित थी। मैं जंगली जर्द चमेलीके अकृत्रिम कुञ्जके अन्तरालमें बैठा नीचे बहती हुई नदीके जलके साथ बसन्तकी धूपका खेल देख रहा था। हृदयमें आशा थी। अहा ! वह अपने तुहिन-जालसे रत्नाकरके सब रत्नोंको आकाशके सब मुक्ताओंको निकाल, खींचकर मेरे चरणोंमें उझल देती थी। प्रभातकी पीली किरणोंसे हेम-गिरिको घसीट ले आती थी; और ले आती थी—पद्माकी मौन-प्रणय-स्वीकृति। मैं भी आज बन-यात्राके उत्सवमें देवताके भोग-विग्रहके साथ इस बनस्थली में आया था। बहुतसे नागरिक भी आए थे। देव-विग्रह विशाल वट-वृक्षके नीचे स्थित हुआ और यात्री-दल इधर-उधर नदी-तटकी नीची शैल-माला, कुञ्जों, गह्वरों और घाटियोंकी हरियाली में छिप गया। लोग आमोद-प्रमोद, पान-भोजनमें लग गए। हरियालीके भीतरसे कहीं पिकलू, कहीं क्लॉरनेट और देवदासियोंके कोकिल-कण्ठका सुन्दर स्वर निकलने लगा। वह कानन नन्दन हो रहा था और मैं उसमें विचरनेवाला एक देवता। क्यों ? मेरा विश्वास था कि देवबाला पद्मा यहीं है। वह भी देव-विग्रहके आगे-आगे नृत्य-गान करती हुई आई थी।

मैं सोचने लगा—'अहा ! वह समय भी आएगा, जब मैं पद्माके साथ एकान्तमें इस काननमें विचरूँगा। वह पवित्र, वह मेरे जीवनका महत्तम

योग कब आएगा ?' आशाने कहा—'उसे आया ही समझो।' मैं मस्त होकर बंसी बजाने लगा। आज मेरी बाँसकी बाँसुरीमें बड़ा उन्माद था। बंसी नहीं, मेरा हृदय बज रहा था। चिदम्बरम् आकर मेरे सामने खड़ा हो गया। वह भी मुग्ध था। उसने कभी मेरी बाँसुरी नहीं सुनी थी। जब मैंने अपनी आसावरी बन्द की, वह बोल उठा—'अशोक तुम एक कुशल कलावन्त हो।' कहना न होगा कि वह देवदासियोंका सङ्गीत-शिक्षक भी था। वह चला गया और थोड़ी ही देरमें पद्माको साथ लिए आया। उसके हाथोंमें भोजनका सामान भी था। पद्माको उसने उत्तेजित कर दिया था। वह आते ही बोली—'मुझे भी सुनाओ।' जैसे मैं स्वप्न देखने लगा। पद्मा और मुझसे अनुनय करे! मैंने कहा—'बैठ जाओ।' और जब वह कुसुम-कङ्कण मण्डित करोंपर कपोल धरकर मल्लिकाकी छायामें आ बैठी तो मैं बजाने लगा। रमेश, मैंने बंसी नहीं बजाई। सच कहता हूँ, मैं अपनी वेदना श्वासोंसे निकाल रहा था। इतनी करुण, इतनी स्निग्ध, मैं तानें ले-लेकर उसमें स्वयं पागल हो जाता था, मेरी आँखोंमें मद-विकार था, मुझे उस समय अपनी पलकें बोझ मालूम होती थीं!

बाँसुरी रखनेपर भी उसकी प्रतिध्वनिका सोहाग वन लक्ष्मीके चारों ओर घूम रहा था। पद्माने कहा—'सुन्दर! तुम सचमुच अशोक हो।' वन-लक्ष्मी पद्मा अचल थी। मुझे एक कविता सूझी। मैंने कहा—पद्मा! मैं कठोर पृथ्वीका अशोक, तुम तरल जलकी पद्मा! भला अशोकके राग-रक्तके नवपल्लवोंमें पद्माका विकास कैसे होगा?

बहुत दिनोंपर पद्मा हँस पड़ी। उसने कहा—'अशोक! तुमलोगों की वचन-चातुरी सीखूँगी। कुछ खा लो।' वह देती गई, मैं खाता गया। जब हम स्वस्थ होकर बैठे तो देखा, चिदम्बरम् चला गया है। पद्मा नीचे सिर किए अपने नखोंकी खुरच रही है। हमलोग सबसे ऊँचे कगारेपर थे। नदीकी ओर ढालुआँ पहाड़ी करारा था। मेरे सामने संसार एक हरियाली था। सहसा रामस्वामीने आकर कहा—'पद्मा! आज मुझे

मालूम हुआ कि तुम इस उत्तरी दरिद्रपर मरती हो। पद्माने छलछलाई आँखोंसे उसकी ओर देखकर कहा—रामस्वामी! तुम्हारे अत्याचारोंका कहीं अन्त है?

"सो नहीं हो सकता। उठो, अभी मेरे साथ चलो।"

"ओह! नहीं, तुम क्या मेरी हत्या करोगे? मुझे भय लगता है।"

"मैं कुछ नहीं करूँगा। चलो, मैं इसके साथ तुम्हें नहीं देख सकता।" कहकर उसने पद्माका हाथ पकड़कर घसीटा। वह कातर-दृष्टिसे मुझे देखने लगी। उस दृष्टिमें जीवनभरके किए गए अत्याचारोंका विवरण था। उन्मत्त पिशाच-सदृश बलसे मैंने रामस्वामीको धक्का दिया। और मैंने हतबुद्धि होकर देखा, वह तीन सौ फीट नीचे चूर होता हुआ नदीके प्रखर स्रोतमें जा गिरा, यद्यपि मेरी वैसी इच्छा न थी। पद्माने मेरी ओर भयपूर्ण नेत्रोंसे देखा और मैं अवाक्! उसी समय चिदम्बरमने आकर मेरा हाथ पकड़ लिया। पद्मासे कहा—तुम शीघ्र देवदासियोंमें जाकर मिलो। सावधान! एक शब्द भी मुँहसे न निकले। मैं अशोकको लेकर नगरकी ओर जाता हूँ।' वह बिना उत्तरकी प्रतीक्षा किए मुझे घसीटता ले चला। मैं नहीं जानता कि मैं कैसे घर पहुँचा। मैं कोठरीमें अचेत पड़ रहा। रातभर वैसे ही रहा। प्रभात होते ही तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ। मैंने क्या किया? रमेश! तुम कुछ लिखो, मैं क्या करूँ?

—अधम अशोक

---

[७]

८-४-२५

प्रिय रमेश!

तुम्हारा यह लिखना कि 'सावधान बनो! पत्रमें ऐसी बातें अब न लिखना! व्यर्थ है। मुझे भय नहीं, प्राणकी चिन्ता नहीं।

नगरभरमें केवल यही जनश्रुति फैली है कि 'रामस्वामी उस दिनसे कहीं चला गया है और वह पद्माके प्रेमसे हताश हो गया था।' मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हूँ। चिदम्बरम् मुझे दो मुट्ठी भात खिलाता है। मैं मन्दिरके विशाल प्राङ्गणमें कहीं-न-कहीं बैठा रहता हूँ। चिदम्बरम् जैसे मेरा उस जन्मका पिता है। परन्तु पद्मा। अहा! उसी दिनसे मैंने उसको गाते और नाचते नहीं देखा। वह प्रायः सभा-मण्डपके स्तम्भसे टिकी हुई, दोनों हाथोंमें अपने एक घुटनेको छातीसे लगाए अर्द्ध-स्वप्नावस्थामें बैठी रहती है। उसका मुख विवर्ण, शरीर शीर्ण, पलक अपाङ्ग और उसके श्वासमें यान्त्रिक स्पन्दन है। नए यात्री कभी-कभी उसे देखकर भ्रम करते होंगे कि वह भी कोई प्रतिमा है। और मैं सोचता हूँ कि मैं हत्यारा हूँ। स्वेदसे स्नान कर लेता हूँ, घृणासे मुँह ढँक लेता हूँ। उस घटनाके बादसे हम तीनोंमें कभी इसकी चर्चा न हुई। क्या सचमुच पद्मा रामस्वामीको चाहती थी? मेरे प्यारने भी उसका अपकार ही किया, और मैं! ओह वह स्वप्न कैसा सुन्दर था!

रमेश! मैं देवताकी ओर देख भी नहीं सकता। सोचता हूँ कि मैं पागल हो जाऊँगा। फिर मनमें आता है कि पद्मा भी बावली हो जायगी। यदि कहीं ऐसा हो जाता—हम दोनों पागल हो जाते। परन्तु मैं पागल न हो सकूँगा; क्योंकि मैं पद्मासे कभी अपना प्रणय प्रकट नहीं कर सका। उसके एक बार अपनेमें आनेकी प्रतीक्षा है, और स्पष्ट शब्दोंमें उससे एक बार कह देनेकी कामना है—पद्मा, मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ। तुम मेरे लिए सौहागिनीके कुमकुम-बिन्दुके समान पवित्र, इस मन्दिरके देवताकी तरह भक्तिकी प्रतिमा और मेरे दोनों लोककी निरङ्कुश आकांक्षा हो।

पर वैसा होनेका नहीं। मैं पूछता हूँ कि पद्मा और चिदम्बरमने मुझे फाँसी क्यों नहीं दिलाई?

रमेश! अशोक बिदा लेता है। यह पत्थरके मन्दिरका एक भिखारी

है। अब पैसा नहीं कि तुम्हें पत्र लिखूँ और किसीसे माँगूँगा भी नहीं। अधम, नीच अशोक लल्लूको किस मुँहसे आशीर्वाद दे?

—हतभाग्य अशोक

कृष्णके पत्र राधाके नाम

[प्रेषक—श्री० वेंकटेशनारायण तिवारी]

(इन पत्रोंके प्रेषक श्री वेंकटेशनारायण तिवारीजीका कहना है कि, 'ये पत्र काल्पनिक नहीं हैं, किन्तु इनका लिखनेवाला और उसकी 'राधा' दोनों ही इस समय भी दुनियामें जीते-जागते हैं। इनमें यदि कोई चीज काल्पनिक है, तो कृष्ण और राधाके नाम। मैंने जान-बूझकर असली नामोंके स्थानमें मनगढ़न्त नाम रख दिये हैं। मैं आशा करता हूँ कि पाठकोंको यह भ्रान्ति न होगी कि राधा या कृष्ण नामधारी किसी भी व्यक्तिका इन पत्रोंसे कुछ भी सम्बन्ध है।

एक बात और कह दूँ। ऊपर मैं कह चुका हूँ कि पत्र फर्जी नहीं हैं। मैंने इन पत्रोंको कई बार पढ़ा और भारतीय साहित्यके अनेक पत्रोंसे इनकी तुलना भी की है। मैं तो इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि ये पत्र अपने ढंगके निराले हैं। पत्रोंकी सजीव भाषा ही भावोंकी सच्चाईका अन्यतम प्रमाण है। हिन्दीमें मैंने ऐसे पत्र अभी तक नहीं देखे।)

[१]

श्रीनगर
४-७-१९२२

देवि,

कई दिन हुए, तुमने मुझे लिखा था कि रहो या चले जाओ, मुझे इसकी परवाह नहीं। लो, यदि यही बात है तो जाता हूँ। मैं तो बहुत



[illegible]
नाम लेटरबक्समें काल्पनिक चिट्ठी छोड़ प्रयाग कुम्भ मेलेकी ओर चल पड़ी है ।

पहले ही चला गया होता, पर तुम्हींने तो रोका था ! मैं रुक गया । जब जान लिया कि कुछ दिनोंतक मैं यदि जाना भी चाहूँ तो नहीं जा सकता, तब इस तरहसे बार-बार दुतकारकर मुझे ढकेल रही हो । क्या यह उचित है ? क्या इसीको प्रेम कहते हैं ? बार-बार कहती हो कि तुम मुझे प्यार करती हो । कबसे मुझे प्यार करने लगीं; यह तुम्हारे ही शब्दोंमें तुम्हें ज्ञात नहीं । फिर, इस तरहका निष्ठुर व्यवहार क्यों करती हो ? क्या इसका यह कारण है कि तुम्हें अब अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा ? अभीतक तुम पत्थर की मूर्तिकी तरह मेरी बातें सुनती रहती थीं । ऊपरसे तो यही मालूम होता था कि मानों मेरी बातोंका तुम्हारे ऊपर कुछ भी असर नहीं होता । लेकिन इधर कुछ दिनोंसे जब तुम मेरे पास आती थीं या दूसरोंके सामने भी जब तुम और मैं मिलते और पास बैठते थे, तब तुम्हारी अजीब दशा हो जाती थी । कहाँ तो दूसरोंके सामने, कोयलकी तरह तुम्हारी मीठी-मीठी बातोंका संगीत घरभरमें गूँजा करता है और कहाँ मेरे सामने तुम्हें बोलना भार हो जाता थी, आवाज एकदमसे बन्द हो जाती थी । अनमनी-सी, ठगी-सी, चुपचाप खड़ी या बैठी रहती थीं । मेरी तरफ आँखें भी नहीं करतीं—मुँह भी चुराये रहती हो । मानो, दिल ही दिल डरती थीं कि कहीं चोरी खुल न जाय, आँखें कहीं हृदयके भेदको खोल न दें ! मैं जब तुमसे बातें करने लगता तब मोतीके हारसे तुम्हारी अँगुलियाँ उछलने लगतीं । कभी-कभी [illegible] दनपर दौड़ जाती थी—इतनी हलकी कि कोई [illegible] यद्यपि अभ्याससे मैं तो उसे ताड़ ही जाता था इस सकदकीका क्या कारण है ? अथवा, [illegible] या हृदयमें लबालब भरे हुए प्यारको छलकनेसे बचानेकी चेष्टा मात्र !

मैं पहले समझता था कि तुम प्रेम करती हो, पर जानती नहीं कि प्रेम है क्या ? लेकिन जो दिन जब मैंने तुम्हें बाँहोंमें भरा और अधरा और अधरोंमें तुम्हारे अधरोंकी अर्चना की, तब मुझे मालूम हुआ कि तुम्हारा रोम-रोम प्रेमकी झंकारसे पीड़ित और विह्वल हो उठा है । तुमने कई बार

भागनेकी कोशिश की, लेकिन तुम्हारे हृदय और तुम्हारे पैरोंने तुम्हारी एक न सुनी और बरबस तुम मेरे भुजपाशमें बंधी हुई पड़ी रहीं। याद है कि हम दोनों किस तरहसे काँप रहे थे, वैसेही जैसे आँधीमें दो नवजात तरु काँपते-काँपते झुकते, उछलते और फिर-फिर झुक पड़ते हैं। तब मैंने जाना कि तुम्हारे हृदयमें उसी तरह, जैसे मेरे हृदयमें, प्रेमका सागर उमड़ पड़ा है। हम दोनों इस समुद्री तूफानमें दो असहाय नौकाओंकी तरह लहरोंके झकोरोंसे थपियाए हुए इधर-उधर बहते फिरते हैं। युगोंसे हमदोनोंकी आत्माएँ एक दूसरेसे बिछुड़ी हुईं, न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरोंतक खोये हुएकी खोजमें लगी रही हैं। तुम और मैं भाग्यकी भूल-भुलैयामें भटकते-भटकते अब कहीं, कल्पान्तरके बाद मिल पाये हैं। फिर क्यों न हम दोनों एक दूसरेको देखकर प्रेम और आनन्दके उल्लास और उच्छ्वासमें मतवाले हो उठें और क्यों न हमारे दुर्बल शरीर और छोटे-छोटे हृदय उसके आघातसे थर-थर काँपने लगें?

हाँ, तुम मेरी हो। तुम कहती हो कि मैं तुम्हारा हूँ। कुछ क्षणोंके लिए हमदोनोंने हृदयपर-हृदय रखकर जिस अनन्त स्वर्गकी एक झलक देखी है, उसको न तुम भूल सकती हो और न [illegible] सकता हूँ। वह अनुभव जीवनको रस-[illegible] सुख और दुखमें, हार[illegible] रहे जीवनके शिखरपर [illegible] हाँफते हाँफते घसीटना पड़े—अब कुछ भी चिन्ता नहीं है। क्योंकि मैंने तुम्हें पाकर जग जीत लिया और स्वर्गको तुम्हारे चरणोंके नीचे देखा। इस जीतने और देखनेके बाद, मैं वह न रहा जो पहले था। तब मैं मुर्दा—मिट्टीका [illegible]ी, सोना नहीं, सजीव [illegible], प्रेमको पहचाननेकी जिसमें शक्ति है, जिसमें [illegible] और [illegible] कृपाओं से [illegible] मचलते ही रोने लगता है। और

अब आगे कुछ भी हो, वह फिर कभी मुर्दा न होगा। वह सजीव रहेगा, क्योंकि तुम्हारे हृदयकी धड़कनसे उसके हृदयमें धड़कन आई है। तुम भी चाहो तो अब उसे नहीं मार सकतीं। क्या सचमुच तुम उसे मार डालना चाहती हो? सोचो तो कि तुमने मेरे मानस-मन्दिरमें प्रेमको जन्म दिया। कैसे सम्भव है कि उसे तुम, जननी होते हुए, मारो। उस प्रेमको तुम्हें पालना है, पोसना है। उसे छोड़कर भाग नहीं सकतीं। किसी दूसरेका कहकर ठुकरा नहीं सकतीं। छोड़ भी दो या ठुकरा ही दो तो बलासे। दुनिया तो उसे तुम्हारा ही कहेगी। उसकी दुर्गतिपर तुम्हारी ही जगमें हँसी होगी। उसकी दुर्दशाको देख, लोग तुम्हींको भला-बुरा कहेंगे। लेकिन ऐसा सोचना तुम्हारे साथ अन्याय करना है। अपनेसे किसको ममता नहीं होती। तुम तो ममताकी साक्षात् मूर्ति ही ठहरीं। कह चुकी हो कि हृदय मुझे देकर तुम वापस नहीं ले सकतीं—क्योंकि ऐसा करना तुम्हारे लिए असम्भव है। फिर, भागती क्यों हो? अनिवार्यसे छुटकारा कैसा? तुम्हारे लिए यदि संसारमें अब कोई स्थान है, तो मेरे वक्षःस्थलपर। कोई बैठनेकी जगह है तो मेरे हृदयमें बिछे हुए आसनपर। क्या फूलसे सुगन्धि अलग हो सकती है? किरणसे ज्योति क्या भाग सकती है? कोकिलके कण्ठसे क्या संगीत विलग हो सकता है? जैसे इन सब बातोंका होना असम्भव है, उसी तरह, देवि, तुम्हारा मुझसे दूर भागना असम्भव है।

इतनेपर भी तुमने मुझे दुतकारा है, ठुकराया है, चले जानेके लिए निष्ठुर-से-निष्ठुर बातें सुनाई हैं, झूठे-सच्चे दोष मढ़े हैं, भला-बुरा कहा है। हटाकर ही कल ली। लो चला। एक अवधितक एकान्तवास करूँगा। हृदयको काबूमें लानेकी कोशिश करूँगा। तुम्हारे व्यवहारपर सोचूँगा और प्रेमकी अखण्ड माया और महिमाका मनन करूँगा।

सप्रेम वन्दे! यही बन्दना तुमने मुझे सिखाई है। कल फिर लिखूँगा।

तुम्हारा ही,

कृष्ण

२

बरकल
५-७-१९२३

देवि,

सप्रेम वन्दे ! चलते समय तुमसे अच्छी तरहसे बिदा भी न हो सका। लोग थे। मैं बदहवास, झल्लाया हुआ, क्षोभ, संताप तथा वेदनासे खिन्न और व्यथित; ऊपरसे इस बातकी कोशिश कि मेरे कलेजेमें उथल-पुथल मचानेवाले बवण्डरको कोई भाँप न ले। इन सबके कारण मेरी जो दशा थी, उसमें चलते-चलाते मैं जी भरकर अन्तिम बार तुम्हें निहार भी न सका। सिर झुकाये, आँखें नीचे गड़ाये, भर्राई हुई आवाजमें मैंने तुमसे नमस्कार किया, और जल्दीसे भाग गया। न भागता तो रो पड़ता। सवारीपर बैठते ही आँसू बह पड़े। कबतक रोया किया, मुझे याद नहीं।

रोता था और उन बातोंको बिसूरता जाता था, जो पिछले दिनोंमें बीती थीं। प्रेम-दान देकर पहले तो स्वर्ग दिखाया, लेकिन बादमें ऐसी बातें सुनाईं कि उनकी चोट मेरे कलेजेको रह-रहकर तेज छुरीकी तरह करोती है। तुमने अपने साथ पाप किया और मुझे अविश्वासी कहकर सदाके लिए कलंकित। इसीलिए मैं अपनेको दण्ड देने जा रहा हूँ। अकेला, निर्जनमें बैठकर, अपने प्रेम और अपने हृदयको टटोलूँगा कि देखूँ, उसमें कहाँ और कितना मैल है, जिसके कारण ऐसी घटना हुई। बताओ, क्यों तुमने इतना घोर अनर्थ किया ? क्यों अपने मुँह अपनी
[illegible] या और मुझे काँटोंमें घसीटा ? मेरे लिए
[illegible] इनका मुझे क्षणिक मलाल जरूर हुआ
[illegible] तौर मुझपर [illegible]
[illegible] से कहा था [illegible]
[illegible] जिस तरह चाहो नचो [illegible] किसी दूसरेको
[illegible] कोई बोले तो उसे [illegible] सुनाओ, मैं भी

तुम्हारा साथ दूँगा, पर तुम्हें वह अधिकार कहाँ कि तुम अब अपनी बदनामी करती फिरो। तुम तो मेरी हो। मेरे लिए यह असह्य है कि मेरी देवीको कोई भी कुछ कहे-सुने। तुम्हें भी अब यह अधिकार नहीं रहा। तुम्हारी इसी बेजा हरकतसे मुझे अपार दुःख हुआ है। मैं घण्टों रोता रहा हूँ। इस समय भी उसकी यादसे काँप उठता हूँ।

कल रातको सोनेके लिए लेटा तो, पर रात जैसे कटी, मैं ही जानता हूँ। एक बार तुमने कहा था कि सपनेमें तुमने मुझे कई दिन देखा। तुम्हारे लिए यह नई बात होगी। मेरे सामने तो बरसोंसे सोते-जागते तुम्हारी मूर्ति विद्यमान रहती है। मैंने यह बात तुमसे नहीं कही। कहनेकी जरूरत भी न थी। मैंने कब तुमसे अपने प्रेमका बखान किया है? कहना भी अगर चाहा तो कह न पाया। दिलकी बात न-जानें क्यों, दिलहीमें रह जाती है। गलेसे तो बहुत-सी बातें निकलती हैं, पर हृदय मूक ही रहना पसन्द करता है।

कल रातको कई बार सोनेकी चेष्टा की, पर नींद न आई। रह-रहकर पिछली बातोंका ताँता स्मृतिके चौगानमें बँधता, विलीन होता और फिर बँधने लगता। इसी उधेड़-बुनमें सारी रात गुजरी। बहुत रात गये, जब झपकी लगी तब तुम, आँखोंके सामने हँसती हुई, व्यंग-भरी निगाहोंसे मुझे उद्विग्न करने लगीं। उठा, जल्दीसे उठा कि दौड़कर तुम्हारे चरण चाप लूँ, चूम लूँ, पर उठते ही आँख खुली और सपना सपनेमें विलीन हो गया। हाय! जागरण भी तुम्हारा साथी बनकर तुम्हारा बदला मुझ गरीबसे चुकाता है। × × ×

आज दिनभर तुम्हारे और अपने बीचकी बातोंपर विचार करता रहा। यदि यही हाल बना रहा तो पागल हो जाऊँगा। इसलिए सोचता हूँ कि स्वस्थ-स्वस्थकी एक ही रही!—चित्तसे बैठकर इस विषयपर अपने विचारों को स्थिर करूँ। आगे भी तो साथ रहना ही है! मुझे अपना कर्तव्य

निश्चित कर लेना चाहिए। इस विषयपर अपने विचारोंको स्थिर करूँ। इसके लिए यह जरूरी है कि पुरानी बातोंको एक बार दोहरा जाऊँ।

कबसे हमदोनोंकी प्रेम-कहानीका आरम्भ होता है? इसका जवाब न तुम दे सकती हो और न मैं। तुमने खुद अपने पत्रमें यह लिखा था, 'मैं तुम्हें प्यार करती हूँ। कबसे, कुछ ज्ञात नहीं।' और मैं तो कमसे-कम नौ सालसे तुम्हारा पुजारी रहा ही हूँ। तुम्हें याद होगा कि एक बार तुम्हारी दाहनी कलाईमें चोट लगी थी और खून बह निकला था। मैं पास ही बैठा था खून देखकर चौंका और दौड़कर पट्टी बाँधी। इतना व्यथित और व्याकुल हो गया था कि पागल-सा हो उठा। उसी पगलाहटमें मैं नतमस्तक होकर तुम्हारी कलाईको एकाएक चूमने लगा। इस चुम्बनमें कितनी भक्ति थी, कितना सम्मान उससे टपकता था! वह तो एक वशंवद भक्तकी, अटल भक्तिकी प्रतिज्ञा थी प्रेमकी शपथ और आमरण आत्म-समर्पणका प्रण था। [illegible] लेकर आजतक यही प्रथा चली आई है कि [illegible] कर-कमलोंको भक्त चूमकर अपनी अनन्य भक्तिका [illegible]। याद है, हमदोनों उस समय थर-थर काँपने लगे थे। [illegible] तुमसे कर-चुम्बनकी प्रार्थना की। उदारतासे तुमने मुझे बायाँ हाथ दिया, जिसे मैंने सत्कारके साथ, विनम्रताके साथ चूमा था। लेकिन उसके बाद तुम खिन्न गई। क्यों, मुझे नहीं मालूम। चोट तो लगी, पर मैंने उस घड़ीसे फिर कभी वाणीतक न बन्धनसे, न निगाहसे और न किसी चेष्टासे तुम्हें छेड़ा। क्योंकि मैं ऐसे प्रेमका लोभी नहीं, जो बरबस बलसे छीना जाय। प्रेमका सौदा खुले बाजार होता है, परवशताका वहाँ सवाल नहीं। जिसको जी चाहे दे, न जी चाहे न दे। [illegible] कि तुम्हारी कृपा [illegible] चमक- कर [illegible], हाथ- टटोल [illegible] हुए, तुम्हें

अपने दुःख, अपनी पीड़ाका हाल सुनाकर मैंने फिर कभी न सताया। है यह सच या नहीं? बताओ! चुप क्यों हो? चुप्पीसे काम न चलेगा। न बोलोगी तो गवाही पेश करूँगा। याद है, पत्र लिखनेके दूसरे दिन जब तुमसे मेरी बातें हुई थीं तब तुम ऊपरकी सब बातोंको सही मान चुकी हो।

हमदोनोंके प्रेमका बीज उसी दिन बोया गया था। चुम्बन, कम्पन, भक्तिका दान और उसकी स्वीकृति—सब उस उद्देश्य-सिद्धिकी सहायक क्रियाएँ थीं—मन्त्रको जगानेके विधान थे।

बीजको हृदयके भीतर गाड़कर तुम और मैं, एकदमसे या थोड़े समय के बाद, उसे भूल-से गये। पर वह न मरा और न सड़ा। किसने उसे सींचा और प्रतिकूल परिस्थितियोंमें उसकी रक्षा की, न तुम्हें मालूम और न मुझे ही ज्ञात है। पृथ्वीके गर्भमें या माताके उदरमें, बीजकी रक्षाका प्रबन्ध जैसे प्रकृति करती है, वैसे ही हृदयके गर्भमें प्रेमके बीजकी देख-रेख भी कोई न कोई शक्ति अवश्य करती होगी। उसीकी संरक्षतामें वह संसारसे अदृष्ट और लोगोंके अनजानमें पनपा—उसमें अंकुर निकला। इसीलिए तुम कहती हो कि यह तुम्हें ज्ञात नहीं कि कब, कहाँ, कैसे प्रेम—मेरे लिए प्रेम—तुम्हारे हृदयमें अंकुरित हुआ। प्रकृति अपने सारे काम लुक-छिपकर परदेके अन्दर अन्धकारमें करती है। उसके अंकुर ही हमें दिखाई देते हैं। हमारे जीवनके संस्कारोंकी यही जन्मकथा है। इसीको लोग भाग्य, प्रारब्ध या पिछले जन्मके संचित कर्मोंका फल कहते हैं। कौन जाने कि यदि तुम्हें उस समय इस बीजके बोनेका पता चल जाता तो तुम उसे निकालकर फेंक न देतीं और फिर बादकी सारी घटनाओंका क्रम ही एकदमसे बदल जाता, लेकिन विधनाके मनमें तो कुछ और ही था। मुझे तुम्हारा प्रेमी बनाना उसने ठान लिया था। देवि, भाग्यकी रेखाको आज तक मिटानेमें कौन समर्थ हुआ है? हम दोनों संसारके अदृष्ट, अव्यक्त, बहुत ही पहले, परन्तु अत्यन्त मजबूत डोरोंसे एक दूसरेके साथ कसकर

बाँध दिये गये हैं। उन्हें तोड़कर आजाद होनेकी सारी चेष्टा वैसे ही विफल होगी, जैसे चुम्बकके आकर्षणसे लोहेका भागना या दीप-शिखासे पतंगको बचानेका प्रयत्न। हम एक दूसरेके लिए जहाँ चुम्बक और दीपशिखा हैं, लोहा और पतंग भी हैं। 'करमगति टारे नाहिं टरै।' दीनतासे, श्रद्धाके साथ मैं तो उस आदि-शक्तिको नमस्कार करता हूँ, जिसने मुझे तुम्हें दिया, और तुम्हें पाकर मैं तो सन्तुष्ट हूँ। क्यों दिया, इसकी उधेड़-बुनमें पड़कर व्यर्थकी माथापच्ची करनेकी हमें क्या जरूरत ? दर्दे-दिल ही क्या कम है, जो ऊपरसे सिर-दर्द भी बैठे-बैठाये मोल लूँ ?

एक और भी पहलू है, जिससे इस बीजके अज्ञात रूपमें परिस्फुटनका महत्व हमारी आँखोंके सामने स्पष्ट हो जाता है। यदि बीज जमीनके ऊपर पड़ा रहे तो उसे चारों तरफसे खतरा ही खतरा रहेगा। चिड़ियाँ उसे चुन लें, गर्मीकी कड़ाकेकी धूप उसे सुखा डाले, बरसातकी झड़ी उसे बहा ले जाय और सड़ा डाले, जाड़ेकी ठण्डक और पाला-ओस उसे ठिठुरा सकती है। इसी तरहसे हम दोनोंके प्रेमको—यदि दुनिया उसे उगते देखती—तो पड़ोसियोंकी हँसी, घरवालोंकी नाराजी, स्वजनोंके आँसू, लोक-लाजकी झिड़की और सौतोंकी डाह उसे भला कहाँ पनपने देती ? पलमें उसे रौंद-रौंदकर खत्म कर डालती। सच कहना, अमानुषिक माताकी तरह तुम्हीं क्या उसका गला न घोंट देतीं ? लेकिन अब जब उसने काफी जड़ें छोड़ दी हैं और वे खूब मजबूत भी हो गई हैं, तब न तो तुम इस पौधेको समूल उखाड़कर फेंक ही सकती हो और न कुल्हाड़ीसे उसे काट डालने-हीको तुम्हारा जी चाहता है। हृदयके रक्तसे पाला-पोसा, हृदयके जीते तन्तुओंमें वह इतना लिपट गया है कि जैसे जीता नाखून कोई नहीं काट-वाला, वैसे ही तुम अब उसे काटकर फेंक नहीं सकतीं। ठीक ही हुआ, जो तुम्हें यह नहीं मालूम कि कबसे तुम मुझे प्यार करने लगीं। नहीं तो मुझे भय है कि तुम उसे बढ़ने न देतीं और तब मैं फिर तुम्हारी खोजमें जन्म-जन्मान्तरोंतक इधर-उधर भटकता, खाक छानता फिरता। अब मिल

गई हो, देखूँ तो सही कि तीन लोकमें वह कौन शक्ति है, जो तुमसे मुझे जुदा कर सकती है या मेरे जीते-जी कैसे कोई दूसरा तुम पर अधिकार जमा सकता है ?

तुम बदल जाओगी ? असंभव ! तुम्हें मैं पहचानता हूँ। तुम्हारी प्रकृति पक्के पत्थरसे अधिक दृढ़ है। कोई हँसी-खेल नहीं कि उसपर अंकित चित्रको कोई मिटा सके। तुम न नदीकी धार हो और न पुलिनकी रेणुका, जिसपर चित्र खिंचा नहीं कि बिगड़ गया। तुम सच्ची हो, बातकी धनी हो, जल्दी भूलती नहीं। जिसे पकड़ा उसे सदाके लिए पकड़ लिया। यह न समझना कि मैं तुम्हारी तारीफ चापलूसीसे कर रहा हूँ। नहीं देवि, मैं यदि तुमसे झूठ बोलना भी चाहूँ तो नहीं बोल सकता। प्रेम और सत्यमें अन्यतम संबंध है। दोनों एक ही वस्तुके दो पहलू हैं। जो मैं कहता हूँ वह सत्य है। मैं तुम्हारा पुजारी हूँ, इसलिए कि तुममें अद्भुत नैतिक गुण हैं। रूप भी है, जिसमें अजीब तरहकी मादकता भरी है। परन्तु मैं वह भौंरा नहीं, जो ऊपरी रूपका उपासक हो। भौंरा भी चंपासे दूर ही भागता है। क्या मैं भौंरेसे भी गया-गुजरा हूँ कि चञ्चल सौंदर्यकी लालसामें गुणोंके अचल (स्थायी) लावण्यको तुच्छ समझूँ ? मुझे तुम्हारा शरीर प्यारा है, बहुत प्यारा है; परन्तु प्यारा है इसीलिए कि मैं तुम्हारी अन्तरात्माका प्रेमी, पुजारी, उपासक—जो कहो सो—हूँ। सच मानो, तुम्हारी नैतिक विशिष्टता इतनी अधिक मुझे प्यारी है कि केवल रूपकी अप्सराको मैं तुम्हारे पद-रजके मोलमें हेय समझता हूँ। आगे चलकर दिखा दूँगा कि जो मैं कहता हूँ वह ठीक है या नहीं। इसीलिए मैं तुम्हारे रूपको कम प्यार नहीं करता, परन्तु तुम्हारी आत्माका अधिक प्यार करता हूँ, जिसकी सहज छाया बाहरी कान्ति है।

बहक गया। माफ करना। चित्त चञ्चल हो रहा है। उसपर मेरा कोई वश नहीं। अंकुश तो तुमने मेरे हाथसे छीन लिया, उसे सँभालूँ तो कैसे ?

हाय ! क्या करूँ ? बीच-बीच में क्षीण लपट-सी मेरे सारे शरीरसे

निकलने लगती है। तुम्हारे भयको इस कागजपर देखकर वह कटु-मधुर वेदना टीसने लगती है कि न मरते बनता है और न जीते। हे देवि, तुम कहाँ हो? क्यों मुझे तुमने अपने चरणोंसे हटा दिया? मुझसे कोई अपराध जान या अनजानमें तो हुआ नहीं। यदि हुआ भी, तो फिर क्यों इतनी रूठ गई? जब अपनाया था तभी तुम्हें मालूम था कि मैं कितना दुर्बल हूँ और कितनी बार ठोकर खाकर गिर चुका हूँ। सब कुछ जानकर तुमने मुझे हाथ बढ़ाकर अपनी ओर खींचा। तब क्यों रूठती हो, खफा होती हो। भयसे आज भी कलेजा काँप रहा है। देवि, देवि, दया करो! बहुत रुलाया। कब तक रुलाओगी? प्रेम तो क्षमाका नाम है। अनन्त प्रेममें अनन्त क्षमा है। तुम्हींने तो यह पाठ मुझे पढ़ाया और अब तुम्हीं उसे भुला रही हो। मैंने तो तुमसे एक बार नहीं, अनेक बार कहा है कि मुझ निर्बलके तुम्हीं बल हो, मुझ अनाथको तुम्हीं सनाथ बना सकती हो। मुझमें जो दोष हैं, उन्हें अपने प्रेम और सहनशीलतासे तुम्हीं दूर कर सकती हो। छोड़ दोगी तो मैं और भी नीचे गिर जाऊँगा। मेरी मुक्तिकी आस तुम हो। तुम्हीं मेरी जीवन-नौकाकी कर्णधार बन सकती हो। न छोड़ो, न त्यागो। अपना लो; प्यारी, प्रिये, अपना लो। तुम मुझे सुधारो! जो कहो करूँगा; जैसे कहो रहूँगा। लेकिन अपने पास तो रहने दो। पापीको भगवान् भी उठाता, उबारता है। फिर, तुम क्यों मेरे उद्धार की चेष्टासे हाथ खींच रही हो? प्रभो, स्वामिनि, दयानिधे, कुछ तो दया करो। अधिक नहीं, चरण ही छू लेने दो। मेरे लिए तुम्हीं धर्म हो, कर्म हो। तुम्हीं स्वर्ग हो और स्वर्गकी सच्ची साक्षी हो। मैं ईश्वरमें विश्वास करता हूँ, क्योंकि मेरा तुममें विश्वास है। जिस दिन तुमसे विश्वास हट जायगा या तुम मेरे साथ दगा करोगी, उसी दिनसे मैं समझूँगा कि विश्वमें धर्म नहीं, स्थिरता नहीं, सत्य नहीं और प्रेम नहीं—सब ढोंग है, ढकोसला है, कल्पनाका प्रपञ्च है, स्वार्थियोंकी दूसरोंको ठगनेकी चाल है। तुम्हीं मेरे भविष्यकी आशा हो और अभी भविष्यकी

तुम्हें शपथ है कि तुम मेरे साथ छल न करो, कपट न करो। यदि करोगी---? नहीं, नहीं, दुनिया उठ जाय, सूरज सदाके लिए अस्त हो जाय, आग जलाना बन्द कर दे और वायुमें गति न रहे, परन्तु तुम छल न करोगी, न करोगी। तुम्हारा सत्य अटल है---उतना ही अटल---अचल है, जितना मेरुदण्ड। तुम बातको निबाहना जानती हो। नेहकी मर्यादाका अगर तुम न समादर करोगी, तो दुनियामें और कौन करेगा? सप्रेम वन्दे!

तुम्हारा दीवाना,

कृष्ण

---

(३)

८-७-१९२३

मेरी राधे,

सप्रेम वन्दे! कितना रूखा-सूखा यह अभिवादन है। मन तो चाहता है कि ध्यानमें तुम्हें अपने अंकमें भरकर सिरसे पैरतक तुम्हारे ऊपर चुम्बनोंकी वर्षा करूँ, लेकिन तुमने मना किया है कि ऐसा मैं न करूँ। मन पापी है, माफ करो। पढ़ाए हुए सुएकी तरह मैं भी वही कहूँगा जो तुमने मुझे सिखाया है—सप्रेम वन्दे! अब तो सन्तुष्ट हुईं? देखो तो मैं कितना पटु शिष्य हूँ! इसपर भी तुम प्रसन्न नहीं होतीं। अब तो खुश हो जाओ। कहती हो कि खुश हो। तो आओ, हियेसे मुझे एक बार—बस, एक-बार—लगा लो। फिर, वही भूल? खता हुई, क्षमा करो। न्यायशीले, दोष तुम्हारा है कि मैं रह-रहकर बहकने लगता हूँ, तुममें अजीब जादू है। इस समय मेरे सामने खड़ी, तुम अपनी आँखोंको ऐसे अद्‌भुत ढंगसे नचा रही हो कि उन्हें देखकर मैं उन्मत्त हो जाता हूँ। आँखोंमें अप्रसन्नता तो प्रत्यक्ष है, परन्तु उसके पीछे गुप्त मुस्कान और निमन्त्रण भी तो साफ-साफ झलक रहे हैं। निर्दयी कहींकी! पहले फुसलाना, इशारोंसे

बुलाना और फिर मुकर जाना—यह तुम्हींको सूझता होगा। इसीको प्रेम यदि कहती हो तो कहो, दुनिया इसे किसी दूसरे नामसे पुकारती है। बिल्ली भी, कहते हैं, चूहेके साथ कभी-कभी इसी तरहका निष्ठुर खेल खेला करती है। दिन हैं, खेल लो। मुझे शिकायत करनेका अधिकार ही क्या? जब प्रेमका सौदा किया तब हृदय तुम्हारे हाथ सौंपा और जबान काटकर पासंगमें डाल दी थी। बे-जबान हूँ, फरियाद करूँ तो कैसे? और यदि इशारों से फरियाद करूँ भी तो उसे सुनने कौन लगा? ऐसी दशा में चुप रहना ही उचित है।

तीन दिन पत्र नहीं लिख सका। क्षमा चाहता हूँ। इसके दो कारण हैं। एक तो सफरमें दो दिन निकल गये, तब कहीं वहाँ पहुँचा, जहाँपर ठहरनेका निश्चय मैंने किया था। तुम्हें भी न बताऊँगा कि इस स्थानका नाम क्या है? दुनियाके लिए तो मैं लोप हो ही गया हूँ। दूसरे, ये पत्र तुम्हें भेजे भी नहीं जाते। ये तो २४ घण्टेमेंसे एक घण्टे तुम्हारे साथ बैठकर बात कर लेनेकी ख्वाहिशको मिटानेके साधन-मात्र हैं। दिन-रात अकेले बैठे रहनेसे जी घबराने लगता। दिलकी तपन, मनकी चंचलता, प्रेमकी आतुरताको कम करनेकी यह एक औषधि है। कुछ शांति मिल जाती। थोड़ी देर यही समझने लगता हूँ कि यदि तुम्हारे पास नहीं हूँ तो इन पत्रोंद्वारा मैं तुमसे रोज एक बार मिल तो लेता हूँ। यही क्या थोड़ा है? यदि सचमुच में रोज तुम्हें पत्र भेज सकता तो तूफान या भूकम्पमें भी मैं तुम्हें खत लिखता। लेकिन दुर्भाग्यसे मेरे करममें इतना बड़ा सुख नहीं लिखा है। इसलिए न लिखनेसे किसीका कुछ बना बिगड़ा नहीं। रेलके भम्भड़में लिखना असंभव था। और जहाँसे रेलको छोड़ा, वहाँसे काफी पैदल चलना था। आज वहाँ पहुँच गया, जहाँ अब चिमटा गाड़, कुछ दिनोंके लिए मैं धूनी रमाने जा रहा हूँ। कोई पास-पड़ोसमें नहीं है। एकदम निर्जन स्थान है। तुम्हारी स्मृति मेरे साथ है। किसी दूसरे साथीकी मुझे जरूरत नहीं। तुम्हीं तो मेरे लिए सम्पूर्ण विश्व हो।

तुम्हारे बिना सारा जगत् मेरी आँखोंमें भायँ-भायँ करते हुए मरघटसे भी अधिक निर्जन है। अब नियमपूर्वक शामको चार बजे प्रतिदिन तुम्हें पत्र लिखा करूँगा। ठीक एक घण्टे लिखूँगा। क्या कभी वह दिन भी आयेगा, जब ये पत्र तुम्हारे पास पहुँचेंगे और तुम इन्हें पढ़ोगी। आशा कम है, लेकिन यदि कभी इनके पहुँचनेकी नौबत आ जाय, तो इन्हें करुणाकी दृष्टिसे देखना और दयाके दो बूँद आँसू इनके लिखनेवालेके नामपर बहाना, जो आज दिन तुम्हारे प्रेमके कारण बियाबान जंगलमें बैठा-बैठा तुम्हारे नामका अलख जगा रहा है। याद करना कि जितना वह तुम्हारा प्यार करता है, उतना कभी किसी दूसरेने किसी रमणीका प्यार नहीं किया और न आगे कभी कोई करेगा।

पिछले पत्रमें मैंने तुम्हें अपने सम्बन्धकी कहानी कहनी शुरू की थी। लेकिन बीजके बोनेके आगेकी कथा वहाँ मैं न कह पाया था। जहाँ से बातोंका तार टूटा था, वहींसे, अब मैं कथाको फिर छेड़ता हूँ।

जिस घटनाका उल्लेख मैं कर चुका हूँ, उसे हुए आजसे कमसे कम छः साल बीत गये। इस अरसेमें हम दोनोंका एक दूसरेके साथ बहुत ही साधारण व्यवहार रहा। परस्पर सौजन्य था, सम्मान था---स्नेह भी था। इससे अधिक तो कभी प्रकट नहीं होने पाया। दो घटनाओंका जिक्र यहाँ पर कर देना अनुचित न होगा, क्योंकि उनसे अब पता चलता है कि हम दोनों किस ओर बह रहे थे। तीन सालकी बात है, तुम मुझसे अकेलेमें मिलते झिझकती थीं। यदि कोई चीज भी देनी होती थी तो हाथको जल्दीसे खींच लिया करती थीं। मानों यह डर लगा रहता था कि कहीं मैं उसे पकड़ न लूँ। लेकिन धीरे-धीरे तुम्हारी वह शङ्का दूर हो गई। तुम्हें विश्वास होने लगा कि मैं इतना नीच नहीं हूँ कि छीना-झपटी करूँ।

इसके सालभर बाद मैं एक भारी विपत्तिमें पड़ गया था! मेरे प्राणों की बाजी उसमें लग चुकी थी। तब तुमने उदारतासे मेरी प्रार्थनापर, मेरी सहायता की और मेरे प्राण तथा मेरी इज्जत दोनोंको बचाया। तुम्हारे

इस उपकारका मेरे ऊपर जो असर हुआ, उसको लक्ष्य कर मैंने कई बार कहा था कि इस एहसानके बदले मैं सारी जिन्दगी तुम्हारी सेवा करूँगा। तुमने तो तभी मुझे सब दिनके लिए खरीद लिया था। कौन जानता था कि सौदा करनेमें भी तुम अपूर्व उदारता दिखाकर मुझ कंगालको सदाके लिए शर्मा दोगी। मुझे खरीदा तो था अपने उपकारके बदलेमें; लेकिन इतना लेकर भी तुम्हें सन्तोष न हुआ। फैयाजी की हद कर दी, जब तुमने बदलेमें अपने आपको भी मुझे दे डाला। धन्य हो देवि! धन्य! परोपकार, उदारता, दानशीलता—सबको तुमने लज्जित कर दिया। ऐसी अनुपम राधापर मैं यदि सर्वस्वको भी निछावर कर दूँ—अपनी आत्माको, अपने धर्मको, अपने भविष्यको, अपने अनन्त जन्मोंको—तो भी पासंगके बराबर भी वह न उतरेगा। इसीलिए लज्जा और शोकसे मेरा सिर तुम्हारे सामने उठ नहीं पाता। क्या करूँ, जिससे तुम्हारे इस ऋणसे उऋण हो सकूँ? मेरे पास जो कुछ था, उसे तो बिन-बिनकर तुमने लूट लिया और उसके बाद, ऊपरसे इतने भारी-भारी उपकारोंके बोझको मेरे सिरपर लाद दिया। जलेपर नमक छिड़कना इसीका नाम है।

मैं तुच्छ हूँ, अपनी तुच्छता जानता हूँ। लेकिन अपनी निगाहोंमें, सच मानना, मैं इतना तुच्छ कभी न जँचा था, जितना तुम्हारी इस अपूर्व करुणापूर्ण उदारताके बाद। लेकिन इस नीचा देखनेमें भी आनन्द है, गौरवकी अनुभूति है। दुनिया मुझे निर्धन, निकम्मा और नगण्य समझे तो समझे। तुम्हारे प्रेम-प्रसादको पानेके बाद तो मैं अपनेको संसारमें सबसे अधिक भाग्यवान समझने लगा हूँ। जी चाहता है कि [illegible]ोंपर [illegible] होकर तुम्हारी वन्दना करूँ। है मंजूर?

[illegible] बाद, दूसरी घटना हुई। तुम्हें याद होगा कि सन् १९२१ में खिलाफत और सत्याग्रहकी आँधी [illegible] आई थी। मैं नौकर था। तुम स्कूलमें थीं। सब [illegible]। वहाँसे जब लौटा तब तुम्हारा [illegible] था। तुमने [illegible]-

लाया कि महीने दो महीने में तुम्हें पढ़ा दूँ। पहले यह बात हँसी-सी मालूम हुई ! लेकिन तुमने कई बार दूसरोंकी जबानी इसी बात को दोहराया। तब मैंने हँसकर कहा कि 'खुद क्यों नहीं कहती हो देवि ! कहकर आजमा लो कि तुम्हारा मेरे ऊपर कितना अधिकार है और कहाँ तक मैं तुम्हारी सेवा करनेको तैयार हूँ।' जवाबमें तुरन्त तुमने कहा---'कहती तो हूँ, पढ़ा दीजिए।' मैंने कहा---'पढ़ा दूँगा, पर एक बात सुन लो।' 'सुनती हूँ---कहिए न।' बात काटकर मैं बोल उठा---'जल्दी क्या है ? कह दूँगा। वहींपर यह बातचीत समाप्त हो गई।

एक-दो दिनके बाद तुमने फिर वही बात छेड़ी। मैंने कहा---'मुझे एक बार जेल फिर जाना है। साथियोंसे कह चुका हूँ। यदि कहो तो जेल न जाऊँ'। तुमने कहा---यदि ऐसी बात है तो अवश्य जाओ। मैं खुद जाती यदि घरवालोंकी रुकावट न होती, पर मजबूर हूँ। तुम जरूर जाओ' मैंने हृदयसे तुम्हें प्रणाम किया और तुम्हारी वीरताको मन-ही-मन सराहा। तुम्हारी आत्माकी एक खूबीका पता उस दिन लगा। मेरी श्रद्धा और भक्ति तुम्हारे चरणोंमें अत्यधिक बढ़ गई।

मैं सालभरके लिए जेल गया। सजा तो काफी लम्बी-चौड़ी हुई थी। परन्तु १९२३ के मई में एक सालके ऊपर सजा भुगतनेके बाद बीमारीके कारण मैं मुक्त कर दिया गया; यह दूसरी जेल-यात्रा थी।

जेलका हाल मैं लिखने नहीं बैठा हूँ। इसलिए जेल-जीवनकी कोई बात न लिखूँगा। पर एक बात तो कहनी पड़ेगी, क्योंकि उसका तुमसे घना संबंध है। जेल जानेके पहलेहीसे मेरे दिलमें तुम्हारे प्रति श्रद्धा तो थी, लेकिन वह पुराने प्रेमका महज रूपान्तर थी। प्रेम धीरे-धीरे बढ़ता और गाढ़िआता गया। ज्यों-ज्यों तुम्हारी आन्तरिक भलाइयों का मुझे बोध होने लगा, त्यों-त्यों वह प्रेम भक्तिमें बदलने लगा। तुम्हारे अद्‌भुत गुणोंके खिचावमें इतना बल था कि यदि इच्छा न भी होती तो मैं लाख चेष्टा करनेपर भी तुम्हारे चरणोंतक नत-मस्तक पहुँच जाता। लेकिन उसे कैदी बनाने में किसीको

क्या कठिनाई हो सकती है, जो खुद ही कैदी बननेको कमर कसे तैयार बैठा हो। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि तुम्हारे गुण-लावण्यने मेरे ऊपर अकथ जादू किया। इसीके प्रभावने मुझे, तुम्हें बता चुका हूँ, किसीसे विमुख कर दिया था। × × × जाने भी दो, इन गड़े मुर्दों को उखाड़नेसे लाभ ही क्या? खैर, इसका जिक्र मैंने किसीकी बुराई करनेकी नीयतसे नहीं किया। मैं तुम्हें बता रहा हूँ कि वे कौनसे कारण हैं। कौन-सी वे घटनाएँ हैं, जिनके प्रभावसे मेरे हृदयमें तुम्हारा स्थान दिन पर दिन बढ़ता गया। जब मैं जेल पहली बार गया था, तबसे या उससे बहुत पहले मैं तुम्हारा गुलाम बन चुका था।

जेलमें प्राणायाम शुरू किया। सुबह-शाम, दिनमें दो-दो बार। ध्यानमें तुम्हारी मूर्ति आँखोंके सामने आने लगी। धीरे-धीरे प्राणायामके आगे-पीछे भी वही 'प्यारी' मनोहर मूर्ति मेरे सामने आँख बन्द करते ही आ खड़ी होने लगी। बात प्रिय थी, आनन्द आता था, इसलिए अभ्यास बढ़ाया। कुछ दिनोंमें यह दशा हो गई कि सोते-जागते, चलते-फिरते, पढ़ते-लिखते तुम्हारा ही ध्यान और तुम्हारी ही याद। किसी काममें मन न लगने लगा। मजा सिर्फ इसीमें मिलता था कि लेटकर आँखें बन्द कर लूँ और तुम्हें देखूँ। दूसरोंसे बोलना भी भारू हो गया। लोग इस [illegible] करने लगे। समझते थे कि मैं उनकी बातें इसलिए [illegible] कि मैं अभिमानी हूँ, या उनका तिरस्कार करना चाहता हूँ। उन्हें क्या मालूम कि मेरे हृदय में कितनी वेदना भरी थी और मेरे ऊपर क्या बीत रही थी। इसे तुम सुनकर हँसोगी। समझोगी कि ये सब बनावटी बातें हैं, पर है ऐसा नहीं। मैं तुम्हारी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुमसे मैं स्वप्न में भी झूठ न बोलूँगा।

महीनोंतक यही हालत जारी रहा। [illegible] मैं तुम्हारे प्रेममें रँग गया। रोम-रोममें तुम्हारी कमनीय मूर्ति [illegible] गई और तुम्हारे नामकी मधुर ध्वनिसे सारा शरीर गूँज उठा। तब मैंने जाना कि राधा कृष्णको कितना प्यार करती रही होगी। मेरे जीवनमें यह एकदमसे नया

अनुभव था। इसके पहले जिसे प्रेम समझ रक्खा था, वह प्रेम न था, प्रेमका कपट-रूप था। वह तो वासना या कामनाका झोंका-भर था। उपन्यासोंको पढ़कर शृङ्गारकी मानसिक विलासिताका उफान था। अभी-तक आगसे खेलनेका स्वाँग करते हुए मनोरञ्जन किया करता था, परन्तु अब मालूम हुआ कि प्रेमकी ज्वाला कितनी भयंकर होती है। ज्वालामुखीमें उतर जाना आसान है, लेकिन प्रेमकी धधकती ज्वालामें पड़कर सही-सलामत निकल आना आसान नहीं। पतंगेकी तरह मैं जल-भुन गया। मेरी वासना, मेरी कामना, मेरे विकार, मेरी ममता और मेरी लालसा, सभी जल-भुनकर खाक हो गई। मेरे विकार सब नष्ट हो गये, मेरे व्यक्तित्वका अब पता नहीं। तुम्हीं अब मेरी लालसा हो, आकांक्षा हो, मेरे प्राण और मेरा जीवन हो। मेरा अब कुछ नहीं शेष रहा। जो बचा है, वह तुम्हारे लिए प्रेम। तुम्हींमें मेरा अस्तित्व है, तुम्हीं मेरे लिए संसार हो। जो नाच नचाओ, नाचूँगा; जो कहो, करूँगा। न कहोगी तो निर्जीवकी तरह पड़ा रहूँगा। तुम्हीं मुझे ऊपर उठा सकती हो और यदि चाहो तो रसातलमें भेज सकती हो। तुम्हारे रङ्गमें, मैंने कहा है, मैं रँग गया हूँ। यह ठीक नहीं। प्रिये, तुम्हारे प्रेमने मुझे इतना रगड़ा है कि मेंहदीकी पत्तीसे बदलकर मैं अब रङ्ग हो गया। तिल था, अब तेल बन गया। खुदड़ा सबका सब निकालकर प्रेमकी भट्ठीमें जला दिया गया।

हाँ, इसको वह नहीं समझ सकता, जिसपर खुद न बीती हो। उसे मैं बताने भी तो नहीं जाता। मेरा प्रेम गूँगेका गुड़ है! खानेहीसे उसका मजा मिल सकता है। लेकिन जहाँ उसमें मिठास है, वहाँ वह कड़ुवा भी कितना है! कितना रुलाता है, कितनी पीड़ा पहुँचाता है! सचमुच, जीवन तो मेरे लिए अमावस्याकी विकट अँधियारी रात-सा हो गया था, यद्यपि सारी दुनिया दिनके प्रकाशमें आनन्द मनाया करती थी। और अँधियारी भी कैसी कि उसमें आशाके टिमटिमाते हुए नखतकी एक किरनका भी पता न था। मुझे आशा कैसी! क्या वहाँ स्वप्नमें भी यह आशा कर

सकता था कि जिसके लिए मैं तड़प रहा हूँ, वह कभी भी मेरा प्यार करेगी? मैं इतना मनहूस कि कोई मेरी ओर यदि एक बार धोखेसे भी देख ले तो दोबारा फिर कभी उस ओर न देखना चाहेगी। न रूप, न गुण; न धन न यौवन; न पद और न नाम। मुझसे अधिक दीन और निकम्मा बिरला कोई तुम्हें दुनियामें मिलेगा। उसपर खोटे काम। तुम्हें मेरी खोटाईका पूरा-पूरा पता था। जहाँ विधनाने मुझे उन तमाम गुणोंसे वञ्चित रक्खा, जिनकी बदौलत संसारमें पुरुष स्त्रियोंकी निगाहोंमें आदरणीय और आकर्षक होता है, वहाँ तुम्हें उसने रूप भी दिया, यौवनकी मादकता भी दी और तरह-तरहके एकसे एक सुन्दर गुणोंसे विभूषित और अलंकृत किया। तुम्हारे प्रेमको पानेकी चेष्टा उसी तरहसे उपहासके योग्य थी, जैसे मेरी आकाशको हाथसे छूनेकी कोशिश! कौन जानता था—कमसे-कम जेलमें तो इसका स्वप्न भी नहीं देख सकता था—कि तुम कभी मेरे ऊपर इतनी दया करोगी कि मेरी कङ्गालीके ऊपर अपने गुणोंकी चादर डालकर मेरे सारे ऐबोंको छिपा दोगी। अचम्भेके दिन, लोग कहते हैं, बीत गये। मैं भी यही मानता था और मानते हुए अपने कर्मोंपर रोता और सिर धुनता था कि हे भगवन्, मैंने कौनसे पाप किये हैं, जिसकी सजामें मैं इस तरह बेरहमीके साथ सताया जा रहा हूँ।

कितनी मुश्किलोंमें वे दिन एक-एक करके गुजरे थे। आज भी जब उनकी याद आती है, तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। दुश्मनको भी इतनी व्यथा न कभी सहनी पड़े। मैं महीनोंतक दुःखकी कन्दरामें पड़ा-पड़ा कराहा किया। निर्दय निराश [illegible] हर वक्त [illegible] रखती थी। भीतरसे [illegible] हृदयको रह-रहकर कोंचा करती। [illegible] जीवनकी वे घड़ियाँ अमावस्याकी रातसे भी अधिक काली और [illegible] थीं। मैंने प्राणायाम करना बन्द कर दिया। गीताको नमस्कार किया। सोचा, कहीं पागल तो न हो जाऊँगा। अकेले बैठनेमें मन घबड़ाने लगा। अपनेहीसे मुझे डर लगने लगा। कोशिश करने लगा कि किसी घड़ी अकेला न रहूँ।

दूसरोंके पास जाता और छेड़-छेड़कर उनसे बातें करनेकी कोशिश करता। इधर-उधर जहाँ कोई मिलता उसके पास जा खड़ा हो जाता। लेकिन सब बेकार था। रातमें तो अकेले रहना ही पड़ता। तब नरककी यातना फिर शुरू हो जाती। फिर वही विचार आकर घेर लेते। फिर वही वेदना, फिर वही जलन, फिर वही निराशाकी काली-काली घटाएँ और दिन तो ज्यों-त्यों कट भी जाते, परन्तु रात पहाड़-सी भारू हो जाती। उसका एक-एक पल कितने धीरे-धीरे लँगड़ेकी चालसे खिसकता था।

वेदना असह्य हो गई। शरीर इस भीषण खींचातानीको अधिक दिनों तक बर्दाश्त न कर सका। मैं बीमार पड़ गया। जब हालत ज्यादा खराब हुई तो और जल्द सुधरनेकी आशा न रही, तब जेलके अधिकारियोंके कहनेसे मैं सजाकी मीयादके पहले ही छोड़ दिया गया।

उहूँ। अँधेरा हो चला। यहाँ रोशनी भी नहीं है कि अधिक लिख सकूँ। अब फिर लिखूँगा।

तुम्हारा अभागा,

कृष्ण।



कृष्णका राधाके नाम

अन्तिम पत्र*

[प्रेषक—श्री० वेंकटेशनारायण तिवारी, एम० ए०]

३०

"मैं ढूँढ़ थकी हूँ बनमें, तुम छिपे छली हो मनमें।
मैं बिरह-गीत तज दूँगी, बिखरे आँसू गूँथूँगी।
प्रियतमके प्रेम-मिलनमें, फिर अब न थकूँगी बनमें।
मैं मग क्यों अधिक निहारूँ, तमकी ठोकरसे हारूँ।
तुम ध्रुव नक्षत्र गगनमें, फिर अब न छिपोगे मनमें।"

अज्ञात-वास
२७-८-१९३२

प्रियतमे,

सप्रेम वन्दे! लो, आज यह अन्तिम पत्र लिखने बैठा हूँ। मेरे अज्ञात-वासकी अवधिका आज अन्तिम दिन है। जिस लिए यहाँ आया था, वह संकल्प पूरा हुआ! मनका मैल टटोला और उसे यथाशक्ति धो भी डाला। प्रेमकी समस्यापर भी सोचा, खूब ही सोचा। यह कहना तो भूल होगी कि उस अगम्य, अथाह रहस्यकी मैंने अच्छी तरहसे पड़ताल कर डाली! दुनियामें ऐसा आजतक कौन समर्थ माँका लाल हुआ, जो प्रेमके रहस्यकी महिमाको समझ सके? प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। किसी

* पत्र-प्रेषक महोदयका कथन है कि नं० ४ से लेकर नं० २९ तकके पत्र लुप्त हो गये। इसलिए इस ३०वें पत्रको अन्तिम-पत्र समझना चाहिए।

दशामें नेति-नेति ही वेदोंके साथ कहना उचित होगा। प्रेमके पारावारका पता लगाना मेरेसे दुर्बल पुरुषके लिए बिल्कुल असम्भव है। हाँ, यह ठीक है, लेकिन पिछले ३२ दिनोंमें मैंने तुम्हारे और अपने विषयमें काफी सोच-विचार किया और कई छोटी-छोटी बातोंको, जिन्हें पहले न समझता था, अब समझने लगा हूँ। क्या सोचा और क्या विचारा इसको पिछले २६ पत्रोंमें मैंने विस्तारके साथ तुम्हें लिखा है। पर, हाय! वे पत्र तुम्हारे हाथोंमें तो न पहुँचेंगे। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि पत्रोंको मैंने इस आशासे नहीं लिखा था कि उनपर इस जीवनमें कभी निगाह पड़ेगी और न यही मुझे विश्वास है कि इस अन्तिम पत्रको भी तुम्हारे हाथोंमें पड़नेका कभी सौभाग्य प्राप्त होगा। फिर, क्यों मैंने पत्र लिखे? महज इसलिए कि शामको जब इन्हें लिखता था, तब रात-दिनकी उलझनसे कुछ-कुछ छुट-कारा मिल जाता था। एक और भी कारण था। इसी बहाने अपने दिल-के गुबारोंको आसानीसे निकाल भी लेता था। व्यथाकी बात दूसरेसे कह-कर लोग अपने दर्दको हलका करते हैं। यहाँ मेरे पास कौन था, जिसके कानोंमें मेरी करुण-कहानीका रोना पहुँचता? और यदि कोई होता भी तो उससे मैं कहने ही क्यों लगा? बात तो तुम्हारे-मेरे बीचकी थी। फिर किसी दूसरेसे कहनेसे लाभ ही क्या था? कोरी सहानुभूति चाहे वह भले ही दिखा देता, पर बादको मनमें हंसता और कहता कि अच्छे आये यह भी प्रेमके एक नये शिकार। जग-हँसाईसे मैं बेहद डरता हूँ। तुम्हारी बदनामीका भी विचार मेरे ओठोंमें ताला डाल देता। ऐसी दशामें चुप-चाप ही सब सहता और दिल विरहकी भयंकर ज्वालामें जला करता। पत्र लिखकर कुछ-न कुछ शान्ति अवश्य मुझे मिल जाती थी। और यदि कुछ न होता तो इतना ही क्या कम था कि इसी बहाने, तुमसे चौबीस घण्टोंमें कुछ देरके लिए बातें कर लेता था, तुम्हारे नामके जपके साथ-साथ तुम्हें खरी-खोटी सुना लेता था। खफा न होना; प्रेमीकी खरी-खोटी बातें भी सिर्फ मिलन-आरज़ूके अलावा और कुछ नहीं होतीं। उसके

बिगड़नेमें भी दीनताकी पुकार है, रूठनेमें भी शिक्षाकी अदा है।

खैर, जाने दो इन बातोंको। इनमें क्या धरा है। आज अन्तिम पत्र लिख रहा हूँ। तुमतक पहुँचे या न पहुँचे, मुझे अब इसकी कुछ परवाह नहीं है। क्यों? आश्चर्यसे तुम पूछ सकती हो। इसका उत्तर मैं और कुछ न दूँगा। इसी पत्रके ऊपर मैंने किसी अज्ञात कविकी जो पंक्तियाँ लिखी हैं, उन्हींमें मेरा उत्तर तुम्हें मिलेगा। बहुत दिन हुए, जब मैंने इन पंक्तियोंको पहली बार सुना था उस समय मैंने इन्हें अपनी नोट-बुकमें नकल कर लिया था। उसके बाद बरसोंतक उन्हें भूल-सा गया था। जब यहाँ आया तब कुछ किताबें और पुरानी नोट-बुकें अपने साथ लेता आया था। उन्हींमेंसे प्रातःकाल कुछ भजन या गीत पढ़ा करता था। एक दिन अकस्मात् इस गीतपर नजर पड़ गई। उस दिनसे इसीको दोहराने लगा। इसकी ध्वनि मेरे कानोंमें समा-सी गई और मैं जहाँ अँधेरेमें भटक रहा था, वहाँ एका-एक प्रकाश-सा फैलने लगा। तुम्हारी ओरसे जो शङ्काएँ मेरे हृदयमें बहुत दिनोंसे उछल-कूद मचातीं और व्यर्थमें परेशान किए रहती थीं, उनका भी जवाब इस गीतसे मुझे मिला। फिर क्या था? यही गीत मेरी गीता बन गई और मौके-बे-मौके इसीके पदोंको गुनगुनाया करता था। परन्तु मैंने इसमें कुछ उलट-फेर कर लिया था थोड़ेसे शब्द बदल दिये। अज्ञात कविसे अपनी इस धृष्टताके लिए मैं माफी चाहता हूँ। जो रूपान्तर मैंने इस गीतका किया है, उसे तुम्हारे विनोदके लिए नीचे लिखता हूँ:—

"मैं ढूंढ़ थका हूं बनमें, तुम छिपी छली हो मनमें॥
मैं बिरह-गीत तज दूँगा। बिखरे आँसू गूथूँगा॥
गाऊँके प्रेम-भजनमें। फिर अब न थकूँगा बनमें॥
मैं मग क्यों अमित निहारूँ। जगकी ठोकरसे हारूँ॥
तुम तो हो मेरे मनमें। क्यों ढूँढ़ थकूँ मैं बनमें॥"

दुनियाँमें इससे कहीं सरस और मर्मस्पर्शी गीत हैं। इससे कहीं अच्छे गीत तुमने और मैंने अपने जीवनमें एक बार नहीं अनेक बार सुने हैं। लेकिन अवसरने इस गीतको मेरी निगाहमें अनमोल बना दिया। इसलिए मुझे तो बहुत ही प्यारा मालूम होता है। मनमें रमती है जो देवी, उसको बनमें ढूँढ़ने जाना और व्यर्थकी तलाशमें थकना कहाँकी बुद्धिमता है? सचमुच, तुम्हारी मूर्तिने तो मेरे हृदयमें अपना सिंहासन जमाया है। पागल ही तो था कि तुमसे भागकर यहाँ जङ्गलमें तुम्हें ढूँढ़ रहा था। 'मैं ढूँढ़ थका हूँ बन में।' और तुम विराजमान थी मेरे मनमें। कितनी छलिया निकली? कितना निठुर कपट किया? या दोष मेरा ही था कि मैंने अपनी भूल इतने दिनोंके बाद पकड़ पाई। प्रेमको कवियोंकी कल्पनाने आँखोंसे वञ्चित रक्खा है। मैं भी प्रेममें अन्धा हो गया था। इसीलिए सत्यसे इतनी दूर भटक गया। खैर, भला हो उस कविका, जिसने मेरी मरी हुई आशाओंको फिरसे हरा-भरा कर दिया। बनमें आया था मनके मैलको टटोलने। मनका मैल धुला नहीं कि तुम मुझे मनके अन्दर ही मिल गई। और क्या श्रीगौरीका सीताजीको यह बरदान कभी असत्य हो सकता है—"जिहिकर जिहिकर सत्य सनेहू। सो तिहि मिलै न कछु सन्देहू।" प्रेमकी अजेय शक्तिके सामने क्या सम्भव नहीं है? इसके प्रभावसे तो नन्ददासके शब्दोंमें—

"सिला सलिल ह्वै चलीं सलिल ह्वै रह्यौ सिला पुनि।"

पाषाण भी पिघलकर बह निकलता है और पानी भी पथरा जाता है—यदि प्रेम सच्चा हो। फिर, क्यों इधर-उधर मारा-मारा भटकता फिरूँ? तुम्हारे द्वारपर धूनी रमा चिमटा न गाड़ूँ? इस दृष्टिसे मेरा तुम्हें छोड़कर यहाँ आना सरासर भूल ही थी। लेकिन नहीं, इस अनुभव का अनमोल मोल है; क्योंकि इस गूढ़ सत्यको जितनी आसानीसे अब मैं समझ सका हूँ, उतनी आसानीसे तब न समझ सका था और न तुम्हारे पास ठहरकर ही दिनरातके झमेलोंमें आत्म-निरीक्षणका काफी मौका मिलता कि मैं

अपने-आपको पहिचानता या तुम्हारे प्रेमके सच्चे स्वरूपको जान पाता।

मैं किस परिणामपर इतने दिनोंकी तपश्चर्याके बाद आया हूँ, सो भी तुम्हें एक बङ्गाली कविकी नीचे दी हुई पंक्तियोंमें व्यक्त ही क्यों न कर दूँ :—

"सती असती, तोमाके विदित
भालो मन्दो जानी नाई।
कहे चण्डीदास, पाप-पुण्य सम,
युगल चरन मानी॥"

ठीक है, मुझे सती समझो, असती समझो, यह तुम्हारी मर्जीपर निर्भर है; मुझे तो अब इस प्रेमके प्रभावके कारण इतनी बुद्धि रही नहीं कि मैं स्वयम् भले-बुरेके भेद-भावको समझ सकूँ। तुम्हारे चरणोंको पकड़कर मैं तो अब बैठा हूँ। यदि जो कुछ मैं कर रहा हूँ, वह पाप है तो भी वह पाप मेरे लिए पुण्यहीके समान है। प्रेमकी धारामें अपवित्र भी पवित्र हो जाता है, यदि लगन सच्ची हो, यदि उसमें तन्मयता हो और साथ ही यदि उसमें कामुकताकी दुर्गन्धि न लिपटी हो। मैंने अपने हृदयको खूब अच्छी तरहसे टटोला है और मैं बलपूर्वक अब यह कहनेका दावा करता हूँ कि कामुकताका मेरे प्रेममें नामोनिशान भी नहीं है। त्याग ही प्रेमकी कसौटी है और तुम्हारे हितमें मैं सर्वस्वको त्यागनेके लिए तैयार हूँ। कामना भी मुझे किसी बातकी नहीं है—सिर्फ एक ही बातकी कामना है और वह है, तुम्हें सुखी बनानेकी अभिलाषा। जिसमें तुम्हारा हित हो, जिसमें तुम्हारी बात बने, जिससे तुम सुखी हो, वही मैं करूँगा, उसीमें मैं अपना सुख समझूँगा। मेरे अलग रहनेहीमें यदि तुम्हारा सुख सम्भव है, तो राधे, मैं वह भी करनेको तैयार हूँ। प्रेम किया : फिर आगा-पीछा देखनेकी कौन-सी बात? उसकी पुनीत पुकारसे आनाकानी यदि कोई करना भी चाहे तो कैसे कर सकता है? 'प्राणन बाजी राखिए, हार होय या जीत।'

आओ, चलते-चलते तुम्हारे साथ मेरा जो सम्बन्ध है, उस पर एक सरसरी नजर तो दौड़ा लें।

तुम्हारे साथ मेरा सात्त्विक सम्बन्ध है। मैं उसे प्रकट रूपमें देखना चाहता हूँ! तुम उसे गुप्त ही रखना चाहती हो। तुम्हें सूरदास-से अनुभवी कविके वचनमें कुछ भी विश्वास नहीं है कि 'दुरै न प्रेम अरु सुगन्धिकी चोरी।' तुम समझती हो कि अभी कुछ दिनोंतक यह प्रेम-कथा गुप्त ही रहे। घरवाले भी न जानें। लेकिन जीवनमें सचाई और सफाईसे अच्छी नीति और कोई नहीं है। लाख मैं सिर धुन चुका, पर तुमने एक न सुनी। खैर, जैसी तुम्हारी इच्छा। जो चाहो वही होगा। मैं अपनी जबान न खोलूँगा; परन्तु क्या तुम उस चोरीको बहुत दिनोंतक छिपा सकोगी? क्या अभी तुम्हारी बातों और बातोंसे भी बढ़कर तुम्हारी हरकतोंसे लोगोंमें इस सम्बन्धमें कानाफूसी नहीं जारी है? चवाइनोंमें चर्चा तुमने नहीं सुनी? फिर तुम्हीं बताओ, उस रहस्यको रहस्य कहना कहाँकी बुद्धिमानी है, जिसका भण्डा रोज ही सैकड़ों जबानोंसे फूटता रहता है? तुम सरासर अपने आपको धोखा देती हो कि जो मैं करूँ उसे खुदा भी नहीं जानता। खुदा को कौन कहे, तुम्हारे पड़ोसीतक तुम्हारे नेहकी बाबत आपसमें काना-फूसी करने लगे हैं। परन्तु मुझे न तो इसका भय है, और न इसकी चिन्ता। तुम्हारा प्रेम कोई ऐसी-वैसी चीज नहीं है, जिसको पाकर मैं अपनेको इन्द्रसे अधिक सौभाग्यशाली न समझूँ। फिर उसे छिपानेकी मुझे क्या जरूरत? कहती हो कि अभी थोड़े दिनोंतक उसे अप्रकट ही रहने दो। आज्ञा शिरोधार्य है, परन्तु उसका अर्थ होगा कि मैं तुमसे कोसों दूर रहूँ। है स्वीकार? स्वीकार न होता तो मुझे अपने पाससे खदेड़ही क्यों देतीं?

दूर तो रहूँगा, पर क्या इसके कारण तुम मुझे भूल न जाओगी? कहते हैं कि 'आँखिन देखे चेतना, मुख देखे व्यवहार।' यदि यह सत्य है और इस बात का खतरा है कि तुमसे अगर मैं बराबर न मिलता रहा तो तुम मुझे भुला दोगी—यदि यह सत्य है तो फिर मेरा दूर रहना और भी

अधिक आवश्यक है। सच्चा प्रेम घटता नहीं, उल्टे बढ़ता है, यदि प्रेमीकी गैरहाजिरीका सबब उसकी लापरवाही के वजहसे नहीं, किन्तु प्रेमिकाकी हित-चिन्तनाकी वजहसे हो। मैं तुम्हारी कीर्तिको सदा उज्ज्वल देखना चाहता हूँ। तुमने एक बार मुझसे कहा था कि यदि मान न रहा तो मर जाना अच्छा है। ऐसी दशामें तुम्हारे प्रेमीका कर्तव्य और उसका धर्म यही सीख देगा कि मैं तुमसे दूर ही रहूँ, ताकि पड़ोसियोंकी आँखोंमें हम दोनों खटकने न लगें। काश्मीरकी बात दूसरी थी। अब तुम अपने घरपर हो। तुम्हारे साथ जो नौकर-नौकरानियाँ पहाड़पर गये थे, उनमें हम दोनोंके प्रेमकी बाबत काफी चहल-पहल मची थी। अपने प्रेमके आवेशमें मदके उद्रेकमें, तुमने उधर ध्यान भी न दिया था। देखा भी तो परवा नहीं। सुनीको अनसुनी कर गईं। घर लौटकर यह निश्चित है, वे बिटियाके प्रेम की कहानी काफी नमक-मिर्च लगाकर दूसरोंसे कहेंगी। उसपर यदि मैं भी तुम्हारे घर न जाऊँ तो फिर किसी दूसरे प्रमाणकी जरूरत ही न रह जायगी। इस बातकी सच्चाईको साबित करनेके लिए कि हम दोनों अब ऐसे पुनीत पाशमें बँध गये हैं कि मृत्युके अलावा कोई दूसरी शक्ति उसे खोलनेमें समर्थ नहीं हो सकती। फिर, तुम्हारी सहेलियाँ क्यों चुप बैठने लगीं? अतएव, तुम्हारी आज्ञाके पालनहीका यह पहला उपहार मिल रहा है कि मैं तुमसे दूर रहूँ। जब प्रेमका वाग्दान न हुआ था, तब तो मैं तुम्हारे पास महीनों रह सकता था और अब आज, जब संसारमें सबसे अधिक मैं तुम्हारे करीब हूँ, तब विवश होकर मुझे खुद ही तुमसे दूर रहना पड़ रहा है। बलिहारी है इस प्रेमकी, जिसके राज्यमें मुझे देश निकालेकी यह आज्ञा मिल रही है! भगवान् तुम्हारा भला करें। इससे अधिक और मैं कही क्या सकता हूँ? फिर भी यही कहूँगा कि "दुरै न प्रेम अरु सुगन्धि-की चोरी।"

सचमुच, पागल हो गया हूँ। देखो न कैसी बातें कर रहा हूँ। आया हूँ तुमसे लड़कर, और बात ऐसी करता हूँ कि मानो दोनोंमें पहलेहीका-सा

प्रेम मौजूद है। आशा भी खूब छलना जानती है। ऊपर जो कुछ मिलने न-मिलनेके सम्बन्धमें मैंने लिखा है, उससे तो यही टपकता है कि हम दोनोंमें कोई अन्तर पड़ा ही नहीं। कितनी घातक व्यञ्जना है, आशाका कैसा भुलावा है। स्वप्नको भी कितनी जल्दीमें मैं सत्य समझ बैठता हूं। असलियत तो यह है कि तुमने मुझे ठुकरा दिया, अपने पाससे निकाल भगाया। तरह-तरहके झूठे लाञ्छन लगाये। विकल होकर मैं महीनेसे अधिक वहाँपर पड़ा-पड़ा तड़पा और जमीनको अपने गर्म आँसुओंसे सींचता रहा। मेरे पास कोई दूसरा चारा न था। बेचारी वेदना करुणासे दुखित होकर मेरे पास बैठी-बैठी रोती रही और सहानुभूतिसे मेरी संगिनी बनकर मेरा दुःख उसने बंटाया। मेरी इस दीन दशापर तुम्हें न तो तरस आया और न तो दयासे तुम पिघलीं। वेदना रोई भी, साथ और पास रही भी। तुम्हारे स्थानको उसने पूरा किया। कहो, इसका हृदय अधिक कोमल है या उसका?

याद है, तुमने मेरे ऊपर क्या इलजाम लगाया था? तुमने कहा था कि मैं वासनाका गुलाम हूँ और प्रेमका ढोंग रचता हूँ। और पिछले तीन पत्रोंमें मैं वासनाके विषयमें अपने विचारोंको स्पष्टरूपसे प्रकट कर चुका हूं। मुझमें वासना है। पर वासना होती किसमें नहीं? कामुकताको मैं वासना नहीं कहता। मैं न विरक्त बननेका दम्भ ही रचता हूँ। मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ। प्रेममें सौदा नहीं और प्रेममें तन और मनका भेद नहीं। जैसा मैं कह चुका हूँ, मैं तो प्रेमके माध्यमिक पन्थका पन्थी हूँ—इसी पथका पथिक हूँ। मैं न तो कुत्ता-पन्थी हूँ और न हिजड़ा पन्थी। तनसे मुझे न घृणा है और न मैं उसे लज्जाकी वस्तु ही समझता हूँ। हाँ, मनका लोभी नहीं और न हाड़-मांसकी दूकानपर उसका आजतक कभी सौदा ही किया। शुद्ध निष्ठा और भक्तिसे मैंने जिस देवीके चरणोंमें मन अर्पित किया उसीका सदाके लिए न केवल मनहीसे, किन्तु तन-मनसे हो गया। पति-व्रतका हमारा आदर्श भी तो यही है।

\+ \+ \+

मैंने तुम्हें जो अन्तिम पत्र लिखना शुरू किया था वह कई कारणोंसे अधूरा ही रह गया था ; उसीकी पूर्ति करता हूँ। अन्तिम पंक्तिमें मैंने ज्यों ही लिखा कि "मैंने जिस देवीको अपना मन दिया है, उसीको 'तन' भी अर्पित करता हूँ", त्यों ही, दो पुरानी बातें फिरसे बरबस जाग उठीं, जिनके कारण तुम मुझसे रूठी थीं। मुझसे तुम्हारी लड़ाई इसी 'तन' शब्दके ऊपर हुई थी। तुम चाहती हो कि तुम तन दूसरेको दो और मन मुझे; क्योंकि मन बरबस तुम्हारे काबूसे बेकाबू हो गया और उसे यदि वापिस लेना भी चाहो तो नहीं ले सकती हो। तुम्हारे विचारसे, प्रेमकी पवित्रताके लिए यह जरूरी है कि परस्परका सम्बन्ध एकदम निरिन्द्रिय हो—ऐसा सम्बन्ध हो, जिसमें शरीरका नाम भी न आने पाये। दो आत्माओंका सम्मिलन, मैं भी मानता हूँ, सच्चे प्रेमका नाम है। मैं यह जानता हूँ कि संसारमें इन्द्रियलोलुपोंने इन्द्रियोंकी उपासनाहीको प्रेमके पवित्र नामसे पुकारा है। परन्तु आत्मा तो शरीरसे भिन्न है। क्या तुम या मैं नहीं देखता हूँ कि दुनियामें कितनी अशान्ति और कितना भीषण कलह फैल रहा है। आजके दो प्रेमी, कलके प्राणोंके प्यारे दुश्मन हो जाते। जहाँ कल दो व्यक्ति एक दूसरेको बिना देखे जीवित नहीं रह सकते थे, वहाँ आज वे ही एक दूसरेका नाम नहीं सुनना चाहते। इसका कारण सिर्फ यही है कि अधिकांश लोगोंके विषयमें कामकी तृष्णा, रूप और यौवनकी चाह एकको दूसरेकी ओर खींच लाई थी। प्यास थी, पानी मिला, तृप्ति हुई और चाहकी जगहपर विरक्ति या उदासीनताने आकर अड्डा जमा लिया। इसीलिए ऐसे सम्बन्ध कभी स्थायी नहीं होते। किसीकी जवानी सदा नहीं [illegible]। रूप ही एक-सा बना रहता है। जहाँ रूपके जादूने [illegible] खींचा, वहाँ उस रूपके ढलनेपर उस जादूका खिंचाव जाता रहता है। [illegible] रहनेवाली स्त्रियोंकी [illegible]-कहानी ऐसे [illegible]की निस्सारता और अनस्थिरताका सबक हमें नित्य पढ़ाती है। इसलिए मैंने अपने जीवनमें तनकी पूजाको कभी कुछ भी महत्व नहीं

दिया है; क्योंकि उसका निश्चित परिणाम है—असन्तोष, श्रद्धाका ह्रास, विरक्ति और अन्तमें विच्छेद। यह वह पङ्क है, जो हमें न केवल गन्दा करता है, किन्तु जो फिर कभी छुड़ाये भी नहीं छूटता। नहीं-नहीं, हाड़-चामके बाजारमें भूलकर भी मैं कभी सौदा करने नहीं गया; और न मैं चाहूँगा कि मेरा कोई स्वजन ही इसकी तड़क-भड़कके भुलावेमें फँस सुखके फेरमें दुःखको, अपनी आत्माको बेचकर खरीदे। हिन्दू-संस्कृति और हमारी जातिके आदर्शोंके यह बिल्कुल विपरीत है। विवाह-संस्कार दो प्राणियोंका आजीवन मेल है—आजीवन ही मेल क्यों—युग-युगान्तरोंके लिए अमिट और अटूट बन्धन है। लेकिन उसके असली रूपको हम भूलकर आज-दिन अक्षरकी पूजामें, अनन्त परिवारोंकी सुख-शान्तिकी कलहकी ज्वालामें आहुति करते हैं। हमारा विवाह-संस्कार भी क्या खूब ढोंग है! संस्कार है या पापाचारका खुला पट्टा? दो प्राणियोंका मेल है या इन्द्रियोपासनाका एक सरल साधन? धर्म है या अधर्म? कन्यादानसे अधिक पवित्र दान संसारमें कोई नहीं। लेकिन वही दान सच्चा दान है, जिसे कन्या खुद दे। असलमें कन्यादान या कन्या द्वारा दिया गया दान। वह देती थी अपनी स्वेच्छासे अपने प्रेम और तनका दान। परन्तु अब उसका अर्थ हमारे समाजमें हो गया है कन्याके तनका दान और दान देनेका अधिकार उस बेचारीके हाथसे छीनकर अपने हाथमें ले लिया है उसके घरवालोंने! क्या ढोंग है, क्या ढकोसला; क्या जाल है और कितनी मक्कारी! और सबसे अचरजकी बात तो यह है कि तुम भी इस तरहके सौदेका स्वागत करनेके लिए तैयार हो! इतना ही नहीं, बल्कि जब मैं तुमसे चिरस्थायी आमरण प्रणयकी भिक्षा माँगता हूँ, तब कहती हो कि प्रेम तुमसे करूँगी, लेकिन तन उसका होगा, जिसे घरवाले देनेको कहेंगे। सावित्रीकी कथा तो तुमने कई बार मुझे सुनाई है, दमयन्तीका नाम और कथानक भी तुम्हें मालूम है। श्रीसीता सतीशिरोमणि थीं। उमाकी आराधना हमारे घरोंमें प्रचलित है। तुम्हीं सोचो कि तुम

जो करने जा रही हो, क्या वह ठीक है ? मेरी बात न मानो, क्योंकि स्वार्थके कारण उसमें पक्षपात हो सकता है। परन्तु अपने हृदयसे पूछ देखो। जो वह सलाह दे, उससे तो आनाकानी न करो। मुझे छोड़ना चाहती हो, छोड़ दो। मुझे वही मंजूर है, जिसमें तुम्हारा हित हो, जिससे तुम्हें सुख मिले। परन्तु, ईश्वरके लिए, विवाहके संस्कारको सुविधाका सौदा न समझो। यह उस पुरुषके साथ अन्याय और पापाचार होगा, जिसे तुम वरोगी, अपने मनके साथ नहीं ; किन्तु मनके विरोध होते हुए महज दूसरोंके खुश करनेके लिए। तुम कुलवती हो, शिक्षिता हो और तुम्हें भले-बुरेका ज्ञान भी है। सोचो तो सही, ऐसे विवाहसे बाजारू सम्बन्ध किस तरहसे अधिक घृणित और त्याज्य है ? भेद केवल इतना ही है कि एक स्थायी और दूसरा अस्थायी होता है। परन्तु दोनोंहीकी तहमें अर्थ-लाभ ही प्रेरक भाव होता है। तो फिर क्या हमारा विवाह-संस्कार स्त्रीके लिये रोटी-कपड़े कमानेका एक व्यवसाय-मात्र है ? यदि मन मुझे दिया तो तुम्हें मेरी ही होना चाहिए। नहीं तो मुझे भूलकर किसी दूसरेको अपने प्रेमके दानसे कृतार्थ करो। मैं तुमसे दूर ही रहूँगा ; तुम्हें दुख देने पास भी न फटकूँगा। हाँ, सेवाका अधिकार मैं अवश्य चाहूँगा ; परन्तु वह भी एक ही शर्तपर कि मेरे कारण तुम्हें किसी तरहका भी संकोच न हो।

खफा न होना, और न यही समझना कि मैं चिढ़कर जली-कटी बातें लिख रहा हूँ। किससे चिढ़ूँगा, और किस मुँहसे जली-कटी बातें करूँगा ? जो कुछ ऊपर मैंने लिखा है वह केवल तुम्हारी हित-चिन्ताके वशमें होकर ही लिखा है, तुम मानो या न मानो। प्रेमको लोग अन्धा कहते हैं, लेकिन असलमें उस प्रलोभनको वह ठीक ठीक समझ नहीं पाते हैं। उनकी बुद्धिमें वह स्वार्थ और वासनासे [illegible] होकर [illegible] देखनेकी शक्ति खो [illegible] है। इसलिए वह भी अन्धा [illegible] है। परन्तु वह तो प्रेमका अप-[illegible] करना है। वह प्रेम नहीं—[illegible] है, [illegible] रूप-यौवन-को भोगनेकी सर्व-ग्राहिणी लालसा-रूपिणी [illegible] है। इसीको कामुकताकी



रूप और सौन्दर्यका अन्तिम परिणाम

मदान्धता समझना चाहिए। सच्चा प्रेमी तो प्रेमिकाके प्रेममें इतना डूब जाता है कि उसे अपना या अपने स्वार्थका कुछ ख्याल भी नहीं रहता—

"जब मैं था तब तुम नहीं, अब तुम हो मैं नाहिं।
प्रेम-गली अति साँकरी, यामें दो न समाहिं॥"

कबीरके दोहेको उलटकर, ऊपरका उद्धृत रूपान्तर जो मैंने दिया है, वही सच्चे प्रेमका असली मन्त्र है। ठीक है, क्योंकि—

"लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।"

क्यों ऐसा होता है? इसलिए कि—

"लाली मेरे लाल की, जहँ देखो तहँ लाल।"

अतएव कबीरके शब्दोंमें सच्चे प्रेमीकी यही चाह रहती है कि वह अपना शीश काटकर प्रेमिकाके चरणोंपर अर्पित करनेके लिए सदा ही तैयार रहे—तनका शीश नहीं, किन्तु अपने स्वार्थके शीशको जो काट डाले, वही इस पथका पथिक बन सकता है, क्योंकि—

"यह तो घर है प्रेमका, खालाका घर नाहिं।
सीस काटि भुइँमें धरै, तब पैठै घर माहिं॥
सीस काटि भुइँमें धरै, तापर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव॥"

तभी तो मन्सूरने सूलीपरसे चिल्लाकर प्रेमियोंको ललकारा था:—

"चढ़ा मन्सूर सूलीपर, पुकारा इश्कबाजों को।
यही है बामका जीना, वह आये जिसका जी चाहे॥"

प्रेम सचमुच अन्धा है। उसे अपने बनने-बिगड़नेकी कुछ भी चिन्ता नहीं रहती। अपना सर्वस्व लुटानेही में उसे परमानन्द मिलता है, अपनेको खोकर ही वह प्रेमिकाके हृदयका अधिकारी बन सकता है। प्रेम जहाँ क्षमाका नाम है, वहाँ वह त्यागकी अन्तरात्मा है। वेदना उसका भाई

और संयम उसका सहायक है। करुणा उसकी जननी है। सौन्दर्यका सहचर होते हुए भी, वह आत्म-विस्मृतिका समूर्त अवतार है। बलिदानके लिए अपनेको अपनी इच्छाओं और कामनाओं, अपने अरमानों और हसरतोंको वह सदा समर्पित करनेकी टोहमें रहता है। उसमें वासना तो केवल इस बातकी बच रहती है कि प्रेमियोंके हितमें कब और कैसे वह अपने आपको मिटा सकता है। 'लल्ला ला' का उसे ज्ञान मरणान्त भी नहीं होता। दिन-रात वह एक ही अक्षर रटा करता है, और वह अक्षर है, 'दद्दा दा'। तभी उसमें तन्मयता और तल्लीनताका होना सम्भव होता है। नहीं तो अधकच्चरा ही, पथ-भ्रष्ट होनेके बाद, आप कामके पङ्कमें फँसकर वह प्रेम, प्रेमिका और अपनी आत्माको खो देता है। यही इस पथके पथिकका बाना है, यही सनातनधर्म है, यही अनुभव-सिद्ध सत्य है। फिर तुम्हें मेरी बातें क्यों अटपटी मालूम हों? अपने दिलसे तो पूछ देखो। 'अपने हियसे पूछिए, मेरे हियकी बात।'

जाने भी दो। हम दोनोंको तो अपने आपसी झगड़ोंको तय करनेके लिए, भगवान्‌ने यदि चाहा तो, हजारों अवसर अभी हाथ लगेंगे। तब आरामसे बैठकर इनका निबटारा आसानीसे कर लेंगे। लेकिन इस समय तो कामकी बातें ही मैं करना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि यदि हम दोनोंको फिर मिलना है तो पारस्परिक सम्बन्धके मूल सिद्धान्तोंको तो समझ लें। यदि तुम्हारी राय इन मामलोंमें मेरे मतसे भिन्न है तो मैं अपना ही दुर्भाग्य समझूँगा, तुम्हें दोष न दूंगा। लेकिन यह भी समझ लूँगा कि जीवनमें तुम मेरे साथ कदमपर-कदम बढ़ाना नहीं चाहती हो, किसी दूसरे ही मार्गसे और किसी दूसरेहीके साथ चलना तुम्हें अधिक पसन्द है। मैं रोऊँ भले ही, तुम्हें न कोसूँगा और न भला-बुरा ही कहूंगा। यही सोचूँगा कि यही क्या कम सौभाग्यकी बात है कि कुछ क्षणोंके लिए हमदोनोंकी जीवन-रेखाएँ मिलकर साथ-साथ चलीं। इसीकी स्मृति मुझे अपनी निराशा और विषम वेदनासे टूक-टूक की हुई जिन्दगीको गुजारनेमें

ढाढ़स बँधायेगी और पीड़ामें सुखकी झलक दिखाई देगी। वह पीड़ा भी मुझे प्यारी मालूम होगी, क्योंकि उसे तुम्हीसे मैंने पाया होगा। मैं कितना अभागा होऊँगा, यदि मैं तुम्हारे इस उपकारका बदला उपालम्भसे दूँ या इस उपहारको गलेमें पहनकर भी तुम्हारी निन्दा कर कृतघ्नताका भागी बनूँ। फिर तुम यदि पीड़ा और वेदनाका विष प्याला पीनेको दोगी तो 'मान' से दोगी और उसे पीकर मैं भी शङ्कर बन जाऊँगा, क्योंकि—

"मान सहित विष खायके, शम्भु भये जगदीश।
बिना मान अमृत पिये, राहु कटायो शीश॥"

याद रखना देवि, 'मान' से यदि तुम मुझे हटा भी दोगी, किन्तु मनसे नहीं, तो भी मैं 'जगदीश' ही बना रहूँगा; पर प्रेमरूपी मानके बिना जिसे तुम रूप सुधा पिलाओगी, वह बेचारा राहुकी तरह जीकर भी अधमरा ही रहेगा। इसीलिए फिर कहता हूँ, जिसे मन दिया उससे मान करना छोड़ दो और मानपूर्वक उसे अपना लो, उसके प्रेमकी प्रार्थनाको अङ्गीकार करनेका परम अनुग्रह करो। मानकी भी हद होती है। बहुत रुला चुकीं, बहुत आजमा भी लिया। मानको भूल जाओ, मनकी ओर निहारो। मनका अन्तर निकालकर मेरी विनतीका और अपने हृदयकी मनुहारका मान करो। नेहकी नीति बनो, अनीतिको छोड़ो, और नरमें जहाँ नारायणकी पूजा करती हो, वहाँ नारायणमें नरका अपमान करना न सीखो। मनुष्य यदि आत्मा है तो उसके तन भी है। न वह विशुद्ध आत्मा है और न निरी हाड़-मांसकी लोथ ही है! जैसे सितारमें सङ्गीत और पुष्पमें सुगन्धि है, चाँदमें चाँदनी और दीपमें प्रकाश है, वैसे ही तनमें आत्मा है। दोनोंहीका इस जीवनमें अभिन्न संयोग है और आत्माका आत्मासे पूर्ण सम्मिलन तभी सम्भव है, जब मन और तनके झूठे भेदको भुलाकर दुर्दमनीय उत्कण्ठा दोनोंको तन्मयताकी सिद्धिकी ओर द्रुत गतिसे बढ़नेके लिए आकुल कर दे। वियोगकी तीव्रता संयोगकी पूर्णताको सूचित करती है। यदि यह ठीक है तो फिर नाराजी किस बातकी?

बहुतसे लोग निरिन्द्रिय प्रेमका दावा रखते हैं। ग्रीसके प्रसिद्ध दार्शनिक प्लैटोने इस तरहकी प्रीतिपर बहुत कुछ लिखा है। इसीलिए उसका नाम प्लैटानिक प्रेम पड़ गया है। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि जिस देश और युगमें प्लैटोका जन्म हुआ, उसमें युवकोंके रूप-लावण्यको, युवतियोंके सौन्दर्यसे अधिक महत्त्व दिया जाता था। हिजड़ा-परिश्रमोंकी उसी समयसे संसारमें काफी आवभगत रही है। विशिष्ट आत्माएं अनादि कालसे मनुष्यके जानेको पापका धाम मानती चली आई हैं। इसीलिए उन्होंने वे उग्र तप निकाले, जिनका हाल पढ़कर रोंगटे आज भी खड़े हो जाते हैं। परन्तु यह कितने अचरजकी बात है कि ऐसे ही पुरुष भगवान्की भक्तिमें भी अग्रगण्य हुए हैं—उसी भगवान्की, जिसने विश्वकी अनन्त सुन्दर विभूतियोंके साथ-साथ नर-तनकी भी रचना की और उसीमें अपने अंशका आत्माके रूपमें निवास कराया। प्रभुकी प्रभुताका बखान करने वाले ही प्रभुकी बनाई हुई एक वस्तुका इतना घोर अपमान करें और उसपर भी उसकी अनन्त पवित्रता और अभिज्ञताकी दुहाई दें—यह आसानीसे समझमें नहीं आता। जिन्होंने संसारको छोड़नेपर अधिक जोर दिया है, उन्हें भी रूप-लावण्यके प्रलोभनका भूत रात-दिन इतना सताता रहा कि वे उससे भागनेहीमें, अपनी सारी शक्तिको खर्च करनेमें लगे रहे।

सच तो यह है कि मनुष्य-तन न पवित्र है और न अपवित्र, जैसे प्रकृतिके सारे पदार्थ न पवित्र और न अपवित्र होते हैं। उनके उपयोगका ढंग उन्हें पवित्र या अपवित्र कर देता है। कामीका शरीर अपवित्र इसलिए माना गया है कि उसका अनुचित कामोंमें उपयोग होता है। लेकिन पतिव्रताके शरीरपर कबीरदासके शब्दोंमें 'मैं तो वारौं रूप करोड़' चाहे वह कितना ही मैलाकुचैला क्यों न हो! तन तो उस लोटेकी तरह है, जिसमें पूजाका पानी एक भक्त भरकर अपने आराध्यके चरणोंमें चढ़ाता है। जितनी ही उस भक्तकी श्रद्धा प्रगाढ़ होगी, उतना ही अधिक वह उसे मॉज-मॉजकर चमकायेगा और उसे शुद्ध रखनेकी चेष्टामें रत होगा। तन

मन्दिर है, जिसमें आत्माका निवास है। जितनी ही उच्च और उज्ज्वल आत्मा होगी, उतनी अधिक शुचिता और पवित्रताका उसे ध्यान रहेगा। कौन पूज्यदेवके स्थानको निरन्तर साफ न रखना चाहेगा? स्वस्थ मन और प्रेममें पगी आत्मा जिस तनमें होगी, वही तन कान्ति, शुचिता और निर्मलताका आकर होगा। उसमें वह अपार कान्ति होगी कि देखते ही लोगोंका हृदय उसकी ओर आपसे-आप खिंच जाता है। इसीलिए कामी जहाँ कुत्तापन्थी होता है, वहाँ पतिव्रताके शरीरको यदि पापी छू ले तो वह 'भस्म' हो जायगा। लेकिन सतीके तनपर उसके प्रेम-पात्रका अनियन्त्रित अधिकार है।

ऊपर जो मैंने कहा है, उससे यह बात तो स्पष्ट है कि शरीरका आत्मापर नहीं, किन्तु आत्माका शरीरपर नियन्त्रण होना आवश्यक है। इसीका नाम संयम है, इसको लोग कायिक शुद्धताके नामसे पुकारते हैं। जिसने प्यार किया, किसीसे नेह लगाया, उसके लिए यह असम्भव है कि वह कुत्ता-पन्थका मुरीद बने। उसके लिए प्रणयका व्रत उस महायज्ञके समान है, जिसमें आत्मा अपने दोषों, कामनाओं और कमजोरियोंकी आहुति चढ़ाता और अपने 'सीस' को काटकर अपने स्वार्थकी बलि देता है। जो इस अग्नि-परीक्षामें पूरा न उतरेगा, वह प्रेमके मन्त्रका न तो अधिकारी है और न उसका प्रीतिके लोक में प्रवेश करनेका कुछ हक।

मैं न तो कुत्ता-पन्थी हूँ और न हिजड़ा-पन्थी। जैसा मैं अपने पहले पत्रोंमें कह चुका हूँ, मैं तो माध्यमिक मार्गका अनुगामी हूँ। न तो मुझे तनसे घृणा है और न मैं मनको तनसे इस जीवनमें भिन्न मानता हूँ। मेरी सम्मति में, जहाँ सच्चा प्रेम है वहीं सच्चा संयोग है—वही सच्चा विवाह है। जिसे मन दे, उसीको तन दे। दो तनोंका मिलन, मनमें अन्तर होते हुए, आत्माके प्रति विश्वासघात है, अन्तर्ज्योतिका घोर अनादर है। यह विशुद्ध अनाचार है, नग्न व्यभिचार है; आत्माकी हत्या और पापकी अर्चना है। जो इस रास्तेपर चलेगा, वही अपने-

आपको इस लोक और परलोकमें दुःख और पश्चात्तापका पाहुन बनायेगा।

हरिद्वार

२३-६-१६२३

माननि,

सप्रेम बन्दे। मैंने जो अन्तिम पत्र लिखना शुरू किया था, उसे समाप्त न कर सका; वह अधूरा ही पड़ा रहा। आज कई दिनोंके बाद, उसे पूरा करने बैठा हूँ। कई बार मनमें यह बात आई कि अब और अधिक न लिखूँ। सनक थी, लिखने लगा। परन्तु इन पत्रोंके लिखनेसे लाभ ही क्या? तुम्हारे तो पास ये कभी पहुँचेंगे नहीं। पहुँचें भी तो तुमको इनसे सरोकार ही क्या? कहती तो हो कि तुम मुझे प्यार करती हो और समय यह दिखा देगा कि तुम्हारा प्यार कितना सच्चा है। होगा, मुझे नहीं मालूम। मुझे तो सिर्फ इतना ही मालूम है कि जिसे तुम प्यार कहती हो, वह मेरे प्रति तुम्हारे हृदयमें सिर्फ सम्मानका भाव है। तुमने मुझे निठुर भी कहा और देव-देव भी पुकारा। परन्तु क्षमा करना, अभी-तक तुम्हें यह भी नहीं मालूम कि प्रेम किस वस्तुका नाम है। उसका ककहरा भी तुमने नहीं पढ़ा। ककहरा तो दूरकी बात है। अ आ इ ई तकका तुम्हें बोध नहीं है। खेल-तमाशेका नाम न तो प्रेम है और न किसी व्यक्तिके हृदयके उपहासमें कोई सहृदय क्रीड़ा या मनोविनोदकी तलाश ही करता है। चोचले करना और दूसरोंको सताना प्रेम नहीं, हिंसा है; करुणा नहीं, निर्दयता है; सहानुभूति नहीं, दूसरेके दुःखका अनुभव है! नहीं, सच्चे प्रेमका अभीतक तुम्हारे हृदयमें उदय नहीं हुआ। मानसिक विनोद और यौवनपर इतराना ही अभीतक तुमने जाना है। ईश्वर करे, प्रेमरूपी रोगसे तुम बरसों बची रहो। जिस दिन उसका धावा होगा, उस दिन तुम्हारी यह मस्ती काफूर हो जायगी; और तुम, मेरी ही तरह घायल होकर तड़प-तड़पकर रोती फिरोगी। तब न तनकी

सुध रहेगी और न मनपर काबू। बेचैन, पागल-सी तुम दूसरेकी इच्छापर नाचोगी, उठो-बैठोगी; अपनापन खोकर, दूसरेके रंगमें रँग जाओगी। उसकी खुशीमें तुम्हें स्वर्ग दिखाई देगा; उसके आँसुओंपर तुम्हारा खून बहेगा। वही अकेला तुम्हारा विश्व होगा और सारा विश्व उसके सामने तुम्हारी आँखोंमें विलीन हो जायगा। परन्तु घबरानेकी कोई बात नहीं है। उसे मन दे देना; तन उसे देना जिसके साथ रहनेमें तुम्हें जीवनकी सारी संसारी सुविधाएँ मिल सकें। तनका सौदा ठोंक-बजाकर करना, ताकि पछताना न पड़े। यह न समझो कि मैं तुम्हें शाप दे रहा हूँ या कोसना चाहता हूँ। कदापि नहीं। तुमने तो अपने भविष्यका यही चित्र खींच रक्खा है कि "राजी हैं हम उसीमें, जिसमें तेरी रजा हो।" प्रेमकी वैरागिन तुम नहीं बनना चाहती हो और यदि क्षणिक उत्साह या उन्मादमें तुम जोगिया जामा पहन भी लो तो फिर तमाम जिन्दगी अपनी भूलके लिए पछताती फिरोगी। ऐसी दशामें तुम्हें अस्तुरेकी धारसे भी पतली और कटीली दुर्गम घाटी पार करनेकी सलाह दूँ। जोग रमानेकी कहानी पढ़ना और दो आँसू कमरेमें बैठे-बैठे बहाना एक बात है और खुद जोगी होकर जोग साधना दूसरी बात। दुनियामें एक ही राधा हुई है। नाम तो तुम्हारा भी राधा है, परन्तु उतनी न तो तुम नासमझ हो और न पागल। तुम्हारी बुद्धिमत्ताहीपर तो मैं मुग्ध हूँ। हानि-लाभका जितना खरा हिसाब तुम लगा सकती हो, उतना तो कोई बनिया भी न लगाता होगा। स्थिर-बुद्धिकी संसारको सख्त जरूरत है। खब्तियोंसे कोई क्या आशा कर सकता है? तुम्हारी इसी खूबीपर मैं तो दिलोजानसे फिदा हूँ। एक पागल काफी है। तुम भी अगर पागल हो जाओगी तो काम कैसे चलेगा? घरमें एक-आध सरेख भी होना चाहिए। तुम सरेख हो! और मैं?—मैं तो पागल हूँ, वह दीवाना हूँ, जिसे अपने दीवानेपनका नाज है। मैं इसीमें खुश हूँ, तुमको वही मुबारक हो!

× × ×

मैं कहाँ से कहाँ बहक गया ? क्षमा चाहता हूं। मैं कितना पापी हूँ, कितना नीच, कितना अधम हूँ, कि तुम्हारे प्रेम-दानका इतना अनादर करता हूं, तुम्हारी बातोंको नहीं पतियाता, तुममें इस तरहसे अविश्वास और अश्रद्धा प्रकट करता हूँ। मैं रोषमें या क्षोभमें इस तरहकी जली-कटी बातें क्यों लिख डालता हूँ, जिसको पढ़कर मुझे अपने ऊपर खुद ही क्रोध आता है ? माफ करना। मेरी मूर्खताको, मेरे खब्तको भूल जाना। मैं विछोहसे पागल हो गया हूं। मेरी बुद्धि हर गई है। सनकमें बह जाता हूं। उन्माद ही तो ठहरा। तुम दयाकी मूर्ति हो, करुणाकी अवतार हो। देखो, तुम्हारे निष्ठुर व्यवहारसे मुझे कितनी गहरी चोट पहुँचती है। रह-रहकर उसकी सुध मुझे टीसा करती है, काँटेकी तरह खटकती है। उसी पीड़ासे जब तकलीफ हदसे अधिक बढ़ जाती है, तब अनाप-शनाप बकने लगता हूं। क्षमा करो। अब मेरी भूल कभी न होगी।

मैंने अपने पिछले खतमें 'तन' पर लिखा था। आओ, आज उसी मसले को जहाँ छोड़ा था, वहींसे फिर उठाकर जो कुछ अभी और कहना बाकी है, उसे भी कह सुनाऊँ।

तनपर जो कुछ मैंने लिखा है, उसे देखकर, देवि, यह न समझ बैठना कि मैं 'तनका पुजारी हूँ।' नहीं, ऐसा नहीं है। मैं कुत्ता-पन्थी नहीं। मेरे मनमें जहाँ तन नगण्य नहीं है, वहाँ वह प्रेमका प्रधान कारण भी नहीं है। उसका मान तो इसलिए है कि वह पात्र है उस आत्माका, जिसका मैं प्रेमी हूँ। मैं अघोरी नहीं कि शवसे प्रीति करता फिरूँ। रूप भी अनित्य और अस्थायी है। गुलाबका फूल प्यारा है, इसलिए जरूर कि उसका रूप आँखोंको लुभा लेता है, लेकिन, वास्तवमें, उसकी सुरभि मनको हरती है। यदि ऐसा न होता तो टेसूके फूलको लोग गुलाबसे अधिक प्यार करते होते। कञ्चनसे अधिक रत्नकी प्रतिष्ठा है। सुन्दर शरीर तभी सुन्दर होगा जब उसमें सुन्दर आत्मा का वास हो। नहीं तो यदि कनक-घटमें अमृतके स्थानमें सुरा भरी हो तो कलवरियाको छोड़कर,

दूसरी कौन-सी वह जगह है, जहाँके लोग उसे लेनेके लिए आतुर होंगे। इसी तरह, वे लोग भी उसे अपनानेके लिए दौड़ पड़ेंगे, जो उसके सोनेको बेचकर रुपया कमाना चाहते हैं। समाजमें ऐसे आदमी हैं, जो नर-तनका क्रय-विक्रय करते फिरते हैं। परन्तु उनके घृणित व्यापारकी न तुम प्रशंसा करती हो और न मैं। इसलिए यदि तन नगण्य नहीं है, तो वह, यथार्थमें गौण अति गौण है। प्रेमके जगतमें आत्माहीका आधिपत्य है। दो आत्माओंका संयोग ही नर-योनिमें परम पवित्र माना गया है। क्योंकि इन दो भिन्न जीवोंके मिलनसे दोनोंकी कमी मिट जाती है; दोनों जो पहले अपूर्ण थे, मिलकर सम्पूर्ण हो जाते हैं। दोनों एक प्राण होकर जीवनकी सिद्धि लाभ करते हैं; इस संसारमें अपने आपको सार्थक बनाते हैं, और जहाँ पहले खण्डित होनेके कारण वे असमर्थ और अपाहिज थे वहाँ वे, संयोगके बाद, पूर्ण होकर अपने जीवन धर्मको निबाहनेके लिए समर्थ और सबल हो जाते हैं। प्रेममें यही तो खूबी है कि दो अनमेल आत्माओंको वह उसी तरह एक रूप और एक रस कर देता है, जैसे संसारमें तन-मनका संयोग है। एक होते हुए भी वे दोनों भिन्न हैं; और उनकी भिन्नतामें भी एकता है। 'दो तन एक प्राण' की कहावत प्रसिद्ध है। मनुष्य था पशु और पशु आज भी बना है। लेकिन जहाँ पहले वह निरा पशु था, वहाँ अब उसमें वही देवी, वही ईश्वरीय अंश सजग और सचेत हो गया, जो उसको पशुसे देवता बना सकता है। प्रेमहीमें यह अपार शक्ति है कि हममें जो कुछ खोटापन है उसे जला दे और जो कुछ खरा है उसे अधिकाधिक निखारता जाय। मानव-समाजके विकासका यही रहस्य है। माँको देखो। बच्चेकी रक्षामें वह अपने प्राणोंकी परवाह नहीं करती, यद्यपि प्राणोंकी ममताके आगे दुनियाकी सारी चीजोंको आदमी हँसी-खुशी छोड़नेके लिए तैयार हो जाता है। सावित्रीने इसी तरह अपने प्राणोंको जोखिममें डालकर अपने प्रियतमकी जान बचाई थी। अपनी खुदीको भुलाकर दूसरेके हितमें अपने जीवनकी सफलता, अपना सुख

और कल्याण देखना हमें पहले-पहले प्रेम ही सिखाता है।

तुम कहती हो कि इसी प्रेमके कारण अनादि कालसे स्त्रियोंको पुरुष छलते आए हैं। तुम उन अनेक उदाहरणों को दे सकती हो, जिनसे यह सिद्ध किया जा सकता है कि पुरुषकी नीचताने स्त्रीके प्रेमसे सदा अनुचित लाभ उठाया। स्त्री सचमुच पुरुषकी पशुताका शिकार आज भी बनी हुई है। ऐसी दशामें तुम्हें यदि मेरे प्रेममें अविश्वास है या कभी-कभी उसके बारेमें तुम्हारे हृदयमें शंका उत्पन्न हो आती हो तो कौन-सी अचरजकी बात है ? जो कुछ तुम कहती हो, वह ठीक है। अपनी महारानीकी बात काटनेकी मुझमें हिम्मत कहाँ ? फिर, तुमसे तो जबान लड़ाना भी नहीं चाहता। इतनी बे-अदबी मुझसे न होगी। मैं मानता हूँ कि पुरुष नीच है, लेकिन उसे नीचता के पङ्कसे उठानेकी शक्ति, स्त्रीको छोड़कर और किसमें मिलेगी ! दोनों ही प्रकृतिके हाथके रचे हुए खिलौने हैं। दोनोंही को उसने अपना मतलब पूरा करनेके लिए गढ़ा है। लेकिन गढ़ा है इस खूबीसे कि जबतक दोनों एक न हों, तबतक उसका काम नहीं चल सकता। इसीलिए उसने एकमें दूसरेके लिए वह कशिश भर दी है कि जबतक वे मिलते नहीं, तबतक छटपटाते रहते हैं। इसी कशिश, इसी खिंचाव, इसी आकर्षणको प्रेम या आसक्ति कहते हैं। यह ठीक है कि स्त्री या पुरुष अपनी अपूर्णताके कारण इसी आसक्तिके फन्देमें फँसकर प्रायः अर्थका अनर्थ कर डालते हैं, जिसकी वजहसे उन्हें अपने प्राणों तकसे भी हाथ धोना पड़ता है। भूल-चूककी माफी प्रकृतिके राज्यमें नहीं मिलती। चूके नहीं कि मारे गए।

इन सबके होते हुए भी, क्या तुम्हें इस बातसे इन्कार है कि स्त्री पुरुषसे भिन्न और बड़ी है ? पुरुष, एक लेखकके शब्दोंमें, जहाँ विराम चिह्न है वहाँ स्त्री अल्प-विराम ही है। पुरुष वह पहेली है, जिसका आदि-अन्त सभी को मालूम है। परन्तु स्त्री तो उस पहेलीका नाम है, जिसका कोई उत्तर नहीं। वह सवाल है जिसका कोई जवाब नहीं ; वह समस्या है

जिसका कोई समाधान नहीं। नारी एक अज्ञात रहस्य है—वह रहस्य है, जो अज्ञेय और अगम्य है। संसारकी सारी शक्तियोंकी जहाँ वह अजस्र स्रोत है, वहाँ उस स्रोततक पहुँचनेवाला आजतक कोई माईका लाल पैदा नहीं हुआ, उसपर अधिकार जमाना दूरकी बात है। और पुरुष वैसा ही तो होगा, जैसा उसकी जननी और प्रेमिका उसे बनाएगी। अपने बलपर हम कुछ भी तो नहीं कर-धर सकते। क्योंकि तुम्हीं तो हमें पुरुषार्थ देकर पुरुष बना सकती हो, तुम्हींसे बल पाकर हम बलवान् हो सकते हैं। तुम्हीं, माताके रूपमें हमें जीवनका दान देती हो और प्रेयसी बनकर तुम्हीं हमें स्वार्थको भुलाकर दूसरेके सुख-दुःखके लिए जीना-मरना सिखाती हो। हमारी अपात्रता तुम्हारा कलंक है। हमारी दुर्बलता तुम्हारी देन है। तुम यदि अपने असली स्वरूपको न भूलो और अपात्रोंको उत्साहित करनेकी टेवको छोड़दो, तो देवि, पुरुष अपना कामीपन छोड़ दे और स्त्रीकी अनुचित करुणासे उत्तेजित होकर अपने स्वार्थोंकी पूजा करना भूल जाय। तुम्हीं तो हमें स्वर्ग भेजती हो और तुम्हारी ही बदौलत हम नरकके अतिथि बन जाते हैं। अपनी इस अगम्य, अपार अज्ञेय शक्तिको यदि तुमने न भुलाया होता तो पुरुष अपनी पशुता और पुरुषताको सदियों पहले त्याग चुका होता।

आत्मसमर्पण प्रेमका परिणाम है। परन्तु, देवि, प्रेमके अभावमें कितनी स्त्रियाँ आत्म-समर्पण करनेसे हिचकती हैं। तुम भी तो मन एकको देकर भी तनका समर्पण किसी दूसरेको करने जा रही हो, जिसे समर्पणके लिए तुमने नहीं चुना; बल्कि दूसरे चुन देंगे। ऐसी दशामें यदि कुछ स्त्रियाँ एकसे अधिकको तन देती फिरें तो अचरजकी कौन-सी बात होगी? इससे पुरुषके हौसले बढ़ते और वह नित्य नए शिकारकी खोजमें इधर-उधर व्याकुल घूमा करता है। जब स्त्री अपनी आत्माके खिलाफ दूसरोंके कहनेसे अपने पवित्र तनका सौदा करनेके लिए स्वच्छन्द हो सकती है, तब वह क्षणिक उन्माद या मोहमें गैरोंको भी अपने तनके उपयोगका

अवसर प्रदान कर सकती है। दोष स्त्रीका, पर दोषी पुरुष समझा जाय! बिगड़ें आप, बिगड़नेपर भला-बुरा कहें पुरुषको। यह नीति नहीं, अनीति है; न्याय नहीं, अन्याय है; सत्य नहीं, असत्यका समादर है। तुम तो समझदार हो। विचार तो करो कि जो कुछ मैंने ऊपर कहा है, वह ठीक है या गलत। प्रेमकी हत्या स्त्री करती है या पुरुष? यदि स्त्री इस हत्यामें हाथ बँटानेके लिए राजी न हो तो पुरुष बहुत जल्द इस पथसे मुँह फेर चुका होता। सीता और ताराको देख लो। रावणने लाख कोशिशें कीं, साम, दाम, दण्ड, भेद, सभी कुछ तो उसने बरता; परन्तु उसकी एक भी चाल न चली। सीताके तनपर उसीका अधिकार था, जिसे वह मनसे दे चुकी थीं। यदि उन्होंने भी मन एकको दिया होता और तन दूसरेको, तो रावणको निराश न होना पड़ता। ताराकी कहानी मेरी बात-की सत्यताका प्रमाण है। क्या तुमने अपने पास-पड़ोसहीमें किसी ऐसी देवीको नहीं देखा, जो मनसे तो एकको प्यार करती है, लेकिन तनपर अधिकार दूसरेका है? इसका क्या यह परिणाम नहीं हुआ कि उसका तन सिर्फ दूसरेका नहीं रहा—हो गया वह दूसरेसे दूसरोंका भी। यही 'अघटित' घटना हमारे संसारमें नए रूपोंमें रोज ही घटा करती है। इससे तुम लाख इन्कार करो, इन्कार करना भी चाहो तो इन्कार नहीं कर सकती हो। इस पहलूपर अधिक मैं कुछ न लिखूँगा। अपनी गुस्ताखीके लिए मैं माँफी माँगता हूँ। यदि कोई ऐसी बात कह गया हूँ, जिससे तुम्हें चोट पहुँचे तो क्षमा करना। अप्रिय सत्यके भी कहने और सुननेकी जीवनमें जरूरत होती है। फिर, यदि उसे तुमसे मैं न कहूँगा तो दूसरा और कौन कहने आयेगा। तुममें मेरी जो अगाध श्रद्धा है, जो अपार प्रेम है, उसके नाते मुझे—और सिर्फ मुझे ही—इस संसारमें आज यह हक हासिल है कि मैं साफ-साफ सब बातोंको तुमसे कह दूँ। तुम भी तो मुझे प्यार करती हो। और तुम्हारे ही मुखारविन्दसे तो मैंने यह अनन्त सत्य सीखा है कि अनन्त प्रेममें अनन्त क्षमा होती है। इसलिए, तुम मेरी

बेअदबीको देखकर भी अनदेखी कर [illegible] फिर कभी विभिन्न धाराएँ हो मुझे अपराधी मानते हुए भी, क्षमाके कणोंसे मेरे [illegible] है। मेरा [illegible] अनुकम्पा दिखाओगी।

देवि, मानिनि, बहुत मान हो चुका। बहुत रुलाया, बहुत ही सताया। क्या मेरे लिए यह सजा कम है कि इतने दिनोंसे मैं तुम्हारे दर्शनोंसे विमुख हूँ और तुम्हारी रसभरी, सलोनी आँखोंके देखनेके लिए तड़प रहा हूँ। बहुत हुआ। अब तो पसीजो और दयाकी भीख देकर मुझे निहाल कर दो। तुम्हीं बताओ, तुम्हें छोड़कर मैं अब और कहाँ जाऊँ? तुम्हारा हूँ और तुम्हारा ही सदा रहूँगा। जहाँ कहीं जाऊँगा, तुम्हारे नामसे बिकूँगा।

सुनिए, बिटपचर, पुहुप तिहारे हम,
राखिहौ हमैं तो सोभा रावरी बढ़ावैंगे।
तजिहौ हमैं तो हू बिलग न मानैं कछू;
जहाँ जहाँ जैहैं, तहाँ दूनो जस गावैंगे॥
सुरनि चढ़ैंगे, नर-सिरनि चढ़ैंगे नित,
सुकवि 'अनीस' हाट-बाटनि बिकावैंगे।
देश में रहैंगे, परदेश में रहैंगे,
काहू भेस में रहैंगे, तऊ रावरे कहावैंगे॥

ठीक है, देश हो या परदेश हो, जहाँ कहीं भी मैं रहूँगा; वहीं तुम्हारा ही कहाऊँगा, और तुम्हारा ही 'दूनो जस गावैंगे।' फिर मान किसपर और किसलिए? दुतकारा, ठुकराया, कठोरसे कठोर बातें सुनाईं। लाख माफी माँगी, मिन्नतें-आरजू हर तरहसे की; पर किसी बातका कुछ भी असर न हुआ। पत्थरकी मूर्ति बनकर मेरी विनतियोंको सुनी-अनसुनी कर गईं। मैंने तो दूर पड़ा-पड़ा तुम्हारे नामका जप करता और तुम्हारे [illegible] याद कर किसी तरह अपने दिलको समझाता रहा हूँ। एक-एक दिन पहाड़से भी भारी मालूम होते हैं, परन्तु किसी-न-

[illegible] कट ही गए। लेकिन अब तुम्हारे [illegible] जाऊँ तो किस आशा से? बोलोगी या नहीं? [illegible] तुम्हें खुशी होगी, या मुँह घुमा लोगी? तुम्हें देखते ही—इतने दिनोंके बिछुड़नके बाद, तुम्हें देखते ही—मेरी क्या दशा होगी। कहीं खुशीसे पागल तो न हो उठूँगा? अनाप-शनाप कुछ कर तो न डालूँगा? क्या कहूँगा, क्या न कहूँगा? क्या कहना उचित होगा, क्या मुझे करना पड़ेगा? अपराधी तो मैं, दोषी तो मैं, फिर कैसे बिना बुलाए तुम्हारे सामने जानेकी मुझे हिम्मत हो? लाख इच्छा होते हुए भी पैर नहीं उठते। दिल चाहता है कि दौड़ चलूँ, पर पिंडुलियाँ भयसे थर-थर काँप उठती हैं। तुम्हीं बुलाओ तो आऊँ। अभय-दान दो, प्रेमका फिरसे सन्देश दो, तब मुझे ढाढ़स बँधेगा। नहीं तो मरना भला; परन्तु दोबारा तुम्हारी रुखाईका सामना करना मेरेसे आहत आदमीकी सामर्थ्यके बाहर है। इसीलिए कहता हूँ, बहुत हुआ, बहुत सताया। मान कर चुकीं। उसका अब अन्त होना चाहिए। संसारमें और सब चीजोंका अन्त है, यदि अन्त नहीं है तो तुम्हारे एक मानका। यदि वह अनन्त है तो फिर क्यों पहले यह विश्वास दिलाया था कि मेरे लिए तुम्हारी क्षमा भी अनन्त है! उस वचनको तो अब पूरा कर दिखाओ। मैं इतने दिनोंमें मर मिटा, मेरा मान चकनाचूर होकर धूलमें पड़ा है। तुम्हारे प्रेमका जो गर्व था, वह अब मलीन हो गया। इतनेपर भी "ना मलीन तेरो मान री!"

मान छोड़ो, न छोड़ो, "तुम्हारी मरजी।" मैंने तो जिस दिन दिल-बदलौवलकी रस्म अदा की थी, उसी दिन अपने जीवनके सारे दिन भी तुम्हारे चरणोंमें अर्पित कर दिए थे। तुम्हें जब मैंने अपने प्रणयकी अध-खिली कली भेंट की थी, तभी उसका फूल और फल भी समर्पित कर दिया था। जीवनकी जो आशाएँ, अभिलाषाएँ और आकांक्षाएँ अनन्त धारोंसे अनन्त दिशाओंमें बहतीं, उन सबको उस दिन एक धारमें लाकर

एक ही ओर मैंने बहा दिया। वे अब न तो फिर कभी विभिन्न धाराएँ हो सकती हैं, और न उनके बहावकी दिशा ही बदल सकती है। मेरा सब सुखः-दुख तुम्हारे हाथ है। तुम्हारी कृपासे सुखी होऊँ, तुम्हारी अकृपासे रोऊँगा। तुम्हें दुखित देखकर दुखी रहूँगा, और तुम्हारे सुखसे सुखी होऊँगा। अपनाओ तो वाह-वाह, न अपनाओ तो भी वाह-वाह। जीवन में सुखी बिरले ही होते हैं। मनुष्य दुःखका कीड़ा है। फिर मैं क्यों अपने आपको दुनियाके बाहर समझूँ। तुम्हें प्यार करनेहीमें सुख है। मैं अपने धर्मको निबाहूँगा। तुम्हें जो उचित समझ पड़े, वह तुम करना।

तुलसी तून जल कूलको, निर्धन निपट निकाज।
का लावै, का जाय सँग, बाँह गहेकी लाज॥

तुम्हारा कातर प्रेमी,

—कृष्ण

राधाका एक पत्र कृष्णके नाम

[प्रेषक—श्री० पण्डित कृष्णकान्त मालवीय]

[जेलखानेसे आनेके बादसे अस्वस्थताके कारण प्रायः घरपर ही रहता हूँ। अगर शरीर कुछ अच्छा हुआ तो प्रातःकाल थोड़ा-सा टहल लेता हूँ। एक रोज टहलता हुआ द्रौपदीघाटकी ओर जा निकला। गङ्गा-तटसे कुछ दूर ही था कि दृष्टि सड़कके किनारे पड़े एक सुन्दर लिफाफेपर पड़ी। कौतूहलवश मैंने उसे उठा लिया। लिफाफा खुला था और उसपर किसीका नाम-पता कुछ न था। अन्दर एक पत्र रक्खा हुआ था। चलते-चलते मैंने उसे खोलकर पढ़ना आरम्भ किया। पत्र राधा नामकी किसी प्रेमिकाने अपने कृष्ण नामके प्रेमीको लिखा था। मैंने पत्रका कुछ अंश पढ़ा और

सोचने लगा शायद किसी स्नानार्थिनीका पत्र है असावधानीसे गिर गया है। बेचारीको याद पड़ेगी तो अवश्य ही ढूँढ़ती आयेगी। असमञ्जसमें पड़ वहीं ठहर गया। जब आध घण्टेतक कोई न आया तो लाचार घर पहुँचकर पत्रको मैंने मेजकी दराज में डाल दिया।

इस घटनाके कई दिन बाद जब मार्चके 'चाँद' में मैंने 'राधाके नाम कृष्णाका पत्र' छपा देखा तो मुझे उस पत्रका खयाल आया। दराजसे निकालकर पढ़ा तो मेरा कौतूहल और भी बढ़ गया, क्योंकि पढ़नेसे स्पष्ट मालूम हुआ कि इसका सम्बन्ध उन्हीं पत्रों से है, जो 'चाँद' में छपे हैं। मैंने इसलिए यह उचित समझा कि यह भी 'चाँद' में छप जाले। मुझे आशा है, पत्रकी लेखिका महोदया इसके लिए मुझे क्षमा करेंगी। इसके सिवा उनके पत्रका दूसरा सदुपयोग मैं कर नहीं सकता।]

—कृष्णकान्त, मालवीय

लिखी जायेंगी किताब दिलकी तफसीरें बहुत।
होंगी ऐ ख्वाबे-जवानी, तेरी तावीरें बहुत॥

कृष्ण,

काश मैं भी तुम्हारी-सी रङ्गीली भाषा लिख सकती। तुम-सा ही भाषा-पर मेरा अधिकार होता। तुम्हारा-सा ही कुबेरके भण्डारके सदृश मेरा भी शब्द-भण्डार होता। क्या रवानी है, गंगाकी धारा-सी भाषा प्रवाहित होती है। कालिन्दीका कलकल नाद कहीं सुनाई नहीं देता। शब्दोंमें टीसोंकी टीसन है। वेदनाका चीत्कार हृदयको हिला देता है और पढ़ते-पढ़ते ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारे बाहुपाश मदान्धतासे आलिंगन करनेको बढ़ते आ रहे हैं। मुझे चाटुकारीकी आदत नहीं। तुम स्वयम् जानते हो मैं सत्य बोलना पसन्द करती हूँ। तुमको इसलिए विश्वास होना चाहिए कि तुम्हें खुश करनेके लिए या प्रशंसात्मक शब्दोंसे तुम्हारे हृदयपर कुछ असर पैदा करनेके लिए यह सब नहीं लिख रही हूँ। मेरे हृदयमें पत्रोंको

पढ़नेपर यही भाव पैदा हुए और इनको तुम्हारे सामने यदि मैं प्रकट न करती तो तुम्हारे साथ अन्याय होता। इसकी भावनासे ही कितना कष्ट हो सकता है यह तुम खुद समझ सकते हो। बुरा न मानना, पत्रोंमें तुमने उतावलेपनमें या पीड़ामें अनेक विरोधात्मक बातें लिख मारी हैं। साथ ही अगर तुम 'कुत्ता-पन्थी' और 'हिजड़ा-पन्थी' शब्दोंका प्रयोग करते तो कोई हानि न होती। कहाँ 'ठगी सी' और कहाँ 'कुत्ता-पन्थी' और हिजड़ा-पन्थी' के संबंधमें मुझे बहुत कुछ कहना है। समयसे इनके सम्बन्धमें अपने विचारोंको प्रकट करूँगी। इस समय इतना ही कहकर संतोष कर लूँगी कि कुत्ते तुमसे और हमसे अच्छे हैं। वे विशेष अवसर और विशेष स्थितिमें ही कामके शिकार होते हैं। परन्तु सृष्टिका सिरमौर ३६५ दिनोंमें चौबीसों घण्टे कामसे प्रेरित हुआ करता है। खैर, ये बातें फिर कभी कर लूँगी। इस समय तो तुम्हारे पत्रोंके सम्बन्धमें ही कुछ तुमसे निवेदन कर लूँ।

परसों रात्रिमें गर्मी बहुत थी। मसहरीके पास मच्छरोंकी भनभन सुनकर नींद आनेका नाम नहीं लेती थी। चाँद अपनी विमल चाँदनी फैलाये संसारको ठण्ढक पहुँचाना चाहता था। चाँदनीकी विमल ज्योतिमें, मालूम नहीं कैसे तुम्हारे पत्रोंका प्रतिबिम्ब छपे हुए रूपमें मेरी नजरोंके सामने आ गया। मैं कुछ विस्मित-सी हो गई। तुम्हारे हृदयमें कौनसे भाव प्रवाहित हो रहे हैं, इसको जाननेका अवसर मुझे मिलेगा, ऐसी मुझे कभी आशा न थी। किन्तु यदि स्त्रियोंका तुमको कुछ भी ज्ञान है, तो तुमको मालूम होना चाहिये कि प्रत्येक स्त्री, जो किसीसे प्रेम करती है, अपने प्रेमीके हृदयके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावोंको जाननेके लिए लालायित और उत्सुक रहा करती है। बड़ी उत्सुकताके साथ मैंने तुम्हारी मर्मभेदिनी पंक्तियोंको पढ़ा और मेरे हृदयमें यह आकांक्षा पैदा हुई कि मैं भी अपने पक्षकी बातोंको कम-से-कम तुम्हें जतानेकी चेष्टा करूँ। शायद मेरे साथ उदारताके साथ कुछ न्याय कर सको। ओह तुम कितना कठोर, अन्याय-

पथपर आरूढ़ और विवेकहीन समझते हो उतनी मैं साबित न हूँगी।

मैं पहिले ही कह चुकी हूँ कि मुझे तुम-सा लिखना नहीं आता। लिखनेके लिए कम-से-कम हृदय चाहिए। किन्तु ढूँढ़ती हूँ, प्रयत्न करती हूँ, तब भी वह मुझे ढूँढ़े नहीं मिलता। जो है भी वह मुफलिसके सदृश है। अगर तुम्हारी भाषामें लिखना चाहूँ, तुम्हारी नकलपर ही उतारू हो जाऊँ तो यह कह सकती हूँ कि मेरा हृदय एक अँधियारा मन्दिर है, जिसमें जीवन नहीं, जो एक खण्डर है, जहाँ न आरतीकी झलक है और न घण्टेकी गुञ्जार, जहाँ केवल अतीतकालकी पूजाकी स्मृति है और वह भी स्वप्न समान। इसमें न पीड़ित हृदयकी दर्दभरी आह है, न आनन्दसे उल्लासित सङ्गीतका नाद। इसमें केवल एक वीरान-सी गूँज है जिसका मेरे निकट कोई अर्थ नहीं। यह न जीवनके कोलाहलकी सूचक है, न अमरताके उच्च-स्वरकी। यह एक हँसी है जिसमें आह्लाद नहीं; एक रोना है, जिसमें आन्तरिक वेदना नहीं। तुम ही बतलाओ, इस हृदयसे क्या यह कुछ कहने या लिखने लायक है? अब तो इसका मुझे रोना भी नहीं। मैं तो इतना भी साहस नहीं कर सकती कि ज़बानसे स्वप्नमें भी एक बार यह कह सकूँ कि किसने मेरे हृदयकी यह दशा की। तुम तो पत्र लिखकर अपने दिलको बोध दे सकते हो, कुछ कालके लिए यह तुम्हारे लिए मनोरञ्जन हो सकता है। तुम पत्र लिखनेमें लीन हो, थोड़ी देरके लिए संसारके काविश और कोफ्तको भुला सकते हो, किन्तु यह तो सोचो कि मैं क्या करूँ। पत्र भी लिखने बैठूँ तो कितनी देर लिख सकती हूँ? और अगर कोई पूछ बैठे तो क्या जवाब दे सकती हूँ? कुछ न कहलाओ। तुम्हारी और मेरी भलाई इसीमें है कि मेरी जबानपर ताले पड़े रहें और मैं लिखना-पढ़ना और बातें कर सकना भी अनन्त कालके लिए भूल जाऊँ।

तुमने लिखा है 'बेचारी वेदना करुणासे दुखित होकर मेरे पास बैठी-बैठी रोती रही और सहानुभूतिसे मेरी सङ्गिनी बनकर मेरा दुःख उसने

था।' वेदना मेरी ही सखी या सहेली हो सकती है, कम से-कम वह थी ही. मैं न रही तब भी तुम्हारे घावोंपर मरहम-पट्टी करनेके लिए कोई बहन मौजूद ही थी। किन्तु सोचो तो कि मेरे पास कौन है ? न मेरे दुःखको बँटा सकता है और कौन एक मिनटके लिए भी मुझे ढ़ुस बँधा सकता है ? तुम्हारी पुरुष-जातिमें है कोई, जो मेरी सखीकी इ मेरी भी सहायता कर सके ?

कृष्ण, तुमने प्रेमके साहित्यका अच्छा अध्ययन किया है, तुम्हारे र हृदय भी है। प्रेम करनेके ढंग तुमने खूब सीख रक्खे हैं, किन्तु n करना तुम जानते ही नहीं कि स्त्री क्या है और उसका प्रेम क्या है। ने प्रेमकी बड़ी ही सुन्दर और प्रभावमयी व्याख्या की है। उसके गकी तुमने अच्छी महिमा गाई है। तुमने प्रेमको ही ईश्वर और र सर्वस्व समझ रक्खा है। प्रेमको तुमने नेति-नेति कहकर पुकारा है, न्तु तुमने यह भी कभी सोचा कि प्रेम स्त्रीकी एक क्षीण कलामात्र है। ज्ञकी एक कलाके सम्बन्धमें तुम्हारी नेति-नेतिकी पुकार है, उस सर्वा-यी कलाको तुम कैसे समझ सकते हो और तुम स्त्रीको जान ही क्या ते हो ?

मैं पण्डिता नहीं। तुम सैकड़ों नहीं, तो दस-बीस वर्ष तो मुझे पढ़ा सकते हो। यूनीवर्सिटीका द्वार भी मैंने नहीं देखा। तुम सोचते होगे ी मूर्खा है, मुझे लेक्चर सुनाने और उपदेश देने चली है, किन्तु ा, प्यारे कृष्ण, पण्डित-से-भी-पण्डित पुरुषकी अपेक्षा एक साधारण ढ़ी स्त्री भी ऐसे मामलातको समझनेमें पुरुषोंसे आगे बढ़ी होती है। ष्टिकी स्रष्टा होनेके कारण, साथ ही प्रकृतिके अधिक निकट होनेके रण स्त्री, पुरुषोंकी अपेक्षा प्रकृतिगत बातोंको खूब समझती है और षोंकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह बताती है। मैं तो जिस ही तुम्हीं से पण्डिता नहीं, किन्तु स्त्री और स्त्रीके प्रेमके सम्बन्धमें एक प्रश्न-

रेजी लेखकके विचार मैं तुमको सुना देना चाहती हूँ। शायद इससे तुम्हें कुछ शान्ति और सन्तोष प्राप्त हो, और शायद कुछ लाभ मुझे भी पहुँच जाय। उसका कहना है "स्त्रीका प्रेम अद्भुत है, आरम्भ में वह इतना क्षुद्र है कि उसकी कोई संज्ञा नहीं, किन्तु अन्त उसका इतना विशाल है कि जिसका अन्त नहीं। यह पानीकी उस छोटी बूंदके समान है जो बूँद-बूँदकर पहाड़से टपकती है, किन्तु जो आगे बढ़कर एक महान् नद बन जाता है। यह वह महान् नद है, जो सुखके दरिया बहाता, इठलाता, थिरिकता, चारों ओर आनन्दकी वर्षा करता, फैलता चला जाता है, जो मनुष्योंके हृदयको आनन्दसे पूर्ण करनेवाले बेड़ोंका वाहक है, जो वीरान मैदानों और जंगलोंको रंगबिरंगे सुन्दर सुमनोंकी वनस्थली बना देता है और जो उत्सुक किसानोंके लहलहाते खेतोंको प्रफुल्लित कर देता है। इसके साथ ही साथ स्त्रीका प्रेम, एक भीषण जल-प्रपात है जो वर्षाके तूफानमें आशाकी क्यारियोंको डुबाकर नष्ट कर देता है, जो विचारके बाँधोंको तोड़कर मनुष्यकी पवित्रताके मन्दिरों और धर्मके देवालयोंको मिट्टीमें मिला देता है और जो अपने प्रचण्डवेगमें गाँवोंके मवेशियों और गरीब किसानोंके झोपड़ोंको बहाता, नाश करता चला जाता है। स्त्री क्या है, यह कौन कह सकता है, किन्तु यह सत्य प्रतीत होता है कि सृष्टिके आरम्भमें जब अन्तर्यामीने संसारके क्रमका विचार किया, उस समय रचना-क्रमके साँचेमें उसने स्त्री-प्रेमके बीजको डाल दिया, क्योंकि यह अपनी विषम और अचिन्तनीय उत्पत्ति और वृद्धिसे समानताको जन्म देनेवाला है। यह युद्ध और सन्धि कराता है इस तरहसे भी समानता स्थापित करता है। कभी यह नीचोंको अकथनीय आश्चर्य-जनक उँचाई पर पहुँचा देता है और कभी ऊँचोंको धूल-धूसरितकर मिट्टीमें मिला देता है। इसलिए जबतक स्त्री, प्रकृतिकी विस्मयजनक बेटी, संसारमें मौजूद है, पुण्य और पाप अलग-अलग नहीं उदय हो सकते या उग सकते क्योंकि स्त्री सदा प्रेममें मदमत्त प्रेमके तरीकोंको लिए,

सामने खड़ी रहती है और हमारे भाग्यका निबटारा किया करती है। कभी यह अमृत समान मीठे शब्द-जलको कटुता और जहरके प्यालेमें डाल देती है और कभी इच्छाके हलाहलसे जीवनकी स्वच्छ, पवित्र श्वाँसको विषमय कर देती है। बगावत व्यर्थ है, पुरुष जिधर चाहे भागे, हर तरफ उसीका सामना है। स्त्रीकी निर्बलता, उसका प्रेम, उसकी कोमलता पुरुषकी शक्ति है। उसका साहस, उसका हठ, उसकी विरक्ति, उसकी निडरता पुरुषके विनाशका कारण है; पुरुष उसका है और उसीका होकर रह सकता है। स्त्री आकाशके समान अनन्त, समुद्रके समान गम्भीर, विद्युतके समान चपल और विधिके समान अज्ञात और अज्ञेय है। स्त्रीका ही दूसरा नाम अदृष्ट है। पुरुष, इसलिए स्त्रीसे बचनेका प्रयत्न मत कर, तू जहाँ भी भागकर जायगा, भावीके समान वह तेरे साथ रहेगी और जो कुछ तू निर्माण करेगा, वह उसीका होकर रहेगा।"

तुमने व्यर्थमें ही हम दोनोंकी पुरानी कथा लिख डाली। इसके लिखनेसे यदि तुम सब बातोंपर विचार कर सको तो शायद भविष्यमें कुछ लाभ ही हो। तुमने पहले ही पत्रमें लिखा है कि 'मैंने तुम्हें अङ्क भरा, श्रद्धा और भक्तिसे तुम्हारे अधरोंकी अर्चना की ...तुमने कई बार भागनेकी कोशिश की, लेकिन तुम्हारे हृदय और तुम्हारे पैरोंने तुम्हारी एक न सुनी और बरबस तुम मेरे भुज-पाशमें बँधी पड़ी रही।" एक दूसरी जगहपर तुमने लिखा है कि उसी "पगलाहटमें मैं नतमस्तक हो तुम्हारी कलाईको एकाएक चूमने लगा! ... इसके बाद मैंने फिर तुमसे कर-चुम्बनकी प्रार्थना की, उदारतासे तुमने मुझे बायाँ हाथ दिया, जिसे मैंने सत्कारके साथ, विनम्रताके साथ चूमा था। लेकिन उसके बाद तुम खिंच गई। क्यों, मुझे नहीं मालूम। चोट तो लगी, पर मैंने उस घड़ीसे फिर अभी सालों तक न वचनसे, न निगाहसे और न किसी चेष्टासे तुम्हें छेड़ा। क्योंकि मैं ऐसे प्रेमका लोभी नहीं हूँ, जो बरबस बलसे छीना जाय। प्रेमका सौदा खुले बाजार होता है, बरबसताका वहाँ सवाल

नहीं। जिसको जी चाहे दे, न जी चाहे न दे!" एक दूसरे स्थानपर तीसरे पत्रमें तुमने लिखा है—"आँखोंमें अप्रसन्नता तो प्रत्यक्ष है, परन्तु उसके पीछे गुप्त मुसकान और निमन्त्रण भी तो साफ-साफ झलक रहे हैं।" मैं अपनी ओरसे कुछ भी नहीं कहना चाहती, मुझे शिकायत ही नहीं और हो भी तो मैं करनेवाली कौन और क्यों करूँ? पर न्याय और सत्यके नामपर, धर्म और ईश्वरके नामपर उपर्युक्त उद्धरणोंको एक बार नहीं, दो बार और तीन बार पढ़कर तुम्हीं सोचो कि ये क्या कहते हैं?

तुमने, जब अङ्कमें मुझे भरा था, तब क्या तुमने मुझसे अनुमति ली थी, मुझसे आज्ञा माँगी थी और मेरी स्वीकृति पाकर तुमने यह किया था? तुम कहते हो पगलाहटमें तुमने मेरी कलाई चूम ली थी, तुमने इसके पहले मुझसे आज्ञा तो नहीं माँगी थी? तुमको शिकायत यह है कि मैं खिंच गई। गोया मैं पहले कभी आगे बढ़ी थी। तुम सालभर अलगसे रहे, इशारेसे, कनायेसे या किसी चेष्टासे, तुम कहते हो, मुझे छेड़ा नहीं—क्या न्याय है, क्या फैसला है, कैसी उदारता है, और क्या प्रेम है! तुमने एक जगहपर लिखा है—'अपने हियसे पूछिये, मेरे हियकी बात।' क्या मुझे अधिकार है कि मैं यह कह सकूँ कि, 'अपने जियसे जानिए, मेरे जियकी बात।' तुम शायद चाहते थे कि मैं तुम्हें पागल भी बनाऊँ, साथ ही तुमसे यह भी कहूँ कि मैं मर रही हूँ, लिल्लाह, मुझे, अपने अङ्कमें भर लो, खुदाके नामपर मुझे चूम लो, मैं मरी जा रही हूँ, मिन्नत करती हूँ, प्रार्थना करती हूँ और तुम्हारे पावों पड़ती हूँ। कृष्ण, कहते हो "प्रेम सचमुच अन्धा है", पागलपन, अपनेको भूल जाना, अपनी सुध-बुध खो बैठना एक तरहका अन्धापन ही है। मैं भी अन्धी थी और तुम भी अन्धे थे, इसी कारणसे तुम्हारे भुज-पाशसे निकलनेकी कोशिश करनेपर भी मैं निकल न सकी और खड़ी रह गई; किन्तु हाय, यह अन्धापन तुम्हारा बहुत दिनों टिक न सका, तुम्हें दिखाई देने लगा कि मैं खिंच गई और अपने ही शब्दोंमें सालों तक तुमने कोई चेष्टा नहीं की। वाह रे कृष्ण,

और इन सब बातोंके होते हुए भी दोषी मैं हूँ। जरूर हूँ, मैं स्त्री हूँ और तुम पुरुष, मेरा दोष जरूर है और इसकी सजा इन घड़ियोंकी स्मृतिके रूपमें मुझे जीवनभर सहनी पड़ेगी। तुम कहते हो कि "मैं ऐसे प्रेमका लोभी नहीं, जो बरबस बलसे छीना जाय।" ठीक है, तुम वेश्याओं और निम्न श्रेणीकी, सड़कपर बैठनेवालियोंका प्रेम चाहते होगे, जो अपना प्रेम लुटाया करती हैं और उसकी खुले दिलसे वर्षा किया करती हैं। जो चाहे उसे ले ले। सच कहो, क्या तुम चाहते थे कि मैं तुमसे कहती कि मुझे छेड़ो। मेरे मस्तिष्ककी क्रियाशीलतापर भी कुछ विचार करो, दोषी तो मैं हूँ ही, मुझे तुमने कलंकित किया और तुम्हें अब अधिकार है कि जितना दोषारोपण तुम कर सकते हो कर लो, मुझे कोई उज्र नहीं, कोई गिला नहीं। सोचो तो कि एक बार, दो बार तुम्हारे स्पर्शका आनन्द प्राप्त करनेके बाद मेरे मस्तिष्कमें किसी तरहके विचारोंका उठना स्वाभाविक था या नहीं; मुझे भविष्यकी चिन्ता करनी चाहिए थी या नहीं? यह भी सोचो कि क्या सम्भव भी था कि अगर दस सितम्बरको मुझे स्वर्गीय सुख मिला था तो ग्यारहवीं सितम्बरको मैं दौड़कर तुम्हारे अङ्कमें भर जाती! अपनेको इस तरह खो देनेके कारण क्या किसी तरहका शील-सङ्कोच, नजरका नीची रखना मेरे लिए स्वाभाविक बात न थी? खिंच गई, क्या मैं कोई तलवार थी? मैं खिंच गई थी तो खिंच गई थी, तुम्हारा पागलपन कहाँ चला गया था? कहलाओ नहीं, कृष्ण!

"तुमने मुझको हाथसे गर खो दिया, अच्छा किया। मेरा क्या बिगड़ा, तुम्हारी दिल्लगी जाती रही।"

लो, मेरी एक सहेली आ रही है, मैं तो अपने हृदयके विचारोंको लिख भी नहीं सकती, इसकी भी आजादी नहीं। खैर, खत्म करती हूँ, अधिक कहने-सुनने से लाभ ही क्या है?.........

तुम्हारी,
नहीं, नहीं,
अपनी राधा

विशेष स्वराट

तपस्वी विद्वान् देशभक्त त्यागी महान आत्माओं की
ऐतिहासिक चिट्ठियाँ



पत्नी की मृत्यु पर

लोकमान्य श्री बालगंगाधर तिलक का पत्र

स्वर्गीय लोकमान्य तिलक की धर्मपत्नी सौभाग्यवती सत्यभामा बाई, आधुनिक अर्थमें विदुषी नहीं थीं, अर्थात् वे लिखना-पढ़ना नहीं जानती थीं। इस कारण लोकमान्यको लिखा हुआ उनका या उनको लिखा हुआ लोकमान्यका कोई पत्र उपलब्ध नहीं है। परन्तु वे आदर्श धर्मपत्नी थीं। लोकमान्यके चरित्र-लेखक पं० नरसिंह चिन्तामणि केलकर उनकी चर्चा करते हुए लिखते हैं, "लोकमान्यको उत्तम प्रकारका गृह सौख्य प्राप्त था। लोकमान्य तिलकने अपनी पत्नीको कोई भी अभाव कभी प्रतीत न होने दिया, कभी कोई कठोर शब्द उनके प्रति उनके मुखसे निकला ही नहीं। पतिकी सादगी और उनका उदात्त चरित्र उनके नेत्रोंके सामने था और उन्होंने भी अपनेको वैसा ही बना लिया था।

वे यद्यपि लिखना-पढ़ना नहीं जानती थीं तो भी उनमें इतनी सूक्ष्मदर्शिता थी कि पतिके उद्योगका मर्म वे खूब समझती थीं। उन्हें भी पतिकी तरह ही मधुमेहका रोग हो गया था। गृहप्रबंधका सारा भार इन्हीं पर था। तिलक महाराजको छः वर्षके लिये जब द्वीपान्तर वास हुआ तब उनके वियोगसे इस दुःखिनी सतीके शारीरिक मानसिक कष्ट बहुत बढ़ गये और उसी अवस्थामें लोकमान्यके द्वीपान्तरवासकी अवस्थामें ही इनका देहान्त हो गया। इनके देहान्तका समाचार लोकमान्यको माँडलेके कारागारमें तारद्वारा मिला। उस तारको पाते ही लोकमान्य लिखते हैं:—

"मुझे बड़ा भारी धक्का लगा। संकटोंके आनेपर शान्तिके साथ मैं उन्हें सह लेता हूं, सदा है। पर मैं सच कहता हूँ कि इस समाचार ने मुझे अत्यंत विचलित कर दिया। हम लोग हिन्दू हैं। इसलिये लोग कहेंगे कि पतिसे पहले पत्नी चली गई, यह तो अच्छा ही हुआ। पर उसकी मृत्युके समय मैं उसके पास न रहा, यही नहीं बल्कि कारागार में बन्द रहा, इसीका मुझे बड़ा दुःख है। पर यही होना बदा था। भावी कौन टार सकता है? जिस बातसे मैं सदा डरा करता था वही आखिर होकर रही। पर मैं अपना दुखड़ा सुनाकर तुमलोगोंको अधिक दुःखी नहीं करना चाहता। मेरे जीवनका एक भाग समाप्त हुआ। दूसरा भी अब मालूम होता है, शीघ्र ही समाप्त होगा। यथाविधि उसकी उत्तर-क्रिया करावें और उसकी इच्छाके अनुसार उसकी अस्थि प्रयाग या काशीमें गंगाजीमें प्रवाहित करें, अन्तसमयमें जो जो इच्छा उसने प्रकट की हो उसका एक-एक शब्द पूर्ण करें।"

—:*:—

स्वर्गीय तपस्वी श्री योगिराज अरविन्द के लिखे अपनी पत्नी के नाम तीन ऐतिहासिक पत्र—

श्री केलकर महोदय का पत्र

"सा० न० वि० वि०—

श्रीयुत बाबू अरविंद घोषने सन् १६०५ और १६०७ में अपनी पत्नीको जो पत्र लिखे थे, इन पत्रोंसे जो निराशावाद की ध्वनि निकलती है, उसे देखकर, और अरविंद बाबूके भावी जीवनचरित्रको ध्यानमें लानेसे, मनमें बड़ा भारी दुःख होता है। जब यह बात ध्यानमें आती है कि उनकी पत्नी विरह-दुःखमें झुर-झुर कर मृत्युको प्राप्त हो गईं, तो स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि यद्यपि उन्होंने अपने वैवाहिक सुख-के लिये जो भविष्य-वाणीकी थी, वह दारुण दुःखमय है, किन्तु वह बिलकुल ठीक निकली है। श्रीमती मृणालिनी देवीके समान सैकड़ों भारतीय नौजवानोंकी धर्मपत्नियाँ, जिनके पतियोंने देश-प्रेम और स्वदेश-कार्यके लिये सब सांसारिक सुखोंपर लात मार दी है, इस समय भी पति-दुःखकी विरहाग्निमें पड़ी हुई तड़प रही हैं। उनके प्यारे पतियोंने अपनी पत्नीके सुखकी ओर न देखकर, स्वेच्छाचारिता और पागलपनसे काम लिया। उन सतियोंके कानोंमें इस प्रकारके निषेधात्मक शब्द भी जाते होंगे कि ऐसा करनेका उन्हें कुछ भी अधिकार नहीं था। किन्तु अरविंद बाबूके पत्र पढ़नेके उपरान्त उन्हें विश्वास हो जायगा कि अरविंद बाबूके समान, पत्नी-प्रेमकी अपेक्षा स्वदेश—भक्ति को अधिक श्रद्धाकी दृष्टिसे देखनेवाले पति, मनके कठोर नहीं होते,

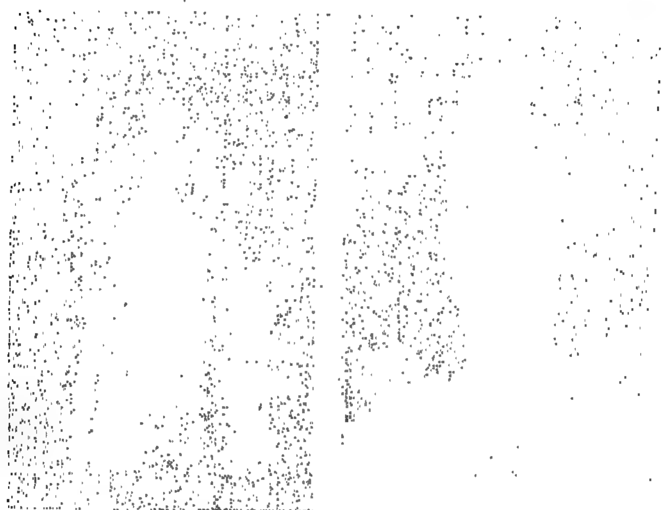
उनका चरित्र ही कुछ असाधारण होता है। अतएव मुझे आशा है कि वे सतियाँ ऐसे पतियोंको अपना भूषण समझकर अपना दुःख भूलनेको तैयार हो जायँगी। बाबू अरविन्द घोष एक पत्रमें अपनेको पागल लिखते हैं। किन्तु यह बात कभी भी नहीं भूलनी चाहिये कि संसारके इतिहासमें जितने भी नये और स्फूर्तिदायक विचारोंका जन्म हुआ है, उन सबका उद्भव प्रायः साधारण मार्गसे जानेवालोंकी अपेक्षा इस प्रकारके असाधारण पागलोंके मस्तिष्कसे ही हुआ है। किसी भी कार्यका चुनाव करना पुरुषका अधिकार है, और उसमें उसकी सहायता करना स्त्रीका। इस प्रकारसे दोनोंके अधिकार भिन्न-भिन्न बँटे हुए हैं। अरविंद बाबू जानते थे कि उन्होंने अपने ब्रह्म-तेजके बल पर जिस कार्यको अंगीकृत किया है, उसमें उन्हें उनके जीतेजी सफलता नहीं मिल सकती। उनकी पत्नी भी जानती थीं कि वे अपने पतिका पागलपन कमसे कम इस जन्ममें तो दूर नहीं कर सकतीं। दोनोंको ही परस्पर प्रेममय दुःख होता था। किन्तु अन्तमें दोनोंने ही अपनी अपनी उच्च भावनाओंको ध्यानमें रखकर अपने जीवनीको व्यतीत किया। निस्सन्देह यह उदाहरण भारतवर्षके राष्ट्रीय चरित्रोंमें आदर्शवत् समझा जायगा।

यद्यपि पत्र छोटे-छोटे हैं, किन्तु मैं समझता हूँ कि भविष्य कालमें यही पत्र एक प्रकारके ऐतिहासिक साहित्यमें गिने जायँगे। इत्यलम्।"

तारीख २३-२-१६ — नरसिंह चिंतामण केलकर

सन् १६०८ के मई महीनेकी २ री तारीख शनिवारको ग्रे स्ट्रीट नं० ४८ के जिस मकानमें श्री अरविन्द रहते थे, पुलिस-दलने पहुँचकर उनको गिरफ्तार किया था। उस समय तलाशी होनेपर अपनी स्त्रीके

नाम लिखे श्री अरविन्दके ३ ग्ररू पत्र पुलिस "बड़े कामके" के समझकर उठा ले गयी थी और आगे चलकर वे पत्र अलीपुरकी अदालतमें पेश किये गये थे। ये वे ही तीनों पत्र हैं।



पतिप्राणा श्रीमती मृणालिनी देवी, इनके पति तपस्वी श्री अरविन्द घोष

नास्ति स्त्रीणां पृथक् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते। (मनु ५-१५५)

श्रीमती मृणालिनी देवीका परिचय

पूर्व बङ्गाल और आसामके लेण्ड रेकार्डस् और एग्रीकलचर (कृषी) डिपार्टमेण्ट [विभाग] के डिरेक्टर राय भूपेन्द्रचन्द्र बोस बहादुरकी गुणालंकृता पुत्री श्रीमती मृणालिनीका श्री अरविन्दने पाणिग्रहण किया था। बड़े घरकी लड़कियोंकी जैसी विलासप्रिय प्रकृति होती है, श्रीमती

मृणालिनीकी भी प्रकृतिका तदनुरूप होना स्वाभाविक था। वह यूरोप के ढाँचेपर संगठित नवधर्म ब्रह्म-समाजके स्कूलमें पढ़ी थीं और श्रीमती के पिता भी ब्रह्म-समाजके ही अनुयायी थे। उधर श्री अरविन्दकी प्रकृतिका पाठक परिचय पा चुके हैं। किन्तु अरविन्दने श्रीमती मृणालिनीकी प्रकृतियोंको एकदमसे बदल दिया। उस पतिप्राणाने पतिकी आज्ञाको शिरोधार्यकर विलाससे मुँह मोड़ लिया। पति ही स्त्रीका गुरु है, इस प्राचीन हिन्दूतत्वको हृदयङ्गमकर मृणालिनी एकमात्र पतिकी आज्ञाको ही अपना अवश्य पालनीय कर्त्तव्य समझने लगीं।

योगिराज श्री अरविन्द घोष के पत्र

[१]

तारीख ३०, अगस्त १९०५

प्रिय मृणालिनी,

तुम्हारा तारीख २४ का पत्र मिला। यह पढ़कर बहुत ही रंज हुआ कि तुम्हारे माता-पितापर पुनः दुःखका प्रहार हुआ है। तुमने स्पष्ट नहीं लिखा कि कौनसा पुत्र स्वर्गवासी हुआ है। दुःखका प्रहार अवश्य हुआ है, पर इसमें कोई नई बात नहीं है; क्योंकि इस संसारमें बहुधा यही देखनेमें आता है कि सुखके साथ दुःख भी मिश्रित रहता है—सुख-दुःखका जोड़ा ही है। संसारमें सुखकी खोज करते हुए उसके साथ निश्चित दुःख भी प्राप्त होता है। यह सिद्धान्त न केवल पुत्र-कामना-के ही लिए सत्य है, किन्तु समस्त सांसारिक कामनाओंके लिए भी यही

बात चरितार्थ होती है। अतएव मनुष्यको चाहिये कि चित्तमें धैर्य धरकर तमाम सुख-दुःखोंको भगवान्के चरणोंमें अर्पण कर दे, बस उसके लिये यही एक सुगम उपाय है।

अब मैं वही पुरानी बात पुनः दोहराता हूँ। तुमको अब तक उस बातका बहुत कुछ अनुभव हो गया है। वह बात यही है कि विधिने तुम्हारे भाग्यको जिसके साथ जोड़ दिया है, वह एक बड़ा ही विचित्र मनुष्य है। इस देशके वर्तमानकालिक लोगोंके हृदयमें जो भाव उत्पन्न होते हैं, जिसको वे अपने जीवनका उद्देश्य समझते हैं, जिसको वे अपना कर्तव्य-क्षेत्र समझते हैं, मेरे पास उसमेंसे एक भी नहीं है। सब कुछ निराला ही ढंग है। तुम जानती ही हो कि साधारण लोग विचित्र मत, विचित्र प्रयत्न और असाधारण उच्च आकांक्षाको किस नामसे पुकारते हैं। वे इन सबको 'पागलपन' कहते हैं। किन्तु जब यही पागलपन कार्य-क्षेत्रमें सफलता प्राप्त करता है, तब वही पागल मनुष्य एक बड़ा प्रतिभाशाली महापुरुष गिना जाता है। पर इस प्रकारके कितने मनुष्यों-का प्रयत्न सफल होता है? पहले तो दस हजारमेंसे दस-पाँच मनुष्य ही असाधारण होते हैं, और उन दस-पाँचमेंसे भी किसी एक मनुष्य-का प्रयत्न सफल होता है। मुझे अपने कार्य्य-क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने-की बात तो दूर रही, पर मैं उस कार्य्य-क्षेत्र में उतरनेके लिये भी भली भाँति समर्थ नहीं हूँ। तब मुझे पागल नहीं तो और क्या कहा जाय? इस प्रकारके पागलके पल्ले पड़ना स्त्रीके लिये सचमुच ही बड़े अभाग्य की बात है; क्योंकि प्रायः स्त्रीजातिकी समस्त आशाएँ केवल सांसारिक सुख-दुःखोंमें ही उलझी रहती हैं। क्या पागलके द्वारा उसकी पत्नीको कभी सुख मिल सकता है? नहीं, केवल दुःख ही मिलेगा।

हिन्दू धर्म-प्रवर्त्तकोंके ध्यानमें यह बात पहलेसे ही आ गई थी। असाधारण चरित्र, असाधारण प्रयत्न और असाधारण आशा इत्यादि बातें उन्हें बड़ी प्रिय थीं। चाहे पागल हो अथवा कोई महान पुरुष हो,

पर असाधारण श्रेणीके मनुष्यका वे बड़ा मान करते थे। किन्तु यहाँपर हरएक मनुष्य यह प्रश्न करेगा कि उसके कारण उसकी सहधर्मिणीको जो जो भयंकर यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, उसके लिये उन धर्म-प्रवर्त्तकोंने क्या उपाय बतलाया है? ऋषियोंने इसपर भी उपाय बतला दिया है। 'पतिर्हि परमो गुरुः' बस वे यही एक मन्त्र स्त्रियोंको दे गये हैं। स्त्री अपने पतिकी सहधर्मिणी है, अर्थात् पतिने जो धर्म [कर्तव्य] स्वीकार किया हो उसमें उसे सहायता करना, सलाह देना, उसके उत्साह को बढ़ाना और पतिके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझना। हिन्दू धर्मने निश्चित कर दिया है कि पुरुषको किसी भी कार्य्यके चुनाव करनेका अधिकार है, और स्त्रीका अधिकार केवल इतना ही है कि वह अपने पतिकी उसके उद्दिष्ट कार्य्यमें सहायता करे और उसके उत्साहको हमेशा बढ़ाती रहे।

अब यही देखना है कि तुम हिन्दू धर्म्मका बताया हुआ मार्ग ग्रहण करती हो या नूतन सुधारका मार्ग पसन्द करती हो? यह सच है कि तुम एक पागलके साथ विवाह-पाशसे बद्ध हो चुकी हो, यह तुम्हारे पिछले जन्मके कर्म-दोषोंका ही परिणाम है। अपनी भाग्य-सम्बन्धी बातोंके लिये कुछ योग्य तजवीज करना अच्छा ही है। पर क्या तजवीज करोगी? चार आदमियोंने तुम्हारे पतिको पागल ठहरा दिया, तो क्या तुम भी उसे पागल ही समझोगी? पागल तो अपने उलटे-सीधे मार्ग को ही ग्रहण करेगा, वह उसी रास्ते जाएगा, तुम उसको कदापि नहीं रोक सकती; क्योंकि उसकी प्रकृति तुम्हारी अपेक्षा बलवान् है इस कारण उसके सामने तुम्हारी कुछ भी न चलेगी। फिर क्या तुम आंचलमें मुँह छिपाकर फूट फूटकर रोया करोगी? नहीं नहीं कदापि नहीं। तुमको भी पतिके साथ जाना चाहिये और पागलके साथ पागल बनकर उद्योग करना चाहिये। हमारे देशके इतिहासकी यह कथा तो तुम्हें मालूम ही होगी कि एक अन्धे राजा धृतराष्ट्रकी रानीने अपनी खुशीसे कपड़ेसे अपनी आँखें

बाँधकर पतिके समान अंधत्व स्वीकार किया था। कुछ भी हो पर तुम एक हिन्दू परिवारकी सुकन्या हो। प्राचीन हिन्दुओंका खून अब भी तुम्हारी रग-रगमें दौड़ रहा है। अतएव मुझे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि तुम यह अन्तिम मार्ग ही स्वीकार करोगी।

मेरे पागलपनके तीन कार्य्य हैं। पहला यह है—मेरा दृढ़ विश्वास है कि मुझे परमेश्वरने जो गुण, जो प्रतिभा, जो उच्च शिक्षा, जो विद्या और जो धन प्रदान किया है, वह सब उसी परमात्माका है। इनमेंसे मेरे और मेरे परिवारके पोषणके लिये जितना आवश्यक है, मुझे उतना ही खर्च करनेका अधिकार है। जो शेष बचे, वह सब परमेश्वरको अर्पण करना उचित है। यदि मैं सबका सब अपने लिये, अपने सुखके लिये, अपने ऐशोआरामके लिये खर्च करूँगा तो मैं चोर समझा जाऊँगा। हिन्दूशास्त्र कहते हैं कि जो मनुष्य परमेश्वरका दिया हुआ धन उसे वापिस नहीं देता, वह चोर है। मैंने अबतक परमेश्वरको केवल दो आने देकर बाकी चौदह आने स्वयं अपने सुखके लिये व्यय करके हिसाब बराबर किया और सांसारिक सुखोंमें डूबा रहा। इस प्रकार जीवनका आधा भाग व्यर्थ ही व्यतीत हो गया। किन्तु अपना और अपने परिवारका पोषण तो पशु-पक्षी तक भी करते हैं।

अब मेरी समझमें आने लगा है कि मैं इतने दिनों तक पशु-वृत्ति और चौर्य्य-वृत्ति स्वीकार किये हुए था। जब मुझे इस बातका ज्ञान हुआ तो मेरे मनमें बड़ा पश्चात्ताप हुआ; स्वयं अपने पर ही घृणा उत्पन्न होने लगी; अतएव मैंने निश्चय कर लिया है कि अब आगे ऐसा पाप कार्य्य कभी न करूँगा। परमेश्वरको वापिस देना, इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यही कि धर्म-कार्य्योंमें द्रव्यको व्यय करना। जो द्रव्य सरोजनी और ऊषाको दिया गया है, उसके लिये कोई पश्चात्ताप नहीं है। अपने अधीनस्थोंका पालन करना परम धर्म है। किन्तु केवल भाई-बन्धुओं को द्रव्य देनेसे ही हिसाब चुकता नहीं होता। वर्त्तमानके दुःख-

मय समयमें सारा देश आश्रयके लिये अपने द्वारपर लौटा आ रहा है। मेरे तीस करोड़ भाई-बहन इसी देशमें रहते हैं। उनमेंसे कितने तो भरपेट भोजन न मिलनेसे प्राण छोड़ रहे हैं, अनेक लोग दुःख और कष्टोंसे जर्जरित होकर इस चिन्तामें पड़े हुए हैं कि अब प्राणोंकी रक्षा किस प्रकार होगी। अतएव इनकी ओर भी दृष्टि फेरनी चाहिये।

अब बतलाओ, क्या इस उपरोक्त बातमें तुम मेरी सहधर्मिणी हो सकती हो? मेरी दृढ़ इच्छा है कि अब मैं साधारण लोगोंके समान खान-पान और वस्त्रादिका व्यवहार करूँगा, जिन वस्तुओंकी अत्यन्त आवश्यकता होगी उतनी ही खरीदूँगा, और शेष बची हुई रकम परमेश्वर-को वापिस लौटा दूँगा। यदि तुम्हारी भी यही इच्छा हो और तुम इतने स्वार्थत्यागके लिए तय्यार हो, तभी जाकर तुम्हारी और मेरी जोड़ी पूर्णतया मिल सकती है। तुमने एक बार कहा था कि "अभी मेरी इतनी उन्नति कहाँ हुई है" इसलिए मैंने उन्नतिका एक रास्ता बता दिया है। क्या तुम इस रास्तेपर चलने को तय्यार हो?

मेरा पागलपनका दूसरा कार्य्य इस समय मेरे गलेसे बँधा हुआ है। वह कार्य है—परमात्माका साक्षात् दर्शन करना। आजकल जिधर देखो उधर ही दाम्भिकताका राज्य छाया हुआ है। परमेश्वरका नाम-स्मरण और प्रार्थना इतनी जोरसे की जाती है कि जिससे सब लोग सुन सकें। इसका मतलब यही कि लोग उन्हें बड़े धार्मिक समझें। इस प्रकारके धार्मिकपनसे मुझे बड़ी नफरत है। यदि ईश्वर है, तो उसके साक्षात् दर्शन करनेके लिए भी कोई मार्ग अवश्य होना चाहिए। वह मार्ग कितना ही कठिन और दुर्गम क्यों न हो, किन्तु उस मार्गसे जानेका मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है। हमारा हिन्दू धर्मशास्त्र बतलाता है कि यह मार्ग और कहीं नहीं, मनुष्यके शरीरके भीतर जो मन है, उसीमें है। हमारे धर्मने यह भी बतला दिया है कि उस मार्ग द्वारा किस प्रकार जाना चाहिये। अब मैंने उसी धर्मके नियमानुसार चलना आरम्भ कर दिया है।

एक महीनेके अनुभवसे मुझे विश्वास हो गया है कि हमारे धर्मने जो कुछ बतलाया है वह झूठ नहीं है। उसमें बतलाई हुई हरएक छोटी-मोटी बातें अनुभवसे सच्ची उतरी हैं। अब मेरी इच्छा है कि मैं तुमको भी उसी मार्ग द्वारा ले जाऊँ। यह सच है कि हम दोनों साथ-साथ बराबर बराबर पाँव रखते हुए नहीं चल सकते, क्योंकि अभी तुमको उतना ज्ञान नहीं। तथापि मेरे पीछे-पीछे आनेमें तुम्हें कुछ कठिनता न होगी। इस मार्ग द्वारा चलकर हरएक मनुष्य सफलता पा सकता है। हाँ, यह आवश्यक है कि इस मार्गमें प्रवेश करनेकी इच्छा मात्र होनी चाहिए। यदि इच्छा न हो तो मैं तुमको जबरन पकड़कर नहीं ले जा सकता। यदि तुम्हारी इच्छा होगी तो इस विषयपर फिर कभी और भी लिखूँगा।

मेरा तीसरा पागलपन यह है कि अन्य कोई लोग स्वदेशको एक जड़ पदार्थ (मैदान, नदी, खेत आदि मिलकर बना हुआ) समझते हैं, किन्तु मैं जन्मभूमिको माता समझता हूँ, उसकी भक्ति करता हूँ, पूजा करता हूँ.........। अपनी माताकी दुर्दशा देखकर कौनसा सपूत पुत्र चुप बैठा रहेगा ? क्या वह उसके उद्धारके लिये कोशिश न करेगा ? मैं समझता हूँ कि इस पतित और दीनहीन राष्ट्रके उद्धारका बल मुझमें अवश्य है। उसके पुनरुत्थानके लिए जिस सामर्थ्यकी आवश्यकता है, वह मेरे इस शरीरमें है। यह सामर्थ्य और बल क्या है ? शारीरिक बल नहीं, तलवार या बन्दूक हाथमें लेकर युद्ध करनेका बल नहीं, किन्तु ज्ञानबल। यह कोई बात नहीं है कि इस संसारमें केवल एक क्षात्रबल ही है, वरन ब्रह्म-बल या ब्रह्म-तेज भी है। वह ज्ञान तेजपर प्रतिष्ठित है—उसपर स्थित है। यह विचार कोई नया या आजकलका नहीं है, मैंने इस विचारको साथ लेकर ही जन्म लिया है। यह विचार मेरे [illegible] अंग बन गया है। इस महान् कार्य्यको करनेके [illegible] इस पृथ्वीपर अवतीर्ण किया है। मेरी उम्रके चौदहवें वर्ष इस विचारका अंकुर फूटने लगा और अठारहवें वर्ष, अर्थात् चार वर्षमें ही वह पौधा

जड़मूल हो गया। कदाचित् तुम समझती होगी कि "न जाने किस दुष्ट मनुष्यने मेरे भोलेभाले पतिके मस्तिष्कमें यह पागलपन भर दिया है" पर मैं कहता हूँ कि उलटे तुम्हारे ही पतिराजने अपनेको और अन्य सैकड़ों मनुष्योंको इस मार्गपर लगा दिया है। अब यह तुम्हारी इच्छा है कि तुम इस मार्गको अच्छा कहो या बुरा, किन्तु वह और भी हजारों मनुष्यों-को इसी मार्गपर लगावेगा। मैं यह नहीं कह सकता कि मुझे अपने इसी जीवनमें इस कार्य्यमें सफलता प्राप्त हो जायगी, किन्तु यह निश्चय है कि वह कभी न कभी अवश्य ही प्राप्त होगी।

अब मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम क्या करनेका विचार रखती हो? स्त्री, पतिकी शक्ति है ...... । तुम उदासीन रहकर अपने पतिकी शक्ति क्षीण बनाओगी, या उसके कार्यसे सहानुभूति रखकर उसके उत्साहको द्विगुणित करोगी? कदाचित तुम यह कहोगी कि "कार्य्य बड़ा महान् है, मैं एक साधारण लड़की हूँ, मेरे पास न तो इतना मनोबल है, न बुद्धि-बल है। ऐसी महान् बातें सुनकर ही घबरा जानेवालीके द्वारा क्या सहायता हो सकेगी?" यदि तुम्हारे ऐसे विचार हों तो उसके लिए एक सुगम उपाय है। वह यह कि परमेश्वरका पल्ला पकड़ो। ईश्वर-प्राप्तिके मार्गमें जहां एक बार पैर रक्खा कि फिर तुममें जो जो न्यूनताएँ होंगी, उन सबको वह परमेश्वर ही पूर्ण करेगा। जिसने परमात्माका आश्रय लिया, उसके पाससे भय शनैः शनैः दूर होने लगता है। यदि तुमको मेरे शब्दोंपर विश्वास हो, यदि तुम अन्य दस जनोंकी बात न सुनकर मेरी ही सुनना चाहती हो, तो मैं तुमको अपना बल दे सकता हूँ। इससे मेरे बलकी कमी न होगी, किन्तु वह और भी द्विगुणित हो जायगा —मेरा बल बढ़ जायगा। मैं जो यह बात कहता हूँ कि स्त्री पतिकी शक्ति है, इसका अर्थ यही है कि पति अपने स्वरूपका प्रतिबिम्ब पत्नीमें देखना चाहता है और स्वयं अपनी महान् आकांक्षाओं की प्रतिध्वनि उसमेंसे निकलती हुई सुनकर दूनी शक्ति प्राप्त कर लेता है।

क्या मनुष्यके मस्तिष्कमें रात-दिन यही विचार घूमते रहना ठीक है कि मैं अच्छे अच्छे वस्त्र परिधान करूँगा, उत्तम उत्तम स्वादिष्ट भोजन खाऊँगा, हँसूँगा, नाचूँगा, खेलूँगा—कूदूँगा, सारांश यह कि जितना भी सुख भोग सकूँ, भोगूँगा ? इस प्रकारकी मानसिक अस्वस्थताको उन्नति नहीं कहते। दुःख है कि आजकल हमारे देशकी लड़कियोंका जीवन इसी प्रकारका निंद्य और अव्यवस्थित हो रहा है। तुम इन सब बातोंको त्याग दो और मेरी संगतिमें रहो। तुम इस संसारमें परमेश्वरका कार्य्य करनेको आई हो। अतएव अब उसीको प्रारंभ करो।

तुम्हारे स्वभावमें एक दोष भी है। वह यह कि तुम बड़ी ही भोली हो। दूसरा कोई जो कुछ भी कहता है तुम उसीको सुन लेती हो। ऐसे स्वभावसे मन हमेशा अस्थिर रहता है। बुद्धिका विकास नहीं होता। तुम किसी भी कार्य्यको एकाग्र मनसे नहीं कर सकतीं। इसको सुधारना चाहिये। एक ही आदमीकी बात सुनकर ज्ञान सञ्चय करना चाहिये। एक ही बातकी ओर चित्तको एकाग्र करके कार्य करना चाहिये। लोगोंकी ओरसे जो निन्दा और उपहास हो उसे सहन करते हुए अपनी भक्तिको स्थिर रखनी चाहिये।

एक दोष और है। वह तुम्हारे स्वभावका नहीं, किन्तु समयका है।

आजकल हमारे बंगाल देशकी यह हालत हो गई है कि लोग गम्भीर बातें गम्भीरभावसे नहीं सुनते। धर्म, परोपकार, उच्चाकांक्षा, महान प्रयत्न, देशोद्धार आदि जो जो बातें कुछ-कुछ गम्भीर, महान् और उच्च हैं, उन सबकी हँसकर दिल्लगी उड़ाना चाहते हैं। ब्राह्मपाठ-शालामें जानेके कारण तुम्हारी भी कुछ थोड़ी थोड़ी प्रवृत्ति इसी प्रकारकी हो गई है। बारीकी भी ऐसी ही प्रवृत्ति थी; हम सबोंकी ही कुछ न कुछ ऐसी ही है। देवघरके लोगोंमें तो वह बहुत कुछ बढ़ी हुई है। इस प्रवृत्तिको दृढ़ मन द्वारा हटानी चाहिये। तुम इसको सुगमतासे कर सकती हो। जहाँ एक बार विचार करनेकी आदत पड़ गई कि फिर

तुम्हारा मूल—स्वभाव स्वयं प्रकट हो जायगा। परोपकार और स्वार्थ-त्यागकी ओर तुम्हारा रुख है। केवल एक न्यूनता है तो वह मानसिक दृढ़ताकी है। ईश्वरोपासनासे वह दृढ़ता आ जायगी।

मेरी जो कुछ गुप्त बातें हैं, सो सही हैं। इन समस्त बातोंको किसी दूसरेपर प्रगट न कर स्वयं सब बातोंका अपने मनमें विचार करो। इसमें डरनेकी कोई बात नहीं है। हाँ, विचार करनेका मसाला बहुत कुछ है। पहलेपहल कुछ अधिक करनेकी आवश्यकता नहीं। केवल नित्य प्रति आध घण्टे परमेश्वरका ध्यान करो और उसके पास प्रार्थना-के रूपमें अपनी दृढ़ भावना प्रकट करो। इसके द्वारा तुम्हारा मन धीरे-धीरे तैयार होगा। परमात्मासे यही प्रार्थना करो कि "हे परमात्मन्! मेरे पतिके जीवनके उद्देशमें तथा ईश्वर—प्राप्तिके कार्यमें मेरे द्वारा विघ्न न होकर सर्वदा सहायता ही मिले। मैं उन सब बातोंमें साधनी-भूत बनूँ।" क्या तुम इतना कर सकोगी?

—तुम्हारा

---

[२]

२३ स्कॉट लेन, कलकत्ता।
ता० १७ फरवरी, १९०७।

प्रिय मृणालिनी,

मेरी हमेशाकी यही आदत है कि मैं बहुत दिनों तक पत्र नहीं भेजता। किन्तु यदि इसके लिये तुम्हारे समान सुशील और सद्गुणी स्त्री-ने क्षमा न किया, तो फिर मेरे लिए अन्य उपाय ही क्या है? जो आदत पड़ गई है, वह एक ही दिनमें दूर थोड़ी ही हो सकती है! मैं समझता हूँ कि मेरी यह आदत इस जन्ममें तो दूर नहीं हो सकती।

मैं तारीख ८ जनवरीको आनेवाला था, पर आ नहीं सका। मेरी

इच्छा मेरे पास ही रह गई। जिधर परमेश्वर ले जाता है, उधर ही जाना पड़ता है। इस बार मैं यहाँ अपने निजके कामके लिये नहीं आया, किन्तु परमात्माके कामके लिये आया हूँ। इस समय मेरे मनकी हालत एक दूसरे ही प्रकारकी हो गई है। उसे मैं इस पत्रमें नहीं लिख सकता। जब तुम यहाँ आओगी तब मुझे जो कुछ कहना है वह सब कहूँगा। किन्तु यहाँपर मैं इतना अवश्य कहूँगा कि अब मैं अपनी इच्छाके अधीन नहीं रहा हूँ। भगवान् जिधर ले जाता है, उधरको ही एक निर्जीव काठकी पुतलीके समान जाना पड़ता है और वह परमात्मा जो कुछ कराना चाहता है वही करना पड़ता है। कदाचित तुमको इसका अर्थ समझनेमें कठिनता होगी, इसलिये उसे जरा स्पष्ट करके कहना चाहिये, नहीं तो मैं क्या करता हूँ और किधर जाता हूँ, इस विषय पर तुम्हारे मनमें बिना कारण सन्देह उत्पन्न हो जायगा और फिर वह तुमको दुःखदायी होगा। मैंने आजतक तुम्हारे अनेक अपराध किये और उसके कारण तुमको भी कई बार असन्तोष हुआ होगा, पर वे सब स्वाभाविक थे। किन्तु अब तुम ठीक-ठीक ध्यानमें रख लो कि मैं अब स्वतन्त्र नहीं रहा हूँ। मेरे हाथसे होनेवाले कार्य मेरी इच्छासे न होकर परमेश्वरकी इच्छासे—उसकी आज्ञा-से—होनेवाले हैं। जब तुम आओगी, तब इसका मर्म ठीक ठीक समझा दिया जावेगा। मैं आशा करता हूँ कि परमात्माने अपनी असीम करुणाका मुझे जो प्रकाश दिखलाया है, वही प्रकाश तुमको भी दीखने लगेगा। किन्तु यह सब उसी परब्रह्म परमात्माकी इच्छापर अवलम्बित है। यदि तुम मेरी सच्ची सहधर्मिणी, सच्ची भार्य्या बनना चाहती हो, तो इस निश्चयसे कार्य करो कि मृत्यु भी आ जाय तो उसकी कोई पर्वाह नहीं, पर अपने उद्दिष्ट कार्यको अवश्य करो। इससे यह होगा कि तुम्हारी एकाग्र हुई इच्छा-शक्तिके बलद्वारा परमात्मा तुमको भी अपना करुणामय मार्ग दिखलायेगा। यह पत्र कोई दूसरा न देख पावे, क्योंकि मैंने इसमें अपनी बड़ी गुप्त बात प्रकट की है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि

तुम इस पत्रकी बातको इस कानसे उस कानमें भी न जाने दोगी। बस् आज इतनाही पर्याप्त है।

तुम्हारा,

—स्वामी,

पुनश्च—सांसारिक बातोंके लिए सरोजिनीको पत्र लिखा ही है। तुमको दुबारा लिखनेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि उसका पत्र पढ़नेसे सब बातें विदित हो जायँगी।

---

(३)

तारीख ६ दिसम्बर १६०७।

प्रिय मृणालिनी,

(इस पत्रके आरम्भमें कुछ घरेलू कामकाजकी बातें लिखकर वे आगे लिखते हैं:—

मुझे यहाँ क्षणभरका भी अवकाश नहीं है। लिखनेके कामका बोझा मुझपर ही है। कांग्रेस सम्बन्धी कामका भार भी मुझपर, और 'वन्दे मातरम्' की गड़बड़ मिटानेका कार्य्य भी मुझपर ही है। अब इतने कार्य कैसे किये जायँ? इसके सिवाय मेरे निजके भी अन्य कार्य्य हैं; मैं उनको भी नहीं छोड़ सकता।

क्या तुम मेरी एक बात मानोगी? यह समय मेरे लिये बड़ा ही खींचातानीका है। मुझे भय है कि कहीं इस खींचातानीके कारण मैं पागल न हो जाऊँ। यदि इसी समय तुम्हारा [illegible], तब तो मेरी चिन्ता और दुर्भावनामें और भी वृद्धि हो जायगी। और यदि तुम्हारी ओरसे सन्तोषदायक और उत्साहवर्धक पत्र मिला, तो मुझे विशेष शक्ति प्राप्त होनेका सौभाग्य मिलेगा, और मैं समस्त भय और संकटोंको दूर करके प्रफुल्ल अन्तःकरणसे उस पार पहुँच जाऊँगा। मैं समझता हूँ कि तुमको देवघरमें अकेले रहना कदाचित् ठीक न लगता हो, किन्तु

यदि अपने मनको दृढ़ रखोगी और परमेश्वरपर पूर्ण विश्वास रखकर मनको निर्भय बनाओगी तो तुम्हारे मनपर दुःख आदि उतना प्रभाव न जमा सकेंगे। जिस दिन तुम मेरे साथ विवाहरज्जुमें बँधी थी, उसी दिनसे तुम्हारे भाग्यमें दुःखोंका ताँता लग गया है। तुम्हारा और हमारा वियोग कई बार होगा। कारण यह कि अन्य साधारण बंगाली गृहस्थोंके समान मैं अपने जीवनका उद्देश्य यह नहीं बना सकता कि अपने परिवारके लोगोंको खूब सुख दिया जाय—उनके सुखमें किंचित भी न्यूनता न हो। ऐसी हालतमें तुमको यह खयाल करनेके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं कि जो कुछ मेरा धर्म है, वही तुम्हारा भी है, और मैंने जिस कार्य्यको हाथमें लिया है, उसकी सफलतामें ही तुम्हारा सब सुख है।

एक बात और है। इस समय तुम जिन लोगोंके अन्दर निवास करती हो वे सब हमारे और तुम्हारे लिये बड़े हैं। यदि वे किसी वक्त कुछ कड़वे बचन बोलें, या ऐसे शब्द कहें कि जिसको तुम मनमें अन्याययुक्त समझती हो, तो भी तुमको उनपर क्रोध न करना चाहिये। तुमको अपने मनमें यह भी न लाना चाहिये कि वे जो कुछ कहते हैं, वह सब मनसे कहते हैं—वे तुम्हारे मनको दुखानेके लिये कहते हैं तुम्हें दुःख देनेके लिये ही कहते हैं। क्योंकि प्रायः ऐसा होता है कि मनुष्यके दिलमें कुछ न भी हो, पर वह क्रोधके आवेशमें कुछका कुछ कह जाता है। मुखसे विचारपूर्वक शब्द नहीं निकालता। ऐसे समयमें अपने मनपर उन शब्दोंका असर होने देना उचित नहीं। यदि तुमको उनके साथ रहना बिलकुल ही असह्य हो गया हो तो मैं गिरीशबाबूसे कह दूँगा; अर्थात् मैं जब तक कांग्रेसकी गड़बड़में रहूँ तब तक तुम्हारे भाई घरपर ही आकर रह जायँगे।

आज मैं मेदिनीपुर जा रहा हूँ। जब वहाँसे वापिस लौटूँगा, तब यहाँका सब प्रकारका प्रबन्ध करके सूरतको चला जाऊँगा। मुझे तारीख १५ या १६ को ही जाना पड़ेगा, और वहाँसे २ जनवरीको वापिस लौट आऊँगा।

—तुम्हारा,

श्री 'अरविंद'का संक्षिप्त परिचय

श्री 'अरविन्द' घोषका जन्म कलकत्तेमें १५ अगस्त सन् १८७२ ई० को हुआ था। सिविल सर्जन पिता अंग्रेजी सभ्यतापर लट्टू थे। और अपनी सन्तानोंको भारतीयताकी बूसे बचाना चाहते थे।

श्री 'अरविन्द' ७ वर्षकी ही अवस्थामें विलायत शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेज दिये गये। विलायतके वातावरणमें उन्होंने २१ वर्षकी आयु तक शिक्षा प्राप्त की। वहाँसे भारत लौटनेपर उनमें एक अद्भुत शान्तिका चमत्कार दिखाई पड़ा। उन्होंने श्री बड़ौदा नरेशकी नौकरी भी स्वीकार की और बड़ौदा कालेजके प्रोफेसर रहे। पुनः वे राजनीतिक क्षेत्रमें भी कूद पड़े——जिसकी बड़ी लम्बी कहानी है। तत्पश्चात् आप बंग-भंग आदि कई क्रान्तिकारियोंके काण्डमें गिरफ्तार कर लिये गये।

कुछ दिनों बाद जेलकी कालकोठरीमें भक्तको भगवान्‌का यह आदेश मिला कि तुम्हें सब छोड़कर एकान्तवास करना है। तब भगवान्‌ने अरविन्दके हाथमें गीता रख दी। कारागारमें उन्हें बराबर दर्शन होता था। मुकदमे आदि चल कर नष्ट हो गये। वे छोड़ दिये गये। पुनः पुलिसके तंग करते रहनेसे सन् १९१० में पाण्डेचेरी चले गये। फिर वे वहाँ आश्रम बनाकर आजीवन आपने योग-साधना व तपस्याका प्रचार किया था।

उन्होंने १५ अगस्तसे देशकी स्वाधीनताके लिये योग-साधन प्रारंभ किया था और विशेष बात है कि ठीक १५ अगस्तको ही यह देश स्वतन्त्र हुआ। सन् १९५० ई० में दिसम्बरकी ५ वीं तारीखको श्री योगी अरविन्दने अपना पञ्चभौतिक शरीर त्याग किया।

लव-लेटर्स (प्रेम-पत्र)



विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

मित्रके नाम पत्र

पत्र-लेखक

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक

सुरेशचन्द्र शर्मा

इस ग्रंथमें दिये पत्र सन् १९१३-१९२२के बीच वर्षोंमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा मुझको लिखे गये थे।

अक्टूबर १९२८ सी० एफ० एन्ड्रूज

रवीन्द्रनाथका व्यक्तित्व

[१]

रवीन्द्रनाथ ठाकुरने एक दिन लन्दनमें अपने साहित्यिक जीवनसे संबंधित अपने जीवनकी रूपरेखा बताई; [illegible] उनके स्वभाव और चरित्रको सबसे अच्छी [illegible]।

साउथ केन्सिङ्गटन अन्डरग्राउन्ड स्टेशनके प्रवेश-द्वारके ठीक बाहर एक मकानमें ऊपरके कमरेमें वे प्रवास किये हुए थे। सन १९१२ सितम्बर-का प्रातःकाल था और लन्दनका गहरा कुहरा चतुर्दिकमें छाया हुआ था। एक विषम रोगसे, जिसके कारण उन्हें आपरेशन कराने के लिये पश्चिममें आना पड़ा था, वह अब भी बहुत दुर्बल थे और उनका चेहरा पीला और क्लान्त दिखाई पड़ता था।

उन्होंने पहले अपने पिताके बारेमें, मुझे बताया—किस भाँति उनकी उपस्थितिमें सारा घर शान्त और नीरव हो जाता था, मानो सब लोग उनके 'ध्यान' में विक्षेप न पड़ने देनेको चिन्ताशील हों।

उन्होंने अपनी माँके बारेमें भी चर्चा की, जिनकी मृत्यु उनके शैशवमें हो चुकी थी। अन्तिम समयमें जब उन्होंने इस भूतलपर उनका चेहरा मृतावस्थामें भी गम्भीर और सुन्दर देखा, तो उनमें बालकों जैसा कोई भय नहीं जगा और न कोई आश्चर्य ही हुआ। सब कुछ शान्त और स्वाभाविक मालूम देता था। और यह तो बादकी बात है कि ज्यों-ज्यों वे बड़े हुए उन्होंने मृत्युके आन्तरिक अर्थको समझा।

उन्होंने अपने बाल्यकालका जो परिचय दिया था, वह इस प्रकार है :—

"मैं बिलकुल अकेला था—यह मेरे बचपनकी विशेषता थी—कि मैं बिलकुल अकेला था। अपने पिताको मैंने बहुत कम देखा और यों तो वह बहुत दूर थे किन्तु सारे घरमें उनकी उपस्थिति व्याप्त थी और इसने मेरे जीवनपर सबसे बड़ा प्रभाव डाला। माँके देहावसानके बाद मैं घरके नौकरोंके संरक्षणमें रखा जाता था। दिन-प्रतिदिन मैं खिड़कीके सामने बैठा करता और जो बाह्य जगतमें हो रहा था, उसका अनुमान करता।

जहाँ तक मैं स्मरण कर सकता हूँ, मैं आरम्भसे ही प्रकृतिका अनन्य प्रेमी था। आह! जब मैं आकाशमें एक-एक करके बादलोंको आते हुए देखता तो आनन्दसे उन्मत्त हो उठता था। उन आरम्भके दिनोंमें भी मैं अनुभव करता था कि मैं बहुत निकट और घनिष्ठ साथियोंसे घिरा हुआ था। हाँ, यह मैं नहीं जानता था कि उसको क्या कहूँ। प्रकृतिके लिये मुझमें इतना प्रबल प्रेम था कि समझमें नहीं आता, मैं तुमसे किस प्रकार उसका वर्णन करूँ; किन्तु वह एक प्रेम-भरी सहचरी थी, जो सदा ही मेरे साथ रहती और सदैव ही मेरे सामने किसी नये सौन्दर्यका स्पष्टीकरण करती रहती।"

इस भाँति, लन्दनमें उस कुहरेवाले दिन, उन्होंने अपने बाल-जीवनका शब्द-चित्र मुझको दिया था। उनकी 'Reminiscences' (संस्मरण) का यह उद्धरण इस चित्रको और भी स्पष्ट बना देता है :—

"हेमन्तकी प्रातःकाल सोकर उठते ही मैं दौड़कर उपवनमें जाता। ओससे भीगी घास और पत्तियोंकी गन्ध मुझे आलिंगन करती प्रतीत होती थी। और सूर्यकी प्रथम रश्मियोंके साथ ही सुकोमल और नवेली उषा, कम्पनयुक्त ताड़-पत्रोंकी कुंजोंके नीचे, मेरा स्वागत करनेको अपना मुखड़ा उठाती थी। प्रकृति अपनी मुट्ठी बन्द करती और सहास्य प्रतिदिन प्रश्न करती, "बताओ इसमें क्या है?" और उसमें कुछ भी होना असंभव प्रतीत न होता।"

—:०:—

मित्रके नाम पत्र

प्रकरण : १ :

इस प्रथम प्रकरणके पत्र उन प्रारम्भिक वर्षोंमें जब मैंने शान्तिनिकेतनमें अध्यापन कार्य आरंभ ही किया था, रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा मुझको लिखे गये थे। सितम्बर १९१३ में वह यूरोपसे लौट आये किन्तु मलेरिया ज्वरसे पीड़ित होनेके कारण मैं उनके साथ नहीं आ सका था। बादमें अपने मित्र विली पिअर्सनके साथ दक्षिण अफ्रीका जाना मेरे लिये आवश्यक हो गया था ताकि मैं शर्तबन्दीकी प्रथासे भारतीय श्रमिकोंपर होनेवाले अत्याचारोंके विरोधमें, असहयोग आन्दोलनमें भाग ले सकूँ। हम दोनों १९१४ की अप्रैलमें भारत लौटे और १९१५ सितम्बरमें फिजी जाने तक शान्तिनिकेतनमें रहे।

नैनीतालके निकट रामगढ़में सन् १९१४ मईके पिछले भागमें महा-

कवि नित्यप्रति मुझको पत्र भेजते थे। पत्रोंके इस विशेष क्रमके सम्बन्धमें कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है।

अपनी गर्मियोंकी छुट्टियाँ बितानेके लिये वे पहाड़ियोंपर गये थे और शरीरतः पूर्णरूपेण स्वस्थ थे। पर बादमें उन्होंने बताया कि वहाँ पहुँचने पर मृत्यु कष्ट जैसी मानसिक पीड़ाका उन्होंने अनुभव किया। उन्हें आशा भी न थी कि वह जीवित बच सकेंगे। इससे भी विचित्र बात तो यह थी कि यह सब कुछ अकस्मात् ही हुआ और एक ऐसे समयपर जब कि वे हिमालयके सर्वोपरि सौंदर्यके कारण पुलक गात थे, साथ ही मैदानोंकी भीषण गर्मीसे परिवर्तन पाकर शान्ति अनुभव कर रहे थे। मुझे स्मरण है जब उन्होंने यह कहा कि निर्मल, निरभ्र आकाशमें आकस्मिक वज्रपातकी भाँति मर्मपीड़ाके आघातने मुझे अभिभूत कर लिया।

यह व्यथा, जिसकी मईके पत्रोंमें चर्चा है, सम्पूर्णतः शान्त हो गई। जूनके पूरे महीने भर कवि मन और शरीरसे स्वस्थतम थे और उन्होंने छुट्टियोंकी समाप्तिपर अपनी पाठशालामें, व अपने बच्चोंमें पूरी तरह काम पुनः आरंभ कर दिया था। मुझे ठीक स्मरण है कि सन् १९१४ जून विशेष आनन्दसे बीता।

किन्तु जुलाईके आरंभमें फिर उनके जीवनपर अंधेरा छा गया और ऐसा प्रतीत होता था कि एकबार फिर उनपर अधिकार पाया जायगा। उस अन्धकारका कोई बाहरी कारण जैसे बुरा स्वास्थ्य या बुरा जलवायु नहीं मालूम देता था और पाठशालाका काम भी आश्चर्यजनक प्रगतिपर था। परन्तु बराबर उन्होंने, एक रहस्यमय दुर्वह भार एवं मानसिक पीड़ाकी चर्चाकी है। यह पीड़ा बलात् उन्हें एकाकी जीवनकी ओर ले गई। वे पाठशालाको छोड़कर सुरूलमें अकेले रहे। लगभग तीन महीने तक यह उदासी रही। संभवतः इस बीचमें पत्र नहीं लिखे गये; किन्तु मझे इस पीड़ाका सुस्पष्ट एवं दुखद स्मरण है।

आने वाले महायुद्धका समाचार एवं संकेत पानेके बहुत पहलेकी

बात है। हम एक ढङ्गसे संसारसे हटकर शान्तिनिकेतनमें रह रहे थे। इस समय उनका चित्त, मानवताको डँसनेवाली किसी भावी दुर्घटनाका आभास पाकर पूरी तरह व्यथित था और वे उसके लिये चिन्तित थे। इसी समय उन्होंने बंगलामें एक महत्वपूर्ण कविता विध्वंसक (Destroyer) लिखी जो युद्ध आरंभसे कुछ सप्ताह पूर्व ही प्रकाशित हुई। इस कवितामें उन्होंने भूतलपर अकस्मात आनेवाले संसारकी चर्चाकी है। उसमें सम्मिलित पंक्तियोंका अनुवाद यह है :—

आ रहा यह कौन, विध्वंसक कहीं ?

उच्छ्वसित हो अश्रुवारिधि काँपता
वेदना की ऊर्ध्वउच्छल ज्वार में
झूमता उन्मत्तता से मेघदल
अरुण हो, विद्युत-प्रताड़ित वात में

भर गये नभ नील तम में घहर कर
वज्र कंपित हास से उन्मत्त के ;
मरण से अभिषिक्त रथ-आरूढ़ अब
जीवन; करो अर्पित उसी सम्राट् को—

भेंट जो संचित किये तुमने सभी।

अब उस विगतकालपर ध्यान देते हुए जब कि मानवता पारस्परिक संघर्षसे छिन्न-भिन्न हो रही थी, यह निश्चित प्रतीत होता है कि महाकविका अत्यन्त भावुक हृदय आनेवाली दुर्घटनाको पहलेसे ही अस्पष्ट रूप से अनुभव कर रहा था। मैं और किसी ढंगसे उस गहरी मानसिक पीड़ाका समाधान नहीं कर सकता।

लन्दन, १६ अगस्त १९१३

यह जानकर कि अब तुम शान्ति निकेतनमें हो मुझे बहुत हर्ष है। वहाँ तुम्हारे साथ होनेकी अपनी उत्कट इच्छाका दमन करना असंभव है।

अन्ततः वह समय आ गया है कि इंग्लैंडसे मुझे विदा हो जाना चाहिये; कारण, मैं देख रहा हूँ कि पश्चिमका मेरा काम मुझे बहुत खपा रहा है। यह मेरा बहुत अधिक ध्यान आकर्षित कर रहा है और वास्तविक से अधिक महत्त्वका रूप धारण कर रहा है। अतः बिना अधिक समय नष्ट किये, मुझे उस विज्ञप्तिविहीन, शान्त, एकान्त स्थलमें चले जाना चाहिये, जिसमें हर सप्राण बीजको अंकुरित करनेकी क्षमता है।

अभी प्रातःकालमें ही रौथैन्स्टीनके ग्राम्य-निवास तक मोटरकी सवारी करने जा रहा हूँ। अब यदि मैं और भी देर करूँ तो दूसरे पत्रोंका इसी डाकसे उत्तर देनेको समय नहीं रहेगा। अतः इस पत्रको मुझे यहीं समाप्त कर देना चाहिये।

शान्तिनिकेतन, फरवरी १९१४

[दक्षिण अफ्रीकासे मेरे इंगलैंड लौट आनेपर लिखा गया।]

मैं तुमको अपना स्नेह, और लगभग दो महीने पहले लिखे हुए अपने एक गीतका अनुवाद भेजता हूँ। यह जानकर कि तुम हमारे पास मरणका ज्ञान और दुखका कोमल बल लेकर आ रहे हो, हम तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। विदित हो, कि जब श्रीयुत गाँधी व दूसरे व्यक्तियोंके साथ दक्षिण अफ्रीका में हमारे निमित्त लड़ रहे थे, हमारा सर्वोत्तम प्रेम तुम्हारे साथ था।

कोलाहल भरे मेरे दिन अभी बीते नहीं हैं। सच तो यह है कि व्यवस्थित होकर अभी मैं अपने कामसे नहीं लग पाया हूँ और साथ ही विश्राम भी नहीं पा रहा। विभिन्न रूपमें प्रतिदिन बाधाएँ आती हैं। अन्ततः मैंने निश्चय कर लिया है कि निमंत्रणोंपर ध्यान न दूँ, पत्रोंका उत्तर न दूँगा और अभद्र बन जाऊँगा।

अपने आश्रम में आमोंपर बौर आरहा है। कुल और अश्रुत संगीतसे पवन ओत-प्रोत है। मेरी समझमें नहीं आता कि ऋतुओंकी पुकारके

लिये क्यों हम बहरे बन जायँ और मूर्खतासे इस तरह व्यवहार करें कि मानो मनुष्यके लिये वसंत और शिशिर एक-से ही हैं—नित्य उसी ढर्रेके कामोंमें जुटे रहें और जब तब भी निरर्थक और असंगत होनेकी भी हमको स्वतंत्रता न हो। जो भी हो, आजकल मैं एक ऐसी धुनमें हूँ जहाँ व्यक्ति यह भूल जाता है कि उसका कोई दायित्व भी है, अतिरिक्त इसके कि वह निरर्थक रहे और प्रसन्न हो।

दूसरेको लाभ पहुँचानेका प्रयत्न करना और साथ ही अपने आपपर इतना भी न हो कि दूसरेको दे सके—यह दयनीय व्यापार है।

शान्तिनिकेतन, १० मई १९१४

पहाड़ोंपर मेरे साथ रहनेके लिये तुम कब आ रहे हो? मुझे डर है कि आजकल तुम बहुत अधिक चिन्तासे घिरे हुए हो और तुमको बहुत विश्रामकी आवश्यकता है। मैं इन छुट्टियोंमें तुमको काम नहीं करने दूँगा। छुट्टियोंके लिये हमारा कोई विशेष प्रोग्राम नहीं होना चाहिये। हम दोनों इस बातपर सहमत हों कि जबतक आलस्य स्वयं हमारे लिये भार न हो जाय, हम छुट्टियोंको पूरी तरह नष्ट करें। एक आध महीनेके लिये हम यह सहन कर सकते हैं कि हम समाजके उपयोगी सदस्य न रहें। उपयोगी बननेके उत्सुक प्रयत्नसे बहुत-सी असफलताएँ होती हैं, कारण अपने लोभसे हम बीजोंको बहुत पास-पास बो डालते हैं।

रामगढ़ १४ मई १९१४

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि मैं ठीक उसी जगह आगया हूँ जिसकी मुझे [illegible] थी। बंगालके मैदानोंके प्रति अश्रद्धा होनेसे मैं घृणा करता था, जहाँ कि पृथ्वी ऐसी [illegible] और [illegible] है कि एकमात्र आकाशको उसने सारे क्षितिजका साम्राज्य सौंप दिया है। पर इसकी याद है कि कविका हृदय अस्थिर होता है। वह

सरलतासे जीता जा सकता है; और आज मैं, क्षमा याचना करते हुए, पिता हिमालयके सम्मुख घुटने झुका रहा हूँ कि अंधविश्वासके कारण इतने समय तक मैं दूर रहा।

चारों ओरकी पहाड़ियाँ मुझे मणिपात्र प्रतीत होती हैं जिससे शान्ति और सूर्य-प्रकाश छलका पड़ता है। एकान्त उस पुष्पकी भाँति है जो सौन्दर्यकी पंखड़ियाँ फैला रहा है और जो ज्ञानमधुको हृदयंगम किये है। मेरा जीवन भरा पूरा है। अब वह छिन्न-भिन्न और विभाजित नहीं है।

दार्जिलिंग, ११ नवम्बर १९१४

सच्चा प्रेम हमेशा आश्चर्यमय होता है। हम उसको स्वीकार नहीं कर सकते। अपने लिये तुम्हारे प्रेमको सहर्ष, सधन्यवाद स्वीकार करता हूँ और आश्चर्यपूर्वक विचार करता हूं कि उसका हेतु क्या समझूँ। संभवतः हर मनुष्यमें अपना एक मूल्य होता है जिससे वह स्वयं अपरिचित रहता है। उसीसे अपने आवरणके द्वारा अपने प्रेमकी प्रेरणा करता है। इसके-द्वारा मनुष्यको आशा होती है कि सत्य स्वरूपसे अधिक है और तर्कसे जितना विदित होता है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिकके लिये हम उपयुक्त होते हैं। प्रेम हमारे अन्दर निहित असीमके लिये है, न कि उसके लिये जो प्रकटतः सामने आता है।

कुछ व्यक्तियोंका विचार है कि हम जिसे प्रेम करते हैं उसे आदर्श बना लेते हैं। पर सच यह है कि प्रेमके द्वारा हम उसके आदर्शको प्राप्त करते हैं और यदि हम उसे जानें तो आदर्श ही सत्य है। हमारे अन्दर शाश्वत विरोध है कि हमारा मूल्य हमारी अयोग्यतासे प्रकट होता है, और प्रक्रियाके परे भी जा सकता है और अन्तमें परम सत्य क्यों प्राप्त करता है। यदि हमको प्यार न किया जाता तो हम कभी भी निश्चय नहीं कर सकते कि हम वस्तुतः जहाँ हैं, उससे अधिक सत्यमें हैं या नहीं।

तुम्हारे द्वारा श्रीयुत रुद्रको मैं अपना प्रेम भेजता हूँ। उनको बता

देना, कि जब तक कि मेरे स्वभावमें कृतज्ञताका एक कण भी शेष है, भूमण्डलके हर क्षेत्रमें धन्यवाद वितरण करते हुए मैं पत्र-व्यवहारके जंगलमें बुरी तरह खोया हुआ हूँ।

इलाहाबाद, १८ दिसम्बर १९१४

अपने आश्रमके धूमीले नीलाकाशमें और शान्त हरियालीमें तुम्हारे खोये होनेकी कल्पना कर मुझे हर्ष होता है। मुझे प्रसन्नता है कि तुम्हारे जानेके पूर्व हम परस्पर वार्तालाप कर सके। मैं निजी अनुभवसे जानता हूँ कि आश्रम तुमको, वह गहराईमें निहित अनाशक्ति देगा जिसकी अन्तरतमके एवं संसारकी वास्तविकताके समक्ष आनेके लिये भारी आवश्यकता है।

अब तक तुमने यह पहचान लिया होगा कि मेरे अन्दर कछ ऐसी वस्तु है जो औरोंकी अपेक्षा मुझे भी कम चकमा नहीं देती। अपने स्वभावके इस अंशके कारण मुझे अपने बाह्य उपकरणोंको खुला और स्वतंत्र रखना पड़ता है ताकि मेरे जीवनमें पर्याप्त स्थान बना रहे, उसके लिये जो मनको अगोचर है और जिसकी हर क्षण प्रतीक्षा है। विश्वास करो, मेरे अन्दर बलवती माननीय सहानुभूति है। फिर भी मैं दूसरेसे ऐसा सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता जो मेरी जीवन-धाराकी गति घटा दे। मेरी जीवन-धारा—जो मेरी बुद्धिसे परे एकान्तके अँधियारेमें प्रवाहित है। मैं प्रेम कर सकता हूँ पर मेरे अन्दर वह नहीं है जिसे फ्रेनोलॉजिस्ट* आसक्ति कहते हैं। अधिक सही तो यह है कि मेरे अन्दर एक ऐसी आकर्षण शक्ति है जो आसक्तिके प्रति ईर्ष्यालु है। एक ऐसी शक्ति जो मेरे ऊपर अपने लिये, अपने गुप्त उद्देश्यके लिये अधिकार बनाये रखनेका प्रयत्न करती है।

यदि यह गुप्त उद्देश्य केवल नैतिक ही होता तो उसको सहज ही

* कपालकी आकृतिसे मानसिक स्वभाव और प्रवृत्तियोंको बताने वालोंको फ्रेनोलॉजिस्ट कहते हैं।

सहन कर लिया जाता—यही नहीं उसका स्वागत किया जाता, परन्तु यह तो जीवनोद्देश्य है, विकास और वृद्धिका लक्ष्य है और इसी कारण, उसे थोड़ेसे विरोधका सामना करना पड़ता है जब कि यह दूसरी जीवन-धाराओं के मार्गको काटता है। यह अहंकारमय प्रतीत हो सकता है। परन्तु जिस शक्तिकी मैं चर्चा कर रहा हूँ, वह उस व्यक्तित्वकी है जो मेरे अहम् भावसे परे है। अपने हृदयस्थ ईश्वरको मुझे पा लेना चाहिये, जो केवल मात्र एक अपार्थिव, नैतिक आदर्श ही नहीं है वरन एक पुरुष है। प्रायः जिसको आनन्द कहते हैं, उसका मूल्य देकर भी, परित्यक्त और हेय होने पर भी, और गलत समझा जानेपर भी, मुझे उसके प्रति निष्ठा बनाये रखनी चाहिये। मैं स्वभावसे मिलनसार हूँ। मित्रोंके साथकी मित्रताके सुख और उपयोगिताके स्वाद लेनेकी मेरी तीव्र इच्छा होती है किन्तु मैं अपने आपको दे देनेके लिये स्वतन्त्र नहीं, चाहे वह आवश्यक और लाभदायक ही क्यों न प्रतीत होता हो। और कुछ अंशों तक जो विस्तृत समय और स्थान अपने पास एकत्रित किये रहता हूँ, वह जिस तरह मैं चाहूँ उस तरह उपयोग करनेके लिये मेरा नहीं है। कभी-कभी यह अकेलापन मेरे लिये असह्य हो जाता है, परन्तु यह कभी अच्छी तरह पूरी हो जाती है। मैं निश्चय ही कह सकता हूँ, कि उनके लिये जो यह जानते हैं कि इससे क्या आशा करनी चाहिये, यह सब फलप्रद होगा।

मानव आत्मा ईश्वरीय पुष्प है। इसकी सर्वोत्तम गंध और बहार उस समय नहीं मिलती जब रस निकालनेके लिये, उसे उत्सुक हथेलियोंमें बन्द कर दिया जाता है वरन उस समय जब वायु एवं प्रकाशकी वृहत स्वतन्त्रतामें अकेले ही छोड़ दिया जाता है! किन्तु बड़े दुर्भाग्यसे,

नियतिको तो भूल हम जाते सहज,
जगतके अत्यन्ततम सामीप्यमें।
ग्रास कर-कर नष्ट देते शक्ति सब,
भूल कर वरदान भावाधिक्यमें।

मेरा प्रेम, मौन और खुला है। यह अपने यौवन भरे बहारके समय चमकीले आवरणसे ढका था; और जब इसमें फूलसे आकर फल पकने लगे तो भेंट और उपहारोंसे उभरा पड़ता था। किन्तु अब फिर बीज-दानका समय आ गया है और वह अब खोलको तोड़कर फिर खुली हवामें आ गया है। आकर्षण और लुभानेके आवश्यक बोझने उसको फेंक दिया। अब उसकी झीनी चादरमें जीवनकी गंभीरता भरी हुई है। अतः जब तुम आकर शाखाको झकझोरोगे तो प्रत्युत्तर नहीं मिलेगा। क्योंकि वहाँपर वह है ही नहीं। किन्तु यदि उसकी नीरवतामें तुम विश्वास कर सकते हो और उसे नीरवतामें स्वीकार भी करते हो, तुमको निराशा नहीं होगी।

महाकविने सन् १९१४ के बड़े दिनपर जो बंगला कविताका अनुवाद मुझे दिया था वह यह है कि यहाँ उसका हिन्दी अनुवाद दिया जाता है।

न्याय

हर्षमें उन्मत्त हो जब क्रूरने, धूलि लेकर मैं तुम्हारे वसनको।
शुचि! मलिन करने चले तब आहह मम, वेदनासे भर गया उर व्यथित हो॥
क्रुद्ध विमूर्च्छित कंठसे मेरे कसक, एक स्वर निकला विकल चीत्कारसे।
“भव्य! करमें दंड ले निज न्यायका आज करदो न्याय इस अपराधका॥”
प्रात आया बिंध गई उस नयनसे लाल थे जो रात्रिके रसरागसे।
शीश नत हो झुक गया सित कुमुदवन तप्त श्वासोंसे करुण भयभीत हो॥
गहनतमकी अतलताको भेद कर, तारकोंकी दृष्टि रुक थिर हो गई।
क्रूरके मदपान पर आरक्त हो, धूलि धूलित कर लिये जो थे खड़े॥
कुसुमदलोंमें निहगन्ध मधुमासमें, सरित तटकी छाँह ये तरुकंपमें।
न्याय था संचित तुम्हारा अतुलतर चल तरंगोंकी सलिल-हिलोरमें॥
किन्तु प्रिय! आंधेरोंने निज ये दस्युसे घन तिमिरमें छिप चुप चले।
परिहरण करने तुम्हारे साज सब निज लालसा कटुकामना शृंगार हत॥

जब कठिन आघातसे तुम व्यथित हो रंग गये चुप, सरल मेरा तो हृदय।
वेदनासे विकल हो फूटा सहज "प्रिय! न सोचो, खड्ग ले अब न्याय कर"
आह! पर था न्याय कैसा रहसवत, जननि के आँसू गिरे थे स्नेहसे।
शर क्षतोंमें था छिपाया विहतने, भल अपनी मंत्रणा हो सदयतर॥
प्रणयकी अस्वर अ ना ही कसकमें पतिव्रताकी सरल कोमल लाजमें।
शून्य निशिके अश्रुमें—तब न्यायका—सुक्षमाकी पीत ऊषा किरणमें॥
अह कठिन! खल विमुख अपने लोभमें चढ़ तुम्हारे द्वारपर निशि प्रान्तमें।
छिन्न कर तब कोष गृह उन्मत्त हो, लूटने मुझको चले जब मूढ़ वे॥
किन्तु असह प्रभारसे निज लूटके पंगु बन असमर्थ हो ठिठके रहे।
करुणा उनको देख तब मैंने कहा—"हे कठिन मेरे! क्षमा करदो उन्हें"
आँधियोंमें छिन्न करती धूलिमें, भूपनित करती कुपरिहित कोषको।
वज्रघनमें, रक्त वर्षामें, प्रकूपित—अस्त रविकी लालिमामें—
छूट तब निकली क्षमा॥

लन्दन,
१२ जुलाई १९२०

कल जब तुम्हारी बहन मुझसे मिलने आई और जब तुम्हारी दूसरी बहनके कुशलके बारेमें आश्वासन दिया तो मुझे बहुत हर्ष हुआ और बड़ी सान्त्वना मिली। और उन्होंने मुझसे बारबार अनुरोध किया कि मैं तुम्हें लिख दूँ कि उनके बारेमें तनिक भी चिन्तित होनेका कारण नहीं है। और वे सब अपने नये घरमें सुखपूर्वक व्यवस्थित हो गये हैं। मैंने उन्हें तुमसे सम्बन्धित सारे समाचार दिये। किन्तु दुर्भाग्यसे उन्हें यह विश्वास नहीं दिला सका कि तुम अपने स्वास्थ्यके बारेमें सावधान हो।

यूरोपके अन्य देशोंसे बराबर निमंत्रण आ रहे हैं और मुझे यह निश्चित प्रतीत होता है कि इन स्थानोंमें हार्दिक स्वागत मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। जब मैं क्लान्त होता हूँ और जब लौटनेकी प्रबल इच्छा होती

है तो यह सोचकर मुझे शक्ति मिलती है कि मेरे विचारोंके पक्षीवर्गने इन समुद्र तटोंपर अपना घोंसला पा लिया है और सच्चे प्रेम और आश्चर्यके साथ इन अत्यन्त व्यस्त पुरुषोंने सुदूर पूर्वके स्वरको सुना है। यह मेरे लिये बराबर विस्मयका विषय है। जो भी हो यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि व्यक्ति सचमुच पूरी तरह वहाँ ही रहता है जहाँ उसके विचारों और कामों को प्रत्युत्तरमय जीवनका माध्यम मिलता है।

इस समय जब मैं पश्चिममें हूँ, मैं पहलेकी अपेक्षाकृत जोरोंसे अनुभव करता हूँ कि मस्तिष्ककी सजीव सृष्टिमें मेरा स्वागत हो रहा है। यहाँ मुझे अपने अवकाश, आकाश और प्रकाशका अभाव है। किन्तु मैं उनके सान्निध्यमें हूँ जो मेरी आवश्यकता अनुभव करते हैं और व्यक्त करते हैं और जिनको मैं अपने आपको अर्पण कर सकता हूँ।

यह असंभव नहीं है कि कालान्तरमें उन्हें मेरे विचारोंकी भविष्यमें कोई आवश्यकता न रहे और मेरे व्यक्तित्वमें कोई आकर्षण भी न रहे, किन्तु क्या इसका कुछ महत्व है। पेड़ पत्तियोंको छोड़ देता है पर सच यह है कि जब वे जीवित थीं, उस वृक्षके हृदयमें वे ही धूप पहुँचाती थीं और उनका ही स्वर जंगलका स्वर था। पश्चिमीय समाजसे मेरा आदान-प्रदान—जीवनका आदान-प्रदान रहा है। जब वह बन्द भी हो जायगा तो यह सत्य स्थायी रहेगा कि वह प्रकाशकी कुछ किरणें जो उनके मस्तिष्कके जीवित पदार्थमें रूपान्तरित हो गई हैं, वहाँ लाया। हमारे जीवनका फैलाव छोटा है और अवसर कदाचित ही मिल पाते हैं। अतः जहाँ आत्मा उनकी माँग कर रही है और जहाँ फसल पकेगी, वहीं अपने विचारोंका बीज-आरोपण कर देना चाहिये।

लन्दन,
२१ अप्रैल, १६२१

प्रिय देवी,

तुम्हारा पत्र उस प्रातःकाल देरसे मिला। मुझे यह जानकर दुःख हुआ कि तुम इस होटलमें ऐसे समयपर आई जब कि मैं दूसरे कामोंके लिये वचनबद्ध था।

यह असंभव नहीं है कि जातीय चेतनताके किसी असंदिग्ध अनिष्ट ने तुमसे यह कल्पना कराई कि मैंने अपने व्याख्यानमें ब्रिटिश लोगोंके विरुद्ध क्रोधका भाव प्रकट किया। पश्चिम या पूर्वके शक्तिशाली राष्ट्रोंके बर्बर शोषण द्वारा अपमानित या आपद सभी जातियोंके लिये मेरी गहरी सहानुभूति है। मुझे उतनी ही सहानुभूति अमेरिकाके नीग्रो लोगोंके साथ है जिनका बर्बरतासे यों ही प्राण हरणकर लिया जाता है और जिसका कारण प्रायः आर्थिक होता है। मेरी उन कोरिया-वासियोंसे भी उतनी ही सहानुभूति है, जो जापानी साम्राज्यवादके सबसे ताजे शिकार हैं जितनी कि अपने देशके बेबस बृहत समुदायके प्रति अत्याचारोंके कारण है।

मुझे विश्वास है कि ईसामसीह यदि आज जीवित होते, तो उन जातियोंसे क्रुद्ध होते जो दूसरी दुर्बल जातियोंके जीवन रस पर फलने-फूलनेका प्रयत्न करते हैं, ठीक उसी तरह जैसे वे उन लोगोंपर नाराज हुए जिन्होंने अपनी अपवित्र उपस्थिति और आचरणसे देव-मन्दिरको कलुषित किया। निश्चय ही उन लोगोंको फटकारनेका काम उन्होंने अपने ऊपर ले लिया होता जो कि अपराधी है और विशेषकर उन लोगोंको जो उनके मतानुयायी होनेकी घोषणा करते हैं। ये व्यक्ति प्रकाशतः तो शान्ति और मानव भाई-चारेकी बातें करते हैं किन्तु जब मानव-इतिहासमें किसी न्याय-निर्णयकी आवश्यकता हुई तो या तो यह चुप बने रहे या दुबल और कुचले हुए व्यक्तियोंके विरुद्ध विष उगलते रहे और इस व्यवहारमें तो

इन्होंने उन लोगोंको भी मात दे दी, कि जिनका व्यापार आँख बन्दकर मनुष्यके प्राण ले लेना था।

दूसरी ओर यद्यपि मैं कभी-कभी अपनेको बधाई देता हूँ कि मैं जातीय भेद-भावसे मुक्त हूँ किन्तु यह संभव है कि वह काफी परिमाणमें उपचेतन मनमें बनी हुई हो और वह बाहरवालोंको मेरे लेखोंमें प्रकट होती है। जब कि मैं अपने देशपर होनेवाले किसी भी अन्याय, अपमान या कष्टपर विशेष महत्व देता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि इस दुर्बलताके लिये मैं क्षम्य हूँ, यदि यह बात ध्यानमें रखी जाय कि अपने देशवासियों द्वारा अन्य देशवासियोंपर होनेवाले किसी भी अत्याचारको मैं क्षमा करनेका विचार नहीं करता।

जेनेवा,
६ मई, १६२१

आज मेरा जन्म-दिवस है। किन्तु मुझे उसका भान नहीं होता; वास्तवमें यह दिन मेरे लिये नहीं है किन्तु उनके लिये है जो मुझे प्रेम करते हैं और तुमसे दूर यह दिन केवल कैलेण्डरकी एक तारीखकी तरह है। मैं चाहता था कि आज कुछ समय [illegible] किन्तु यह संभव नहीं हुआ। लोग सारे दिन [illegible] और बराबर बात होती रही हैं। बात-चीतका कुछ अंश दुर्भाग्यसे राजनीतिसे संबंधित था और उससे मन-जगतका वह तापक्रम बढ़ा जिसका मुझे सदा पछतावा होता है।

राजनैतिक विवाद अक्सर मुझे ज्वरकी भाँति बिना किसी पूर्वाभासके अकस्मात घेर लेता है और फिर वह अकस्मात ही मुझे छोड़ जाता है और बादमें बनी रहती है, बेचैनी। राजनीति मेरे स्वभावके बिलकुल विपरीत है तथापि हम ऐसे हतभाग्य देशकी असाधारण स्थितिमें जन्म लेनेके कारण, उनके जब-तबके उभारको हम नहीं बचा सकते। जब-जब मैं

बिलकुल अकेला हूँ, मैं मना रहा हूँ कि मैं अपने मनको उस अनन्त-शान्तिकी गहराईमें स्थिरकर लूँ जहाँ दुनियाँकी सारी गलतियाँ क्रमशः अपने बेसुरेपनसे पुष्प और तारोंकी शाश्वत लयमें मिल जाती हैं।

परन्तु संसार भरमें मनुष्य पीड़ित हैं और मेरा हृदय रुग्ण है। मैं चाहता हूँ कि इस पीड़ाको संगीतसे बेधनेकी मुझमें क्षमता होती। मैं जगत-आत्माके अन्तरंग प्रदेशोंसे स्थायी आनन्दका सन्देश ला सकता और उसको क्रुद्ध पुरुषों और लज्जासे नतमस्तक पुरुषोंके सामने दुहरा सकता। "सभी चीजोंकी उत्पत्ति आनन्दसे होती है, आनन्दसे ही सभी प्रतिपालित हैं और आनन्दकी ओर प्रवाहित हैं और उसीमें उसका अन्त हो जाता है।"

मैं वह क्यों होऊँ जो अपनी शिकायतोंको दबा दे और क्षोभकी भावनाओंको एक चीत्कारपूर्ण स्वरूप दे। मैं सत्यकी उस महान् शान्तता के लिये प्रार्थना करता हूँ कि जिसमें वे अमर शब्द निकले हैं जो संसारके घावोंको अच्छा करेंगे और घृणाकी लपकती आगको सहिष्णुतामें परिणत कर शान्ति देंगे।

पूर्व और पश्चिम मिले हैं—इतिहासकी इस बड़ी बातने अभी तक हमारी दयनीय राजनीति ही पैदा की है, कारण, यह अभी सत्यमें परिणत नहीं की गई। सत्य-हीन बात, दोनों दलोंके लिये भार है। कारण, लाभ का भार भी हानिके भारसे कुछ कम नहीं है—यह बेहद मोटाईका भार है। पूर्व और पश्चिमके मिलनकी बात अब भी सतह पर है, वह बाहरी है। परिणाम यह है—हमारा सारा ध्यान इस सतहपर खिंच आता है जहाँ कि हमको चोट लगती है या हम केवल भौतिक लाभकी ही सोच सकते हैं।

इस मिलनकी गहराईमें, भविष्यके महामिलनका बीज निश्चय ही पनप रहा है। जब हम यह अनुभव करते हैं तो बिलकुल वर्तमानके दुःखद खिंचावसे हमारा मन अपनी अनासक्ति पाता है और उसका

शाश्वत में विश्वास होता है—आत्यन्तिक निराशाके दौरोंसे उसे छुटकारा मिलता है। हमने पूर्वजोंसे यह जाना है कि सभी होनेवाली घटनाओंका शाश्वत अर्थ अद्वैतवाद है—जो द्वैतके बीच ऐक्यका सिद्धान्त है। पूर्व और पश्चिमके द्वैतमें; वह ऐक्य है। अतः उसका एकीकरणमें अन्त निश्चय है।

उस महा सत्यको तुमने अपने जीवनमें प्रदर्शित किया है। तुम्हारे भारतके प्रति प्रेममें, अनन्तका सन्देश है। तुमने, पूर्व और पश्चिमके प्रकटतः संघर्षमें, उनकी अन्तर्संधिके महान् सौंदर्यको उघाड़ा है। हमने, जो प्रतिकारके लिये हल्ला मचा रहे हैं; जो केवल भिन्नताके प्रति सजग हैं और इस कारण बिलकुल पृथक्करणकी आशा करते हैं, अपने इतिहासके महान् उद्देश्यको ठीक-ठीक नहीं पढ़ा है।

तीव्र कामना अंधकार है। वह बिखरी बातोंको अतिरंजित करती है और पग-पगपर हमारे मनको उनसे टकरा देती है। प्रेम ही वह प्रकाश है जो ऐक्यकी पूर्णताको प्रकट करता है और जो अनासक्तिके निरन्तर दबाव से रक्षाकर सकता है।

इस कारण मैं तुम्हारा आलिंगन करता हूँ और तुम्हारे प्रेमसे प्रेरणा लेता हूँ और तुमको अपने जन्म-दिनका नमस्कार भेजता हूँ।

एस० एस० मोरिया
१५ जुलाई १९२१

अपने इस अन्तिम पत्रको समाप्त करनेसे पूर्व, हे मित्र, मैं हृदयसे तुम्हारी उस अनवरत उदारताके लिये कृतज्ञ हूँ कि तुम भारतसे मेरी अनुपस्थितिमें बराबर पत्र भेजते रहे। वे मेरे लिये उस संबलकी भाँति हुए, जो मरुस्थलमें जानेवाले काफिलेको भोजन और जलके रूपमें होता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें बिताये उल्लासहीन महीनोंमें मुझे उनकी बुरी तरह आवश्यकता थी। मैंने अपने मनमें संकल्प किया कि मैं तुम्हें उसका

प्रत्युत्तर दूँ। मेरा विचार है कि मैंने संकल्प पालन किया है। मुझे आशा है कि मेरे पत्र तुम्हें साप्ताहिक क्रमसे मिलते रहे हैं। हाँ यह बात दूसरी है कि ब्रिटिश साम्राज्यके भाग्य निरीक्षण करनेवाले सरकारी गुप्तचरोंके सन्देह के कारण नाता टूट गया हो।

मेरा अनुमान है कि पिछले सप्ताहोंमें मुझे आलस्य था और तुम्हें समाचार देनेके लिये मैं पिअर्सनपर निर्भर था किन्तु अब उस कमीको पूरा कर देनेमें मैं व्यस्त हूँ। किन्तु एक बातमें तुमसे बाजी मारनेकी मुझे आशा नहीं है। एक पत्रलेखकके रूपमें तुम अतुलनीय हो! मेरे लेख पत्र नहीं कहे जा सकते—ठीक उसी ढगसे जैसे घेंघोंको मछली नहीं कहा जा सकता। वे किताबके पन्नोंकी भाँति हैं; जैसे किसी ग्रहसे उसके अंग टूटकर गिरते हों, वे तुम्हारी ओर फेंके जाते हैं और उनका अधिकांश एक जग-मगाहटके बाद राख बन जाता है। किन्तु तुम्हारे पत्र प्यासी धरती पर मेहकी बौछारकी भाँति आते हैं। तथापि मेरी और तुम्हें एक बातपर विचार करना चाहिये—मुझे तुम्हारे साथ दौड़नेमें कठिनाई है, कि मैं उस भाषामें लिखता हूँ जो मेरी अपनी नहीं है और इसके साथ किसी भाषामें कोई पत्र न लिखनेकी मौलिक जड़ता है। इसके विरुद्ध मुझे पत्र लिखते समय लड़ना पड़ता है। दूसरी ओर तुम्हें पत्र लिखना इतना आसान है जैसे वसंतारम्भमें हमारी साल-कुञ्जोंको अपनी पत्तियाँ डाल देना। फिर भी मुझे आश्चर्य है कि तुम मेरे पुनरागमनपर इन पत्रोंको संभाल सकोगे। वह परिमाणमें इतने बढ़ गये हैं कि आश्चर्य होता है। नमस्कार।



लव् लेटर्स (प्रेम-पत्र)



विश्ववंद्य महात्मा गान्धी

[illegible] प्रेमिकाके नाम पत्र

असत्य-रूपी जहर

चालीस साल पहले विलायत जानेवालोंकी संख्या अबसे कम थी। उनमें ऐसा रिवाज पड़ गया था कि खुद विवाहित होते हुए भी अपनेको अविवाहित बताते। वहाँ हाईस्कूल अथवा कालेजमें पढ़नेवाले सब अविवाहित होते हैं। वहाँ विवाहके लिए विद्यार्थी-जीवन नहीं होता। हमारे यहाँ तो प्राचीन समयमें विद्यार्थीका नाम ही ब्रह्मचारी था। बाल-विवाह की चाल तो इसी जमानेमें पड़ी है। [illegible] विलायत-में नहीं। इस कारण वहाँके भारतीय नवयुवकोंको यह शरम मालूम होती है कि हमारा विवाह हो गया है। विवाहकी बात [illegible] यह है कि यदि यह बात मालूम हो जाय तो जिन [illegible] उनकी युवती लड़कियोंके साथ घूमने-फिरने और आमोद-प्रमोद करनेकी स्वतन्त्रता न मिल पावेगी। यह आमोद-प्रमोद बहुतांशमें निर्दोष होता है और खुद माँ-बाप भी ऐसे स्नेह-सम्बन्धको पसन्द करते हैं। वहाँ युवक और युवतियोंमें ऐसी [illegible] भी समझी जाती है; क्योंकि वहाँ तो हरेक नवयुव[illegible] खोज लेनी पड़ती है। इस कारण जो सम्बन्ध विलायतमें स्वाभाविक समझा जा सकता है वही हिन्दुस्तानके नवयुवक वहाँ जाकर बाँधने लगें तो परिणाम भयंकर हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसे कितने ही भीषण परिणाम सुने भी गये हैं। फिर भी इस मोहिनी-मायामें हमारे नवयुवक फँसे हुए थे। जो सम्बन्ध अँगरेजोंके लिए चाहे कितना निर्दोष हो, पर जो हमारे नजदीक सर्वथा त्याज्य है,

उसके लिए वे असत्याचरण पसंद करते थे। मैं भी इस जालमें फँस गया। पाँच-छः वर्ष विवाहित होते हुए और एक लड़केका बाप होते हुए भी मैं अपनेको अविवाहित कहते न हिचका! पर इस 'कुआँरेपन'का स्वाद मैं बहुत न चख पाया। मेरे झेंपूपनने और मौनने मुझे बहुत बचाया। भला जब मैं बात ही नहीं कर सकता था, तो कौन लड़की ऐसी फाजिल होती, जो मुझसे बात-चीत करने आती? शायद ही कोई लड़की मेरे साथ घूमने निकलती।

मैं जैसा झेंपू था, वैसे ही डरपोक था। वेंटनर में जैसे घरमें रहता था वहाँ यह रिवाज था कि घरकी लड़की मुझ जैसे अतिथिको साथ घूमने ले जाय। तदनुसार मुझे मकान-मालकिनकी लड़की वेंटरके आस-पासकी सुन्दर पहाड़ियों पर घूमने ले गई। मेरी चाल यों धीमी न थी, परन्तु उसकी चाल मुझसे भी तेज थी। मैं तो एक तरह उसके पीछे खिंचता-घसिटता जाता था। वह तो रास्तेमें बातोंके फव्वारे उड़ाती चलती और मेरे मुँहसे सिर्फ कभी 'हाँ' और कभी 'ना' की ध्वनि निकल पड़ती। मैं बहुतसे बहुत बोलता तो इतना ही कि—'वाह कैसा सुन्दर!' वह तो हवाकी तरह उड़ती चली जाती और मैं यह सोचता कि कब घर पहुँचेंगे। फिर भी यह कहनेकी हिम्मत न पड़ती कि चलो वापस लौट चलें। इतनेहीमें हम एक पहाड़ीकी चोटीपर आ खड़े हुए। अब उतरें कैसे? मगर ऊँची एड़ीके बूट होते हुए भी वह २०-२५ वर्षकी रमणी बिजली-की तरह नीचे उतर गई और मैं शर्मिन्दा होकर यह सोच ही रहा हूँ कि कैसे उतरें। वह नीचे उतरकर कहकहा लगाती है और मुझे हिम्मत दिलाती है। कहती है—'ऊपर आकर हाथ पकड़कर नीचे खींच ले चलूँ?' मैं अपनेको ऐसा बोदा कैसे साबित करता? अन्तको सम्हल-सम्हल कर पैर रखता और कहीं-कहीं बैठता हुआ नीचे उतरा। इधर वह मजाकमें 'शा···बाश' कहकर मुझ शरमाये हुएको और भी शर्मिन्दा करने लगी। मैं मानता हूँ कि इस तरह मजाकमें शर्मिन्दा करनेका उसे हक था।

परन्तु हर जगह मैं इस तरह कैसे बच सकता था ? ईश्वरको मंजूर था कि असत्यका जहर मेरे अन्दरसे निकल जाय। वेंटनरकी तरह ब्रायटन भी समुद्रतट पर हवाखोरीका मुकाम है। वहाँ मैं एक बार गया। जिस होटलमें मैं ठहरा था, वहाँ एक मामूली दरजेकी अच्छी हैसियतवाली विधवा बुढ़िया घूमने आई थी। यह मेरे पहले सालकी बात है—वेंटनरके पहलेकी घटना है। यहाँ भोज्य पदार्थोंके नाम फ्रेंच भाषामें लिखे हुए थे। मैं उन्हें नहीं समझ पाया। बुढ़िया और मैं एक ही मेजपर बैठे हुए थे। बुढ़ियाने देखा कि मैं अजनबी और कुछ दुविधामें हूँ। उसने बात छेड़ी, तुम अजनबी मालूम होते हो ? किस फिक्रमें पड़े हो ? तुमने खानेके लिए अबतक कुछ नहीं मँगाया ? मैं खानेके पदार्थोंकी नामावली पढ़ रहा था और परोसनेवालोंसे पूछनेका विचार ही कर रहा था। मैंने इस भली देवीको धन्यवाद दिया और कहा—'ये नाम मेरी समझमें नहीं आते। मैं अन्नाहारी हूँ और मैं जानना चाहता हूँ कि इसमें कौन-सी चीजें मेरे कामकी हैं ?'

यह देवी बोली—'तो लो, मैं तुम्हारी मदद करती हूँ और तुम्हें बताये देती हूँ कि इनमेंसे कौन-कौनसी चीजें ले सकते हो।'

मैंने उसकी सहायता सधन्यवाद स्वीकार की। यहाँसे जो परिचय उसके साथ हुआ, सो मेरे विलायत छोड़नेके बाद भी बरसों कायम रहा। उसने लन्दनका अपना पता मुझे दिया और हर रविवारको अपने यहाँ भोजनके लिए निमन्त्रित किया था। इसके सिवा भी जब-जब अवसर आता, मुझे बुलाती। चाह कर मेरी शरम तुड़वाती। युवती स्त्रियोंसे पहचान करवाती और उनके साथ बातें करनेके लिए ललचाती। एक बाई उसीके यहाँ रहती थी। उसके साथ बहुत बातें करवाती। कभी-कभी हमें अकेले भी छोड़ देती।

पहले-पहल तो मुझे यह बहुत अटपटा मालूम हुआ। सूझ ही न पड़ता कि बातें क्या करूँ ! हँसी-दिल्लगी भी भला क्या करता पर वह बाई

मेरा हौसला बढ़ाती। मैं तैयार होने लगा। हर रविवार की राह देखता। अब तो उसकी बातों में भी मन रमने लगा।

इधर बुढ़िया भी मुझे लुभाये जाती। वह हमारे इस मेल-जोल को बड़ी दिलचस्पी से देखती। मैं समझता हूँ उसने तो हम दोनों को भला ही सोचा होगा।

अब क्या करूँ? अच्छा होता यदि पहले ही से इस बाई से अपने विवाह की बात कह दी होती। क्योंकि फिर भला वह क्यों मुझ जैसे के साथ विवाह करना चाहती? अब भी कुछ बिगड़ा नहीं। समय है, सच कह देने से अधिक संकट में न पड़ूँगा। यह सोचकर मैंने उसे चिट्ठी लिखी। अपनी स्मृति के अनुसार उसका सार नीचे देता हूँ—

"जबसे व्रायटन में आपसे भेंट हुई, तबसे आप मुझे स्नेह की दृष्टि से देखती आरही हैं। माँ जिस प्रकार अपने बेटे की सम्हाल रखती है उसी प्रकार आप मेरी सम्हाल रखती हैं। आपका ख्याल है कि मुझे विवाह कर लेना चाहिए और इसीलिए आप युवतियों के साथ मेरा परिचय कराती हैं। इसके पहले कि ऐसे सम्बन्ध की सीमा और आगे बढ़े, मुझे आपको यह कह देना चाहिए कि मैं आपके प्रेम के योग्य नहीं। मैं विवाहित हूँ और यह बात मुझे उसी दिन कह देना चाहिए थी, जिस दिन से मैं आपके घर आने-जाने लगा। हिन्दुस्तान के विवाहित विद्यार्थी यहाँ अपने विवाह की बात जाहिर नहीं करते, और इसीलिए मैं भी उसी ढर्रे पर चल पड़ा, पर अब मैं समझता हूँ कि मुझे अपने विवाह की बात बिलकुल ही न छिपानी चाहिए। मुझे तो आगे बढ़कर यह भी कह देना चाहिए कि मेरी शादी बचपन ही में हो गई थी। मेरे एक लड़का भी है। यह बात जो मैंने आपसे अबतक छिपा रक्खी थी, इसपर मुझे बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है। परन्तु अब भी ईश्वर ने मुझे सत्य कह देने की हिम्मत दे दी, इसके लिए साथ ही मुझे आनन्द भी हो रहा है। आप मुझे माफ़ तो कर देंगी न? जिस बहन से आपने मेरा परिचय कराया

है, उनके साथ मैंने कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया है, इसका मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ। मैं अपनी स्थिथि को अच्छी तरह जानता था, अतएव मैं तो ऐसी अनुचित बात कर ही नहीं सकता था, पर आप चूँकि उससे नावाकिफ थीं इसलिए आपकी यह इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि मेरा सम्बन्ध किसी के साथ हो जाय। अतएव आपके मन में यह विचार और आगे न बढ़े, इसलिए मुझे सच बात आपपर अवश्य प्रकट कर देनी चाहिए।"

"यह पत्र मिलने के बाद यदि आप अपने यहाँ आने के योग्य मुझे न समझें तो मुझे बिलकुल बुरा न मालूम होगा। आपकी इस ममता के लिए तो मैं सदा के लिए आपका ऋणी हो चुका हूँ। इतना होने पर भी यदि आप मुझे अपने से दूर न हटावें तो बड़ी प्रसन्नता होगी यदि अब भी आप अपने यहाँ आने के योग्य समझेंगी, तो इसे मैं आपके प्रेम का एक नया चिन्ह समझूँगा और उसके योग्य बनने के लिए प्रयत्न करता रहूँगा।"

यह पत्र मैंने चट-पट नहीं लिख डाला। न जाने कितने मसविदे बने होंगे। पर हाँ, यह बात जरूर है कि यह पत्र भेज देने पर मेरे दिल से बड़ा बोझ उतर गया। लगभग लौटती डाक से उस विधवा मित्र का जवाब आया। उसमें लिखा था—

"तुमने दिल खोलकर जो पत्र लिखा, वह मिल गया। हम दोनों पढ़कर खुश हुए और खिलखिलाकर हँसे। ऐसा असत्याचरण तो क्षन्तव्य ही हो सकता है। हाँ, यह अच्छा किया जो तुमने अपनी सच्ची कथा लिख दी। मेरे निमन्त्रण को ज्यों का त्यों कायम समझना। इस रविवार को हम दोनों तुम्हारी राह अवश्य देखेंगी। तुम्हारे बाल-विवाह की बातें सुनेंगी और तुमसे हँसी-दिलग्गी करने का आनन्द प्राप्त करेंगी। विश्वास रक्खो, अपनी मित्रता में फर्क न आने पावेगा।"

इस तरह अपने अन्दर से यह असत्य का जहर निकाला, और फिर तो कहीं भी अपने विवाह इत्यादि की बातें करते हुए मुझे पशोपेश न होता।

सम्पादकीय-पत्र

प्रिय पाठक-पाठिकाओं! आज हम अपने इस पत्र में विश्ववन्द्य महात्मा गाँधीजी की आत्मकथा से उन उपादेय आवश्यक अवतरणों को उद्धृत करते हैं, जिनके पढ़ने से पत्नीव्रत, पातिव्रत, दाम्पत्यप्रेम, बाल-विवाह के कुपरिणाम तथा ब्रह्मचर्य के महत्व का बड़ा सुन्दर परिचय प्राप्त होगा और स्कूल-कालेजों में लिखने-पढ़ने तथा आचार-विचार में किन-किन बातों की आवश्यकता होती है, वे भी इनके भीतर दरसाई गई हैं।

बाल-विवाह

जी चाहता है कि यह प्रकरण मुझे न लिखना पड़े तो अच्छा, परन्तु इस कथा में मुझे ऐसी कितनी ही कड़वी घूँटें पीनी पड़ेंगी। सत्य के पुजारी होने का दावा करके मैं इससे कैसे बच सकता हूँ।

यह लिखते हुए मेरे हृदय को बड़ी व्यथा होती है कि १३ वर्ष की उम्र में मेरा विवाह हुआ। आज मैं अपनी आँखों के सामने १२-१३ वर्ष के बच्चों को देखता हूँ; और जब मुझे मेरे विवाह का स्मरण हो आता है तब मुझे अपने पर दया आने लगती है और उन बच्चों को इस बात के लिए बधाई देने की इच्छा होती है कि वे मेरी हालत से अबतक बचे हुए हैं, तेरह साल की उम्र में हुए मेरे विवाह के समर्थन में एक भी नैतिक दलील मेरे दिमाग में नहीं समा सकती।

पाठक यह न समझें कि मैं सगाई की बात लिख रहा हूँ। सगाई का तो अर्थ होता है दो लड़के-लड़कियों के विवाह का इकरार, जिसे माँ-बाप आपस में ही कर लेते हैं। सगाई टूट सकती है। सगाई हो जाने पर यदि लड़का मर जाय तो कन्या विधवा नहीं हो सकती। सगाई के मामले में वर-कन्या के पढ़ने का प्रयोजन नहीं होता। दोनों को खबर हुए बिना भी सगाई हो सकती है। मेरी एक-एक करके तीन सगाइयाँ हुईं। मुझे कुछ भी पता नहीं कि वे सगाइयाँ कब हो गईं। जब मुझसे कहा गया कि एक-

एक करके दो कन्यायें मर गईं, तब से मैं जानने लगा हूँ कि मेरी तीन सगाइयाँ हुई। कुछ ऐसा याद पड़ता है कि तीसरी सगाई सातेक सालकी उम्र में हुई होगी। पर मुझे कुछ याद नहीं आता कि सगाई के समय मुझे उसकी खबर की गई हो। विवाह में तो वर-कन्या की उपस्थिति की आवश्यकता होती है, उसमें धार्मिक विधि-विधान होते हैं। यहाँ मैं सगाई की नहीं, विवाह की ही बात कर रहा हूँ। विवाह का स्मरण तो मुझे पूरी तौर पर है।

पाठक जान ही गये हैं कि हम तीन भाई थे। सबसे बड़े की शादी हो चुकी थी। मँझले भाई मुझसे दो-तीन वर्ष बड़े थे। मेरे पिताजी ने तीन विवाह एक-साथ करने का निश्चय किया—एक तो मँझले भाई का, दूसरे मेरे चचेरे भाई का, जिनकी उम्र मुझसे शायद एकाध साल ज्यादा हो, और तीसरा मेरा। इसमें हमारे कल्याण की कोई बात न थी, हमारी इच्छा की तो बात ही क्या ? यह तो केवल माता-पिता की सुविधा और खर्च-बर्च के खयाल का विषय था।

हिन्दू-संसार में विवाह कोई ऐसी-वैसी चीज नहीं। वर-कन्या के माँ-बाप विवाह के पीछे बरबाद हो जाते हैं। धन भी लुटाते हैं और समय भी बरबाद करते हैं। महीनों पहले से तैयारियाँ होने लगती हैं, तरह-तरह के कपड़े तैयार होते हैं, जेवर बनते हैं, जाति-भोजों का तखमीना बनाया जाता है, खाने की चीजों की बाजियाँ-सी लगती हैं। स्त्रियाँ, सुर हो या बे-सुर, गीत गा-गा कर अपना गला बैठा लेती हैं, बीमार भी पड़ जाती हैं और पड़ोसियों की शांति भंग करती हैं सो अलग। पड़ोसी भी तो जब उनके यहाँ अवसर आता है तब ऐसा ही करते हैं, इसलिए इस सारे शोर गुल को तथा भोजों की जूठन आदि गंदगी को सब लोग चुपचाप सहन कर लेते हैं।

यह इतना झंझट तीन बार अलग-अलग करने के बजाय एक ही बार कर डालना क्या अच्छा नहीं ? 'कम खर्च बाला नशीन'। क्योंकि तीन

विवाह एक साथ होने से खर्च भी खुले हाथ किया जा सकता था। पिताजी और चाचाजी वृद्ध थे। हम लोग थे उनके सबसे छोटे लड़के। इसलिए हमारे विवाह-सम्बन्धी अपनी लालसा को तृप्त करने का भाव भी उनके मन में था ही। इन कारणों से तीन विवाह एक साथ करने का निश्चय हुआ और उसके लिए, जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, महीनों पहले से तैयारियाँ होती रहीं और सामग्रियाँ जुटती रहीं।

हम भाइयों ने तो सिर्फ तैयारियों से ही जाना कि विवाह होनेवाले हैं। मुझे तो इस समय इन मनसूबों के अलावा कि अच्छे-अच्छे कपड़े पहनेंगे, बाजे बजते देखेंगे, तरह-तरह का भोजन, मिठाई मिलेगी, एक नई लड़की के साथ हँसी-खेल करेंगे, और किसी विशेष भाव का रहना याद नहीं आता। विषय भोग करने का भाव तो पीछे से उत्पन्न हुआ। यह किस प्रकार हुआ, सो मैं बता तो सकता हूँ परन्तु इसकी जिज्ञासा पाठक न रक्खें। अपनी इस शर्म पर मैं परदा पड़ा रखना चाहता हूँ। जो बातें जानने योग्य हैं, वे सब आगे आ जायँगी—वे भी इसलिए कि जो मध्य बिन्दु मैंने अपनी दृष्टि के सामने रक्खा है, उसका कुछ सम्बन्ध उनके ब्योरे के साथ है।

हम दो भाइयों को राजकोट से पोरबन्दर ले गये। वहाँ हलदी लगाने इत्यादि की जो विधियाँ हुईं वे रोचक तो हैं, पर उनका वर्णन छोड़ देने ही लायक है।

पिताजी दीवान थे तो क्या हुआ, थे तो आखिर नौकर ही न। फिर राजप्रिय थे, इसलिए और भी पराधीन। ठाकुर साहब ने आखिरी वक्त तक उन्हें जाने न दिया। फिर जब इजाजत भी दी तो दो दिन पहले, जबकि सवारी का जगह-जगह इन्तजाम करना पड़ा! पर दैव ने कुछ और ही सोच रक्खा था। राजकोट से पोरबन्दर ६० कोस। बैलगाड़ी से ५ दिन का रास्ता था। पिताजी तीन दिन में आये। आखिरी मंजिल पर ताँगा उलट गया। पिताजी को सख्त चोट आई। हाथ-पाँव और बदन

में पट्टियाँ बाँधे घर आये। हमारे लिए और उनके लिए भी विवाह का आनन्द आधा रह गया। परन्तु इससे विवाह थोड़े ही रुक सकते थे? मुहूर्त कहीं टल सकता था? मैं तो विवाह के बाल-उल्लास में पिताजी की चोट को भूल ही गया।

मैं जितना पितृ-भक्त था उतना ही विषय-भक्त भी। यहाँ विषय से मतलब इन्द्रियों के विषय से नहीं बल्कि, भोग-मात्र से है। यह होश तो अभी आना बाकी था कि माता-पिता की भक्ति के लिए पुत्र को अपने सब सुख छोड़ देने चाहिएँ। ऐसा होते हुए भी, मानो इस भोगेच्छा की सजा मुझे मिलनी हो, मेरी जिन्दगी में एक ऐसी दुर्घटना हुई, जो मुझे आज भी काँटे की तरह चुभती है। जब-जब निष्कुलानन्द की यह पंक्ति—

'त्याग न टके रे वैराग बिना, करिये कोटि उपाय जी'

गाता अथवा सुनता हूँ, तब यह दुर्घटना और कटु-प्रसंग मुझे याद आता है और शर्मिन्दा करता रहता है।

पिताजी ने मानो थप्पड़ मार कर मुँह लाल रक्खा। शरीर में चोट और पीड़ा के रहते हुए भी विवाह-कार्य में पूरा-पूरा योग दिया। पिताजी किस अवसर पर कहाँ-कहाँ बैठे थे, यह सब मुझे ज्यों-का-त्यों याद है। बाल-विवाह पर विचार करते हुए पिताजी के कार्य पर जो टीका-टिप्पणी आज मैं कर रहा हूँ, उसका स्वप्न भी उस समय न आया था। उस समय तो मुझे सब बातें अच्छी और उचित मालूम होती थीं। क्योंकि विवाह की उत्सुकता थी और पिताजी जो-कुछ करते थे सब ठीक ही जान पड़ता था। उस समय की स्मृति आज भी मेरे मन में ताजी है।।

कैसे पाणि-ग्रहण हुआ, सप्तपदी में किस प्रकार वर-वधू साथ बैठे, किस तरह दोनों ने एक-दूसरे को कंसार[1] खिलाया, और किस प्रकार हम

---

१. कंसार गेहूँ की लपसी-जैसा पदार्थ होता है, जिसे विधि समाप्त होने पर वर-वधू खाते हैं। —अनुवादक

दोनों एक साथ रहने लगे, इसका चित्र आज भी मेरी आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। ओह, वह पहली रात ! दो अबोध बालक बिना जाने, बिना समझे, संसार-सागर में कूद पड़े ! ! भाभी ने सिखाया कि पहली रात को मुझे क्या-क्या करना चाहिए। यह याद नहीं पड़ता कि मैंने धर्मपत्नी से यह पूछा हो कि उन्हें किसने सिखाया था। अब भी पूछा जा सकता है; पर अब तो इसकी इच्छा तक नहीं होती। पाठक इतना ही जान लें कि कुछ-कुछ ऐसा याद पड़ता है कि हम दोनों एक-दूसरे से डरते और शरमाते थे। मैं क्या जानता कि बातें कैसे करूँ, क्या-क्या करूँ ? सिखाई बातें भी कहाँ तक मदद कर सकती हैं ? पर ऐसे मामलों में किसी के सिखाने की जरूरत नहीं रहती। जहाँ संस्कार प्रबल हैं, वहाँ सिखाना फिजूल हो जाता है। धीरे-धीरे परिचय बढ़ता गया, आजादी के साथ एक-दूसरे से बोलने-बतलाने लगे। हम दोनों हम-उम्र थे। मैं शीघ्र पति देव बन बैठा।

पतिदेव

जिन दिनों मेरा विवाह हुआ, छोटे-छोटे निबन्ध—पैसे-पैसे या पाई-पाई के, सो याद नहीं पड़ता—छपा और बिका करते। इनमें दाम्पत्य-प्रेम, मितव्ययता, बालविवाह इत्यादि विषयों की चर्चा रहा करती। इनमें से कोई-कोई निबन्ध मेरे हाथ पड़ता और उसे मैं पढ़ जाता। यह मेरी आदत थी कि जो बात अच्छी नहीं लगती उसे भूल जाता, और जो अच्छी लगती उसके अनुसार आचरण करता। यह पढ़ा कि एक पत्नीव्रत का पालन करना पति का धर्म है। बस, यह मेरे हृदय में अंकित हो गया। सत्य की लगन तो थी ही। इसलिए पत्नी को धोखा देने का अवसर न था। और यह भी समझ चुका था कि दूसरी स्त्री से सम्बन्ध जोड़ना पाप है। फिर कोमल वय में एक पत्नी-व्रत के भङ्ग होने का अवसर भी कम ही रहता है।

परन्तु इन सद्विचारों का एक बुरा परिणाम निकला। 'यदि मैं एक-

पत्नी-व्रत का पालन करता हूँ, तो पत्नी को भी एक-पाति-व्रत का पालन करना चाहिए।' इस विचार से मैं असहिष्णु-ईर्षालु पति बन गया। 'पालन करना चाहिए।' में से 'पालन करवाना चाहिए' इस नतीजे पर जा पहुँचे। और यदि पालन करवाना हो तो फिर मुझे चौकीदारी करनी चाहिए। पत्नी की पवित्रता पर तो सन्देह करने का कोई कारण न था; परन्तु ईर्ष्या कहीं कारण देखने जाती है? मेरी पत्नी हमेशा कहाँ कहाँ जाती है, यह जानना मेरे लिए जरूरी है, 'मेरी इजाजत लिये बगैर कहीं नहीं जा सकती।' यह भाव मेरे और उनके बीच दुःखद झगड़े का मूल बन बैठा। बिना इजाजत के कहीं न जा पाना तो एक तरह की कैद ही हो गई। परन्तु कस्तूरबाई ऐसी मिट्टी की न बनी थीं, जो ऐसी कैद को बरदाश्त करतीं। जहाँ जी चाहे, मुझसे बिना पूछे जरूर चली जातीं। ज्यों-ज्यों मैं दबाता त्यों-त्यों वह अधिक आजादी लेतीं, और त्योंही मैं और बिगड़ता। इस कारण हम बाल-दम्पति में अबोला रहना एक मामूली बात हो गई। कस्तूरबाई जो आजादी लिया करतीं उसे मैं निर्दोष मानता हूँ। एक बालिका जिसके मन में कोई पाप नहीं है, देव-दर्शन को जाने के लिए अथवा किसी से मिलने जाने के लिए क्यों ऐसा दबाव सहन करने लगी? 'यदि मैं उसपर दबाव रक्खूँ तो फिर वह मुझपर क्यों न रक्खे?'—पर यह बात तो अब समझ में आती है। उस समय तो मुझे पतिदेव की सत्ता सिद्ध करनी थी।

पर इससे पाठक यह न समझें कि हमारे इस गार्हस्थ्य-जीवन में कहीं मिठास थी ही नहीं। मेरी वक्रता का मूल था प्रेम! मैं अपनी पत्नी को आदर्श स्त्री बनाना चाहता था। मेरे मन में एकमात्र यही भाव रहता था कि पत्नी स्वच्छ हो, स्वच्छ रहे, मैं सीखूँ सो सीखे, मैं पढ़ूँ सो पढ़े, और दोनों एक-मन दो-तन बनकर रहें।

मुझे ख्याल नहीं पड़ता कि कस्तूरबाई के भी मन में ऐसा भाव रहा हो। वह निरक्षर थीं। स्वभाव उनका सरल और स्वतन्त्र था। वह परि-

अभी भी थीं, पर मेरे साथ कम बोला करतीं। अपने अज्ञान पर उन्हें असन्तोष न था। अपने बचपन में मैंने कभी उनकी ऐसी इच्छा नहीं देखी कि वह पढ़ते हैं तो मैं भी पढ़ूँ। इससे मैं मानता हूँ कि मेरी भावना एकतर्फा थी। मेरा विषय-सुख एक ही स्त्री पर अवलम्बित था और मैं उस सुख की प्रतिध्वनि की आशा लगाये रहता था। अस्तु। प्रेम यदि एक पक्षीय भी हो तो वहाँ सर्वांश में दुःख नहीं हो सकता।

मुझे कहना चाहिए कि—मैं अपनी पत्नी से जहाँतक सम्बन्ध है, विषयासक्त था। स्कूल में भी उसका ध्यान आता, और यह विचार मन में चला ही करता, कि कब रात हो और कब हम मिलें। वियोग असह्य होता था। कितनी ही ऊट-पटाँग बातें कह-कहकर मैं कस्तूरबाई को देर तक सोने न देता। इस आसक्ति के साथ ही यदि मुझमें कर्त्तव्यपरायणता न होती तो मैं समझता हूँ या तो किसी बुरी बीमारी में फँसकर अकाल ही कालकवलित हो जाता अथवा अपने और दुनिया के लिए भारभूत होकर वृथा जीवन व्यतीत करता होता। 'सुबह होते ही नित्यकर्म तो हर हालत में करने चाहिएँ, झूठ तो बोल ही नहीं सकते, आदि अपने इन विचारों की बदौलत मैं कई संकटों से बच गया हूँ।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि कस्तूरबाई निरक्षर थीं। उन्हें पढ़ाने की मुझे बड़ी चाह थी। पर मेरी विषय-वासना मुझे कैसे पढ़ाने देती? एक तो मुझे जबर्दस्ती पढ़ाना था, फिर रात में ही मौका मिल सकता था। माता-पितादि के सामने तो पत्नी की तरफ देख तक नहीं सकते—बात करना तो दूर रहा! उस समय काठियावाड़ में घूँघट निकालने का निरर्थक और जंगली रिवाज था, आज भी थोड़ा-बहुत बाकी है। इस कारण पढ़ाने के अवसर भी मेरे प्रतिकूल थे। इसलिए, मुझे स्वीकार करना चाहिए कि युवावस्था में पढ़ाने की जितनी कोशिशें मैंने कीं वे सब प्रायः बेकार गईं। और जब मैं विषय-निद्रा से जगा तब तो सार्वजनिक-जीवन में पड़ चुका था, इस कारण अधिक समय मेरे पास न रह गया था। शिक्षक रखकर

पढ़ाने के मेरे यत्न भी विफल हुए। इसके फलस्वरूप आज कस्तूरबाई मामूली गुजराती लिखने-पढ़ने से अधिक साक्षर न होने पाईं। यदि मेरा प्रेम विषय से दूषित न हुआ होता तो, मैं मानता हूँ आज वह विदुषी हो गई होतीं। उनके पढ़ने के आलस्य पर मैं विजय प्राप्त कर पाता। क्योंकि मैं जानता हूँ कि शुद्ध प्रेम के लिए दुनिया में कोई बात असम्भव नहीं।

इस तरह अपनी पत्नी के साथ विषय-रत रहते हुए भी मैं कैसे बहुत-कुछ बच गया, इसका एक कारण मैंने ऊपर बताया। इस सिलसिले में एक और बात का उल्लेख करने योग्य है। सैकड़ों अनुभवों से मैंने ऊपर यह निचोड़ निकाला है कि जिसकी निष्ठा सच्ची है, उसे खुद परमेश्वर ही बचा लेता है। हिन्दू-संसार में जहाँ बाल-विवाह की घातक प्रथा है, वहाँ उसके साथ ही उसमें से कुछ मुक्ति दिलानेवाला भी एक रिवाज है। बालक वर-वधू को माँ-बाप बहुत समय तक एक साथ नहीं रहने देते। बाल पत्नी का आधे से ज्यादा समय मायके में जाता है। हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ। अर्थात् हम १३ और १८ साल की उम्र के दरमियान थोड़ा-थोड़ा करके तीन साल से अधिक साथ न रह सके होंगे। छः आठ महीने रहना हुआ नहीं कि पत्नी के माँ-बाप का बुलौवा आया नहीं। उस समय तो वे बुलौवे बड़े नागवार मालूम होते। परन्तु सच पूछिए तो उन्हीं के बदौलत हम दोनों बहुत बच गये। फिर १८ साल की अवस्था में मैं विलायत गया—खासे लम्बे और उम्दा वियोग का अवसर आया। विलायत से लौटने पर भी हम एक साथ तो छः महीने मुश्किल से रहे होंगे, क्योंकि मुझे राजकोट-बम्बई बार-बार आना-जाना पड़ता था। इतने ही में दक्षिण अफ्रीका का निमन्त्रण आ पहुँचा—और इस बीच तो मेरी आँखें बहुत-कुछ खुल भी चुकी थीं।

हाई स्कूल में

मैं पहले लिख चुका हूँ कि जब मेरा विवाह हुआ तब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था। उस समय हम तीनों भाई एक ही स्कूल में पढ़ते थे। बड़े

भाई बहुत ऊपर के दरजे में थे और जिन भाई का विवाह मेरे साथ हुआ वह मुझसे एक दरजा आगे थे। विवाह का परिणाम यह हुआ कि हम दोनों भाइयों का एक साल बेकार गया। मेरे भाई को तो और भी बुरा परिणाम भोगना पड़ा। विवाह के पश्चात् वह विद्यालय में रही न सके। परमात्मा जानते हैं, विवाह के कारण कितने नवयुवकों को ऐसे अनिष्ट परिणाम भोगने पड़ते हैं! विद्याध्ययन और विवाह ये दोनों बातें हिन्दू-समाज में ही एक-साथ हो सकती हैं।

मेरा अध्ययन चलता रहा। हाई स्कूल में मैं मूर्ख नहीं माना जाता था। शिक्षकों का प्रेम सम्पादन हमेशा करता रहता। हर साल माँ-बाप को विद्यार्थी की पढ़ाई तथा चाल-चलन के सम्बन्ध में प्रमाण-पत्र भेजे जाते। उनमें किसी दिन मेरी पढ़ाई या चाल-चलन की शिकायत नहीं की गई। दूसरे दरजे के बाद तो इनाम भी पाये और पाँचवें तथा छठे दरजे में तो क्रमशः ४) और १०) मासिक की छात्रवृत्तियाँ थी मिली थीं। छात्रवृत्ति मिलने में मेरी योग्यता की अपेक्षा तकदीर ने ज्यादा मदद की। ये छात्रवृत्तियाँ सब लड़कों के लिए नहीं थीं, और उस समय चालीस-पचास विद्यार्थियों की कक्षा में सोरठ प्रान्त के विद्यार्थी बहुत नहीं हो सकते थे।

अपनी तरफ से तो मुझे याद पड़ता है कि मैं अपने को बहुत योग्य न समझता था। इनाम अथवा छात्रवृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता; परन्तु हाँ, अपने आचरण का मुझे बड़ा खयाल रहता था। सदाचार में यदि चूक होती तो मुझे रोना आ जाता। यदि मुझसे कोई ऐसा काम बन पड़ता कि जिसके लिए शिक्षक को उलाहना देना पड़े, अथवा उनका ऐसा खयाल भी हो जाय, तो यह मेरे लिए असह्य हो जाता। मुझे याद है कि कई बार मैं पिटा भी था। मुझे इस बात पर तो दुःख न हुआ कि पिटा; परन्तु इस बात का महादुःख हुआ कि मैं दण्ड का पात्र समझा गया। मैं फूट-फूट कर रोया। यह घटना पहली अथवा दूसरी कक्षा की है।

उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेड मास्टर थे। वह विद्यार्थी-प्रिय थे ? क्योंकि वह नियमों का पालन करवाते, विधिपूर्वक काम करते और काम लेते तथा पढ़ाई अच्छी करते। उन्होंने ऊँचे दरजे के विद्यार्थियों के लिए कसरत-क्रिकेट लाजिमी कर दी थी। मेरा मन उसमें न लगता था। लाजिमी होने के पहले तो मैं कसरत, क्रिकेट या फुटबाल में कभी न जाता था। न जाने में मेरा झेंपूपन भी एक कारण था। अब मैं देखता हूँ कि कसरत की वह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरे ऐसे गलत विचार थे कि कसरत का शिक्षा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। पीछे जाकर मैंने समझा कि व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षा के लिए भी विद्याध्ययन में उतना ही स्थान होना चाहिए जितना मानसिक शिक्षा को है।

फिर भी मुझे कहना चाहिए कि कसरत में न जाने से मुझे कोई नुकसान न हुआ। इसका कारण है। पुस्तकों में मैंने पढ़ा था कि खुली हवा में घूमना अच्छा होता है। यह मुझे पसन्द आया और तभी से घूमने जाने की आदत मुझे पड़ गई थी, जो अबतक है। घूमना भी एक प्रकार का व्यायाम है। और इस कारण मेरा शरीर थोड़ा-बहुत सुसंगठित होगया।

अरुचि का दूसरा कारण था पिताजी की सेवा-सुश्रूषा करने की तीव्र इच्छा। स्कूल बन्द होते ही तुरन्त घर पहुँचकर उनकी सेवा में जुट जाता। जब कसरत लाजिमी करदी गई तब इस सेवा में विघ्न उपस्थित होने लगा। मैंने अनुरोध किया कि पिताजी की सेवा करने के लिए कसरत से माफी मिलनी चाहिए, परन्तु गीमी साहब क्योंकर माफी देने लगे ? एक शनिवार को सुबह का स्कूल था। शाम को ४ बजे कसरत में जाना था। मेरे पास घड़ी न थी। आकाश में बादल छा रहे थे, इस कारण समय का पता न रहा। बादलों से मुझे धोखा हुआ। जबतक कसरत के लिए पहुँचता हूँ तबतक तो सब लोग चले गये थे। दूसरे दिन गीमी साहब ने हाजिरी देखी तो मुझे गैरहाजिर पाया। मुझसे कारण पूछा। कारण तो जो था सो ही मैंने बतलाया। उन्होंने उसे सच न माना और मुझपर

एक या दो आना (ठीक याद नहीं कितना) जुर्माना हो गया। मुझे इस बात से अत्यन्त दुःख हुआ कि मैं झूठा समझा गया। मैं यह कैसे साबित करता कि मैं झूठ नहीं बोला। पर कोई उपाय न रहा था। मन मसोस कर रह जाना पड़ा। मैं रोया और समझा कि सच बोलनेवाले और सच करनेवाले को गाफिल भी न रहना चाहिए। अपनी पढ़ाई के दरमियान मुझसे ऐसी गफलत वह पहली और आखिरी थी। मुझे कुछ-कुछ स्मरण है कि अन्त को मैं वह जुर्माना माफ करा पाया था।

अन्त को कसरत से छुट्टी मिल गई। पिताजी की चिट्ठी जब हेड-मास्टर को मिली कि मैं अपनी सेवा-सुश्रूषा के लिए स्कूल के बाद इसे अपने पास चाहता हूँ, तब जाकर उससे छुटकारा मिला।

व्यायाम की जगह मैंने घूमना जारी रक्खा। इस कारण शरीर से मिहनत न लेने की भूल के लिए शायद मुझे सजा न भोगनी पड़ी हो; परन्तु एक दूसरी भूल की सजा मैं आजतक पा रहा हूँ। पढ़ाई में खुशखत होने की जरूरत नहीं, यह कुबुद्धि मेरे मन में जाने कहाँ से आ गई थी, जो ठेठ विलायत जाने तक रही। फिर, और खासकर दक्षिण अफ्रिका में जहाँ वकीलों के और दक्षिण अफ्रिका में जन्मे और पढ़े नवयुवकों के मोती के दाने की तरह अक्षर देखे, तब तो मैं बहुत लजाया और पछताया मैंने देखा कि खत का खराब होना अधूरी शिक्षा की निशानी है। मैंने पीछे से अपना खत सुधारने की कोशिश भी की; परन्तु पक्के घड़े मिट्टी चढ़ सकती है? जिस बात की अवहेलना मैंने जवानी में की उसे मैं फिर आजतक न सुधार सका। हरेक नवयुवक और युवती मेरे उदाहरण को देखकर चेते और समझे कि अच्छा खत विद्या का आवश्यक अंग है। खत सुधारने के लिए लेखन-कला आवश्यक है। मैं तो अपनी यह राय बना रहा हूँ कि बालकों को आलेखन-कला पहले सीखनी चाहिए। जिस प्रकार पंछियों और वस्तुओं आदि को देखकर बालक उन्हें याद रखता और आसानी से पहचान लेता है उसी प्रकार अक्षरों को भी पहचानने

लगता है और जब आलेखन-कला सीखकर चित्र इत्यादि निकालना सीख जाता है तब यदि अक्षर लिखना सीखे तो उसके अक्षर छापे की तरह हो जावें।

इस समय के मेरे विद्यार्थी-जीवन की दो बातें उल्लेख करने योग्य हैं। विवाह के बदौलत जो मेरा एक साल टूट गया था उसकी कसर दूसरी कक्षा में पूरी कराने की प्रेरणा मास्टर साहब ने की। परिश्रमी विद्यार्थियों को ऐसा करने की इजाज़त उन दिनों तो मिलती थी। एतएव मैं छः महीने तीसरे दरजे में रहा और गर्मियों की छुट्टी के पहले वाली परीक्षा के बाद चौथे दरजे में ले लिया गया। इस कक्षा से कुछ विषयों की शिक्षा अंग्रेजी में दी जाती है, पर अंग्रेजी में कुछ न समझ पाता। भूमिति रेखागणित चौथे दरजे से शुरू होता है। एक तो मैं उसमें पीछे था, और फिर समझ में भी कुछ न आता था। भूमिति-शिक्षक समझाते तो अच्छा थे, पर मेरी कुछ समझ ही में न आता था। मैं बहुत बार निराश हो जाता; कभी-कभी यह भी दिल में आता कि दो दरजों की पढ़ाई एक साथ करने से तो अच्छा हो कि मैं तीसरी कक्षा ही में फिर चला जाऊँ। पर ऐसा करने से मेरी बात बिगड़ती और जिस शिक्षक ने मेरी मिहनत पर विश्वास रखकर दरजा चढ़ाने की सिफारिश की थी उनकी भी बात बिगड़ती! इस भय से नीचे उतरने का विचार तो बन्द ही रखना पड़ा। परिश्रम करते जब 'युक्लिड' के तेरहवें प्रमेय तक पहुँचा तब मुझे एकाएक लगा कि भूमिति तो सबसे सहज विषय है। जिस बात में केवल बुद्धि का सीधा और सरल उपयोग करना है उसमें मुश्किल क्या है! उसके बाद से भूमिति मेरे लिए सहज और सरल विषय हो गया।

संस्कृत मुझे रेखागणित से भी अधिक मुश्किल मालूम पड़ी। रेखागणित में तो रटने की कोई बात न थी; परन्तु संस्कृत में मेरी दृष्टि से, सब रटना था। यह विषय भी चौथी कक्षा से शुरू होता था। छठी कक्षा में जाकर तो मेरा दिल बैठ गया। संस्कृत-शिक्षक बड़े सख्त आदमी थे।

विद्यार्थियों को बहुतेरा पढ़ा देने का लोभ उन्हें रहा करता। संस्कृत-वर्ग और फारसी-वर्ग में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा रहती। फारसी के मौलवी साहब नरम आदमी थे। विद्यार्थी लोग आपस में बातें करते कि फारसी बड़ी सरल है, और मौलवी साहब भी भले आदमी हैं। विद्यार्थी जितना याद करता है, उतने ही पर वह निभा लेते हैं। सहज होने की बात से मैं ललचाया और एक दिन फारसी के दरजे में आकर बैठा। संस्कृत-शिक्षक को इससे दुःख हुआ। उन्होंने मुझे बुलाया। "यह तो सोचो कि तुम किसके लड़के हो? अपने धर्म की भाषा तुम नहीं पढ़ना चाहते? तुमको जो कठिनाई हो सो मुझे बताओ। मैं तो सारे विद्यार्थियों को अच्छी संस्कृत पढ़ाना चाहता हूँ। आगे चलकर तो उसमें रस की घूँटें मिलेंगी। तुमको इस तरह निराश न होना चाहिये। तुम फिर मेरी कक्षा में आकर बैठो।" मैं शरमिन्दा हुआ। शिक्षक के प्रेम की अवहेलना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर मास्टर का उपकार मानती है, क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी थी, यदि उतनी भी न पढ़ा होता तो आज मैं संस्कृत-शास्त्रों का जो आनन्द ले रहा हूँ वह न ले पाता। बल्कि मुझे तो इस बात का पश्चात्ताप रहता है कि मैं अधिक संस्कृत न पढ़ सका। क्योंकि आगे चलकर मैंने समझा कि किसी भी हिन्दू-बालक को संस्कृत का अच्छा अध्ययन किये बिना न रहना चाहिये।

अब तो मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष के उच्च शिक्षण-क्रम में मातृभाषा के उपरांत राष्ट्रभाषा, हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेजी के लिए भी स्थान होना चाहिए। इतनी भाषाओं की गिनती से किसी को डर जाने की जरूरत नहीं, यदि विधि-पूर्वक भाषायें पढ़ाई जायँ और सब विषयों का अध्ययन अंग्रेजी के द्वारा करने का बोझ हम पर न हो तो पूर्वोक्त भाषायें भार-रूप न मालूम हों, बल्कि उनमें बड़ा रस आने लगे। [illegible] विधि-पूर्वक सीख लेता है उसे दूसरी भाषाओं का [illegible] सच पूछिए तो हिन्दी, गुजराती, संस्कृत

इन्हें एक ही भाषा मानना चाहिए। यही फारसी और अरबी के लिए कह सकते हैं। फारसी यद्यपि संस्कृत के जैसी है, और अरबी हिब्रू के जैसी, तथापि दोनों भाषायें इस्लाम के प्रादुर्भाव के पश्चात् फली-फूली हैं। इसलिए दोनों में निकट सम्बन्ध है। उर्दू को मैंने पृथक भाषा नहीं माना, क्योंकि उसके व्याकरण का समावेश हिन्दी में होता है। उसके शब्द फारसी और अरबी ही हैं, ऊँचे दरजे की उर्दू जानने वाले के लिए अरबी और फारसी जानना आवश्यक होता है, जैसा कि उच्चकोटि की गुजराती, हिन्दी, मराठी जाननेवाले के लिए संस्कृत जानना जरूरी है।

सर्वसाधारण को पत्र

५ मई १९१९ को महात्माजी ने सर्वसाधारण के नाम जो पत्र भेजा था, वह इस प्रकार है—कल की पत्रिका में हम आप यह देख चुके कि सत्याग्रह के उद्योग का आधार बाहर की भीख नहीं, अन्तरात्मा की आवाज ही उसका आधार होना चाहिए, और सत्याग्रहियों की प्रतिपक्षी के साथ द्वेष करके अपना कार्य सिद्ध करने की बात न सोचनी चाहिये बल्कि मित्र भाव से प्रतिपक्षी को जीतना चाहिये आज इस बात का विचार करें कि बहुत से लोग सत्याग्रह के इन दो सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुये हिचकते हैं। और कहते हैं कि जो अन्याय करता है उसपर क्रोध न हो; यह कैसे सम्भव है? ऐसे समय क्रोध न करना मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है। अन्याई अपने अन्याय से कैसे सावधान किया जाय? अन्याई पर बिना क्रोध किये अन्याय पर क्योंकर क्रोध हो सकता है। ऐसी शंकायें बारंबार उठती हैं तथापि हम लोग अन्याइयों के सामने क्रोध नहीं करते। अन्याय के सामने ही किया करते हैं। इसकी नजीर अपने पास मौजूद है। बच्चा कोई अन्याय करता है तो, पिता बच्चे पर क्रोध करने के बदले प्रायः स्वयं दुखी होकर उसके कार्य का निषेध करता है जब तक पिता पुत्र में ऐसा ही व्यवहार चलता है तब तक दोनों का

सम्बन्ध बना रहता है। जब मित्र भाव तज कर शत्रु भाव आरम्भ होगा तब यह सम्बन्ध भी टूट जायगा। इन दोनों प्रकारों का अनुभव हम लोगों को सदा ही हुआ करता है और इन्हीं से "कला का मुँह काला" की कहावत निकलती है। जिस नियम को हम अपने परिवार में लाते हैं वही नियम सरकार के साथ काम में लाना चाहिये और ऐसा करें तो हम



लोग शांति के साथ रह सकते हैं। यह शंका उपस्थित करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि सरकार और प्रजा के बीच कौटुम्बिक सम्बन्ध कैसे हो सकता है, ऐसा सम्बन्ध तो उन्हीं में होता है जो परस्पर मित्र और प्रेमी होते हैं। सत्याग्रह में दोनों पक्षों के सत्याग्रही होने की आवश्यकता नहीं रहती। जब दोनों पक्ष ही सत्याग्रही हो जायें तो फिर सत्याग्रह

कैसा ? तब प्रेम की परीक्षा कैसी ? जब एक पक्ष असत्य और अन्याय का आचरण करे तभी सत्य का आग्रह हो संकया है तभी प्रेम की परीक्षा हो सकती है। सच्ची मित्रता की परीक्षा तभी होती है जब एक मित्र मित्रभाव छोड़ देता है। अङ्गरेज सरकार पर क्रोध करके हमलोगों की बहुत हानि हुई है, उससे परस्पर अविश्वास बढ़ा है। हमारे प्रति उनका और उनके प्रति हमारा तिरस्कार बढ़ा है। परन्तु यदि हम अङ्गरेज सरकार पर क्रोध करके और साथ ही उनके शस्त्रबल से बिना दबे अन्याय के वश न हों तो इसी से अन्याय दूर हो जायगा और जो समानता हम चाहते हैं वह हमें प्राप्त हो जायगी। इस समानता का आधार प्रति पक्षी के साथ शस्त्र-बल से लड़ने पर नहीं है, शस्त्रबल से न डरने की शक्ति पर है। पर जो लोग अपने को निर्मल समझते हैं वे प्रेमभाव रख ही नहीं सकते। हम-लोगों को नित्य प्रति प्रातःकाल उठकर यह संकल्प करना चाहिये,— "मैं संसार में किसी से नहीं डरूँगा, अकेले ईश्वर से डरता हूँ। किसी से मैं वैर नहीं करूँगा, किसी के अन्याय के बस में मैं नहीं रहूँगा। असत्य को सत्य से जीतूँगा, असत्य का सामना करते हुए यदि दुःख पड़े तो भोग लूँगा।"

'वसुधैव कुटुम्बकम्' सारा संसार ही हमारा कुटुम्बी है। अतः विश्व-प्रेम ही मानव धर्म है। हमें तो सभी को दिव्य-दृष्टि से देखना चाहिये। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामायण में उस सत्य का प्रकाश किया है—

सियाराम मय सब जग जानी।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(ह०) मोहनदास गाँधी

गाँधीजी ऐसे थे

प्रेम-भारतीय

शहर के कोलाहलपूर्ण वातावरण की अपेक्षा देहात की प्राकृतिक एवं शान्त रम्यता गाँधीजी को अधिक प्रिय थी। इसीलिए वे अपने आश्रम के लिए शहर से दूरी का स्थान हमेशा पसंद करते थे।

वृद्धावस्था में भी गाँधीजी ने अपना स्वास्थ्य अच्छा रखा था। इसका कारण उनका सात्विक और नियमित आहार, नियमबद्ध आचरण, दुर्दम्य आशावाद, विनोद-वृत्ति और उनकी निःस्सीम ईश्वर-श्रद्धा थी।

सुबह लगभग साढ़े छः बजे वे नाश्ता करते, बाद में साढ़े ग्यारह के करीब भोजन और शाम को छः बजे फलाहार। इस प्रकार तीन बार वे आहार करते। प्रतिदिन सुबह-शाम लगभग २-२॥ घंटे वे घूमने का व्यायाम किया करते थे।

प्रतिदिन सुबह लगभग साढ़े आठ नौ के करीब तेल और नीबू के रस से वे शरीर की मालिश कराते और बाद में गरम पानी से स्नान करते थे। गाँधीजी नहाने के लिए कभी साबुन का उपयोग नहीं करते थे। साबुन की बजाय वे एक मोटे खुरदरे कपड़े से बदन रगड़ लिया करते थे।

वे अपनी दाढ़ी सेफ्टी रेजर से स्वयं बना लिया करते पर वे आईने का इस्तेमाल नहीं करते थे। इससे कभी-कभी बालों की खूटियाँ बीच-बीच में रह जातीं। आवश्यकता पड़ने पर आश्रम का ही कोई व्यक्ति उनके बाल भी काट देता था।

गाँधीजी अनावश्यक वस्तुओं का कभी संग्रह नहीं करते। उनका लिबास याने एक पाँच हाथ की धोती और एक गमछा। इनके तीन जोड़े नित्य उपयोग के लिए रहते और एक जोड़ा विशेष अवसर के लिये सुरक्षित रखा जाता।

बापू प्रति सोमवार को मौन-व्रत का पालन करते थे, यह सबको विदित ही है। इसका इतिहास इस प्रकार है कि शुरू-शुरू में सार्वजनिक कार्य के लिए यदा-कदा सर्दी-गर्मी में कभी-कभी खुली बैलगाड़ी में गाँधी-जी को प्रवास करना पड़ता था। असंख्य लोग उन्हें मिलने आते, उन्हें तरह-तरह के प्रश्न पूछते। इन सारी परेशानियों से गाँधीजी थक जाते। अतः सप्ताह में कम से कम एक दिन विश्राम प्राप्त हो इस लिए गाँधीजी ने सोमवार को मौन रखना आरंभ किया था।

गाँधीजी ने आहार-शास्त्र व प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति का खूब अध्ययन किया था। नमक, मिर्च, तेल, मसाला आदि की, शरीर-पोषण के लिए आवश्यकता नहीं है, ऐसा गाँधीजी का विश्वास था। अतः उनके आश्रम में इन वस्तुओं का अपवादरूप में ही प्रयोग होता था। मला-वरोध को हटाने के लिए वे पेट पर खेत की चिकनी मिट्टी का लेप किया करते थे।

गाँधीजी नौकर-चाकर नहीं रखते थे। उन्हें किसी नौकर की आव-श्यकता ही नहीं रहती। श्री. प्यारेलाल उनके प्रमुख सेक्रेटरी थे, जो उनके पत्र-व्यवहार व मिलने-जुलनेवालों की व्यवस्था देखा करते। गाँधीजी के नाती श्री. कनूगाँधी उनकी देखभाल और सेवा-सुश्रुषा करते। गाँधीजी के स्वास्थ्य का भार डॉ० सुशीला नायर पर था।

शाम की प्रार्थना के बाद गाँधीजी कुछ देर तक व्यासपीठ पर बैठकर इच्छुक व्यक्तियों को अपने हस्ताक्षर देते। हस्ताक्षर की फीस ५ रुपया थी। वह रुपया हरिजन फंड में जमा कर दिया जाता। गाँधीजी चौदह भाषाओं में हस्ताक्षर कर सकते थे।

गाँधीजी की शय्या अर्थात् एक लकड़ी के छोटे से पटियेदार पलंग पर एक पतलीसी चटाई। वे हमेशा आकाश के नीचे खुली हवा में सोते थे।

लगभग दो साल पूर्व (१९४७) जब वे नोआखाली यात्रा में पैदल

कर रहे थे, उनका केंद्रीय निवासस्थान रामपुर था। वहाँ उनका दैनिक कार्यक्रम निम्न भाँति थाः—

तड़के चार बजे सोकर उठते। प्रारंभ में छोटी-सी प्रार्थना करते। बाद में ८ औंस गरम पानी में एक औंस शहद मिलाकर पीते। पश्चात लेखन, वाचन, मुलाकात आदि का कार्य शुरू करते।

दो घंटे बाद आठ औंस संतरे या मोसंबी का रस लेते। सुबह ठीक साढ़े सात बजे कुछ निकट सम्पर्क के लोगों को लेकर देहात की पगडंडी से लगभग डेढ़ घंटे तक भ्रमण करते। वहाँ से ९ बजे वापिस आते और बाद में दो घंटे तक मालिश तथा गरम जल से स्नान आदि करते।

११ बजे भोजन होता। भोजन में वे ८ औंस बकरी का दूध, उबाली हुई बिना नमक, मिर्च, मसाले की साग, पतले-पतले २ फलके (अंदाजन वजन ३ तोला) और कुछ फल लेते। कभी-कभी फलकों की बजाय साग और चावल को एकत्र उबाल कर उसे खाते। भोजन करते समय वे मिलनेवालों से बातचीत भी करते।

विद्वान पंडित से लेकर अनाथ विधवायें और निराधार बालक तक सभी प्रकार के और सभी श्रेणी के हिन्दू-मुसलमान व्यक्ति उनसे मिलने आते। कभी-कभी वे दोपहर को आध घंटा सो लेते। पर ठीक समय पर उठ बैठते। [illegible] जल पीते। यदि नारियल की गरी [illegible] नी साथ में थोड़ी-थोड़ी खाते उनकी [illegible] वे बीच-बीच में चिकनी काली मिट्टी का लेप पेट पर किया करते। दोपहर को नियमित रूप से सूत कातते और उसी समय मिलने जुलनेवालों से बातचीत भी करते। इसी बीच आसपास एकत्रित बालकों से भी हास्य-विनोद का उनका क्रम जारी रहता।

शाम को पाँच बजे प्रार्थना होती। बाद में फिर घूमने जाते। लौटकर फिर अपने काम में व्यस्त हो जाते।

दोपहर की भाँति ही शाम का भोजन होता। आम तौर से १० बजे निद्रामग्न हो जाते। पर कभी-कभी वे एक-एक दो-दो बजे रात तक काम में चूर रहते।

शुश्रूषा और सेवा-परायण

गाँधीजी वायसराय की मुलाकात को दिल्ली गए हुए थे। वायसराय ने जब देखा कि उनके साथ समझौता होना असंभव है, तब वे गाँधीजी से बोले—"आप अब सेवाग्राम कब लौट रहे हैं?" गाँधीजी ने जवाब दिया—"संभव हुआ तो आज ही शाम को। यदि आपकी इच्छा हो तो मैं १३ ता० तक रुक सकूँगा पर यदि उसकी आवश्यकता न हो तो मैं फौरन वापिस जाना चाहता हूँ। मेरा सारा ध्यान सेवाग्राम की ओर है। वहाँ अनेक आधि-व्याधियों से पीड़ित और दुखी लोग मेरी राह देख रहे होंगे। वे मेरे जीवन-साथी हैं। उनके निकट सहवास में मुझे बड़ा सुख और समाधान मिलता है।"

गहन राजनीति की गंभीर चर्चाओं को अधूरी छोड़ते वक्त रुग्ण-सेवा की बातें कितनी विचित्र और क्षुद्र मालूम होती हैं, पर गाँधीजी के स्वभाव की यह विशेषता थी कि वे जो-जो बातें करते उनमें उन्हें कोई भी कम महत्वपूर्ण या क्षुल्लक नहीं प्रतीत होती थी।

गाँधीजी को बचपन से ही शारीरिक या मानसिक व्याधियों से पीड़ित जनों की सेवा-शुश्रूषा करने का शौक था। व्हिविह सेक्शन (सजीव शरीर विच्छेदन) से यदि उनका तात्विक विरोध न होता तो वे अवश्य डाक्टर या सर्जन बने होते।

गाँधीजी ने 'हरिजन' के एक लेख में लिखा है—"सेवाग्राम को मैंने 'आर्तगृह' का नाम दिया है। मैं स्वयं शारीरिक और मानसिक दृष्टि से निर्बल हूँ और ऐसे ही कुछ लोगों को मैंने सेवाग्राम में एकत्रित किया है।

प्रवास में ऐसे पीड़ित व्यक्तियों की चिट्ठियों को वे प्रथम देखते।

वे चाहे जितने महत्वपूर्ण कार्य में व्यस्त हों या किसी से कैसी भी गंभीर चर्चा क्यों न कर रहे हों, यदि उस समय कोई किसी के आहार या उपचार सम्बन्धी पूछताछ करने आता तो गाँधीजी पहले उससे बात करते।

गाँधीजी की परिचर्या में रहनेवाले आर्त व्यक्तियों में से प्रो. भन्साली भी एक थे। वह आरंभ में अत्यंत विचित्र स्वभाव के थे। कुछ दिन तक वे गुजरात विद्यापीठ के प्राध्यापक रहे। बाद में जेल हो आये। तत्पश्चात विरक्त एवं विवस्त्र अवस्था में जंगलों पहाड़ों में भटकते रहे। अनेक वर्षों तक कच्चा आटा और नीम की पत्तियाँ खाकर जीवन बताया।

इन्होंने कई साल तक मौन धारण किया था। ऐसे इन अवलिया पुरुष की अनायास गाँधीजी से भेंट हुई। गाँधीजी ने उन्हें समझा-बुझाकर अपने आश्रम में रखा और उन्हें जन-सेवा के मार्ग की महत्ता समझाई। "मनुष्य को कोई काम नहीं करना चाहिये। कर्म यह एक बंधन है।" इस विचारधारा को माननेवाले यह मस्त मौला आगे चलकर गाँधीजी के आश्रम में रोज सत्रह-सत्रह घंटे तक काम करने लगे और मौन छोड़कर दिनभर आश्रमवासियों को पढ़ाने में मशगूल हो गये। उनकी सूखी और गंभीर मुखमुद्रा बदलकर विनोदी और हँसमुख बन गई।

दूसरे एक संस्कृत के महापंडित परचुरे शास्त्री कुष्ठव्याधि से पीड़ित थे। समाज से बहिष्कृत और तिरस्कृत अवस्था में वे अनेक वर्षों तक इधर-उधर भटकते रहे। एक सुप्रभात में वे गाँधीजी के आश्रम में आ पहुँचे और गाँधीजी से कहने लगे—"मैं अब यहीं मरूँगा। क्या आप मुझे अपने यहाँ आश्रय देंगे?"

गाँधीजी ने कहा—"मैं तुम्हें कैसे इन्कार कर सकता हूँ? क्षय से पीड़ित दामाद की यदि मैं शुश्रूषा कर सकता हूँ तो फिर तुम्हारी सेवा क्यों न करूँगा? आपके लिए मैं अपनी कुटिया के पास ही एक स्वतंत्र कुटिया बनवा देता हूँ, आप रहिये। यदि यहाँ से सब कोई चले जायँ तब भी आप और हम यहाँ रहेंगे।" जब तक वे यहाँ रहे गाँधीजी अपने हाथ

से उनके घावों को धोते और उनके शरीर की मालिश करते। उनका कहना था कि जिसका शरीर स्वच्छ व अंतःकरण निर्मल है, उसे किसी संसर्ग की बाधा नहीं हो सकती।

गाँधीजी और विनोद

गाँधीजी ने एकबार कहा था कि यदि मेरे स्वभाव में विनोद-प्रियता न होती तो मैं कबका आत्महत्या कर लेता।

महादेवभाई भी कहा करते थे—"विनोद यह गाँधीजी का एकमात्र मित्र है।"

गाँधीजी बात बात में चुटकियाँ लेते, पर वे किसी पर कटु व्यंग न कसते। उनके विनोद की खूबी शब्द-योजना या मर्मभेदक अर्थ में न होकर उनके निष्कपट सरल और स्नेहार्द्र अंतकरण से प्रसूत स्निग्ध भावना में थी। इसलिये उनके विनोद का जो आनन्द उस अवसर पर उपस्थित व्यक्तियों को प्राप्त होता, वह दूसरों से उक्त बात को सुनने से नहीं मिल सकता था।

सत्य

मजाक में भी झूठ बोलना गाँधीजी को पसंद नहीं था। साबरमती आश्रम में एक उपाधि प्राप्त युवक रहने के लिये आया। उसे छोटे बच्चों से बड़ा स्नेह था और कुछ ही दिनों में वह बच्चों का खिलौना बन गया। एक दिन वह एक छोटी लड़की के साथ खेल रहा था। उसके हाथ में एक सुंदर पीला जर्द नीबू था, जिसे उछलकर प्राप्त करने की वह लड़की चेष्टा कर रही थी। जब जब वह उछलकर उसे पकड़ने का प्रयत्न करती, तब तब वह अपने हाथ ऊँचा कर लेते। अंत में वह लड़की परेशान होकर रोने लगी तब उसका मन समझाने के लिए युवक ने नीबू को नदी में फेंकने का आविर्भाव करते हुए उसे पाकिट में रख लिया। नीबू नदी में फेंक दिया गया यह सोचकर लड़की खामोश हो

गई। बाद में दोनों जब एक साथ चल रहे थे तब उस युवक ने पाकिट से दस्ती निकाली और वह नीबू नीचे गिरा। वह सोचता था कि लड़की दौड़कर नीबू उठायेगी। पर ऐसा न करते वह युवक की ओर विस्मय से देखते हुए बोली—"तुम झूठ बोले। ठहरो, मैं बापू से कहती हूँ।" ऐसा कहकर वह सीधी बापू के पास पहुँची और उन्हें सारी घटना बतलाई। शाम को प्रार्थना के बाद गाँधीजी ने उस युवक को बुलाकर पूछा। उसकी बातें सुनने पर गाँधीजी ने कहा—"देखो, मैं तुम्हें एक सावधानी की सूचना दिये देता हूँ। बच्चों से मजाक में भी कभी झूठ मत बोलो। क्योंकि इससे बालकों को झूठ बोलने की आदत लगने का भय है।"

अपरिग्रह

अफ्रिका से लौटकर आते समय वहाँ के भारतीयों ने गाँधीजी को प्रेमपूर्वक विदाई दी। उस शुभ अवसर पर गाँधीजी और उनके परिवार के लोगों को भेंट स्वरूप अनेक अमूल्य वस्तुयें उन्होंने दीं। इन बहुमोल वस्तुओं की भेंट स्वीकार करना गाँधीजी को उचित नहीं जँचा। उन्होंने लड़कों को समझाया पर कस्तूरबा का समाधान न हुआ। वह बोलीं—"शीघ्र ही मेरे लड़कों के विवाह होकर घर में बहुएँ आयेंगी। क्या उनके लिए ये वस्तुयें काम न आयेंगी?"

गाँधीजी बोले—"सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को खासकर नेता कहलाने वाले को ऐसी कीमती चीजें भेंट में लेना उचित नहीं है। लड़कों के विवाह के समय जिन वस्तुओं की आवश्यकता होगी, उनकी व्यवस्था उसी समय जो कुछ भी हो सकेगी हो जायगी।" इस उत्तर से कस्तूरबा को संतोष नहीं हुआ पर गाँधीजी के दृढ़ निश्चय को देखकर उन्हें अपना हठ छोड़ना पड़ा। बाद में उन चीजों को बेचकर उस रकम का वहाँ के लोगों के उपयोग के लिये गाँधीजी ने एक ट्रस्ट बना दिया, जो अब तक कायम है।

देशी भाषा का प्रेम

प्रथम महायुद्ध के समय की बात है। उस समय के वायसराय ने दिल्ली से युद्ध-परिषद के लिए अनेक नेताओं को निमंत्रित किया था। गाँधीजी को भी बुलावा गया था। वायसराय गाँधीजी से अनुरोध कर रहे थे कि वे फौज-भर्ती के प्रस्ताव का समर्थन करें।

तब गाँधीजी ने उनसे हिन्दी में बोलने की इजाजत माँगी और उसे प्राप्त करने पर उन्होंने हिन्दी में प्रस्ताव का समर्थन किया। उस समय तक ऐसी किसी परिषद में हिन्दी में भाषण करने का साहस किसी ने नहीं किया था। अतः अनेक नेताओं ने गाँधीजी का इस उपक्रम के लिए अभिनंदन किया।

सन १९१५ में गाँधीजी अफ्रिका से लौटकर भारत आये। उस समय कुछ पत्रकार उनसे मिलने गये। गाँधीजी का काठियावाड़ी लिबास देखकर वे दंग रह गये। गाँधीजी से बाद में उन्होंने प्रश्न किया—"वेल मि. गाँधी, व्हाट अबाउट दि सिच्युएशन आफ अफ्रिका, वी वान्ट यूअर इन्टरव्यू" गाँधीजी ने उनके कंधे पर हाथ रखकर बड़े स्नेह के साथ कहा—"मित्रो, मैं चाहता हूँ कि तुम मुझसे हिंदी या गुराती में ही बातचीत करो।"

कपड़ों का परित्याग

सन १९२२ के असहयोग आंदोलन में मद्रास की एक मजदूरों की सभा में भाषण करते हुए गाँधीजी ने कहा—"तुम्हारे पास का विदेशी कपड़ा आज ही इसी समय जला डालो" एक मजदूर ने खड़े होकर कहा—महात्माजी आपका कहना ठीक है, पर जिसके पास एक दो ही कपड़े हों, वह उन्हें जला देने के बाद अपनी लज्जा का निवारण कैसे करेगा?"

गाँधीजी कुछ क्षण स्तब्ध रहे। उनकी आँखें डबडबा आईं। घर पहुँचते ही उन्होंने राजाजी से कहा—"आज से मैं सिर्फ छोटी सी धोती

पहिनूँगा। मेरे अन्य सब कपड़े बंगाल के अकाल पीड़ितों के लिए भेज दो।"

राजाजी ने कहा—"आप सर्दी-गर्मी बर्दाश्त न कर सकेंगे।"

गाँधीजी बोले—"जो कुछ होना होगा, होगा। भारत के करोड़ों अर्ध-नग्न लोगों का जो हाल होगा, वह मेरा होगा।"

दूसरी सभा में गाँधीजी केवल एक छोटी-सी धोती पहिने नंगे बदन आये और बोले—"तुम्हें यदि पर्याप्त कपड़ा न मिल सके तो मेरे जैसा वेष रखिये पर विदेशी वस्त्र को कभी मत छुइये।

बा और बापू

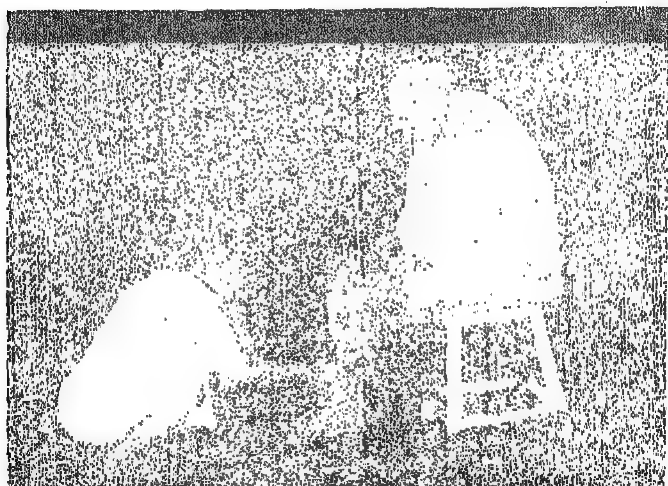
श्री० श्याम गुप्त

गाँधीजी और माता कस्तूरबा का जन्म एक ही गाँव में (पोरबन्दर) और एक ही साल में (१८६६) हुआ था। तेरहवें वर्ष में उनका विवाह हुआ और गाँधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "अल्पकाल में ही मैं उस पर अपने पतित्व का अधिकार जताने लगा!" पत्नी उनके अनुकूल आदर्श पत्नी बने इस हेतु से गाँधीजी ने उनपर अनेक बन्धन लगाये पर कस्तूरबा का निर्व्याज एवं स्वाभिमानी स्वभाव उन्हें बर्दाश्त नहीं कर पाता। अतः उनमें बार २ संघर्ष होता। उनके अंतिम व चतुर्थ पुत्र देवदास का जन्म होने पर गाँधीजी ने कस्तूरबा की सम्मति से सन् १९०६ से ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। तब से उन दोनों पति-पत्नी में अधिकाधिक प्रेम का उत्सर्ग होता गया और उन्हें वैवाहिक जीवन का सच्चा सुख मिलने लगा—ऐसा गाँधीजी कहा करते थे।

बापू और कस्तूरबा के जीवन में अनेक हृदयस्पर्शी घटनायें घटी हैं, जिनका वर्णन बड़ा ही मनोरंजक है।

"गाँधीजी जब डर्बान (दक्षिणी अफ्रिका) में वकालत करते थे, तब उनके सब मुन्शी उन्हीं के घर में रहते। उनमें हिन्दू, ईसाई, मुसलमान आदि व्यक्ति थे। उन सबके साथ गाँधीजी अपने कुटुम्बी-जनों जैसा व्यवहार करते पर कस्तूरबा पर सनातनी विचारों का प्रभाव होने के कारण वे कभी कभी इस मामले में गाँधीजी से लड़ पड़तीं।

महात्मा गान्धी और उनकी पत्नी कस्तूर बा



पत्नी का आदर्श-प्रेम

(पति परमेश्वर-पति सर्वेश्वर सती के पति ही प्राण अधार)

अफ्रिका में गाँधीजी का मकान आधुनिक ढंग का बना हुआ था। उस में गंदे पानी के लिए नालियों की बजाय प्रत्येक कमरे में एक एक बरतन रखा जाता था। इन बरतनों को साफ करने का काम गाँधीजी और कस्तूरबा के जिम्मे था। मुन्शी लोग अपने २ बरतनों को साफ करते

पर उन में एक नया ईसाई मुन्शी आया था। उसके कमरे की सफाई खुद गाँधीजी को करनी पड़ती थी। वह जन्म से अस्पृश्य जाति का था और बाद में ईसाई हो गया था। उसके जूठे बरतन पतिको या स्वयं धोना कस्तूरबा को पसंद नहीं आता, पर गाँधीजी के कड़े अनुशासन के सम्मुख उन्हें हर बार झुकना पड़ता था।

सन् १९३६ में गांधीजी जब सिलोन गये थे तब उनके साथ कस्तूरबा भी थीं। एक आदमी ने पूछा—"कस्तूरबा क्या आपकी माता हैं?" गांधीजी ने कहा—"हाँ, वह मेरी माता हैं।" दूसरे दिन एक आम-सभा में गांधीजी ने कहा "गत ३० साल से कस्तूरबा मेरी माता बन गई हैं। माँ, सहेली, सेविका, परिचारिका आदि सभी रूप कस्तूरबा में एकत्रित हो गये हैं। सुबह से यदि वह मेरे साथ-साथ घूमती रहें, तो मेरे भोजन की, कपड़ों की चिंता कौन करेगा? अतः हमने यह निश्चय किया है कि सब मान-सम्मान मैं लूँ और सारी परेशानी और जिम्मेवारी वह ले।

१९१३ साल की बात है। द० आफ्रिका के न्यायाधीश ने यह फैसला किया था कि केवल ईसाई पद्धति से रजिस्टर्ड किये हुए विवाह ही कानूनी और जायज समझे जायँगे। इस फैसले के अनुसार आफ्रिका स्थित भारतवासियों की स्त्रियाँ रखेली और उनकी संतान लावारिस सिद्ध होने लगीं।

एक दिन गांधीजी ने कस्तूरबा से कहा—"अब तुम मेरी विवाहित पत्नी नहीं रहीं।"

कस्तूरबा ने चिढ़कर कहा—"कौन कहता है? आप तो प्रतिदिन एक न एक नई समस्या खड़ी करते हैं।

गांधीजी ने कहा—"मैं नई समस्या खड़ी करता हूँ? वह जनरल स्मट्स कहता है कि हमारा विवाह ईसाई पद्धति के अनुसार रजिस्टर्ड नहीं किया गया है। अतः वह गैर-कानूनी और नाजायज है!" फिर गांधीजीने जरा चुभती हुई वाणी में कहा—"अब तुम स्त्रियाँ क्या करना

चाहती हो ?"

कस्तूरबा ने कहा—"हम अबला क्या कर सकती हैं ?"

गांधीजी—"क्यों नहीं कर सकतीं ? जिस प्रकार हम पुरुष स्वाभिमान के लिए लड़ रहे हैं, वैसे ही तुम भी लड़ो।"

कस्तूरबा—"आप लोग तो जेल जा सकते हैं।"

गांधीजी—"फिर तुम भी तैयार हो जाओ।"

कस्तूरबा—"महिलायें जेल जाने के लिए कैसे तैयार हो सकती हैं ?"

गांधीजी—"क्यों नहीं हो सकतीं ? पुरुष जो दुःख भोगते हैं, स्त्रियाँ भी उन्हें क्यों न भोगें ? क्या राम के साथ सीता, नल के साथ दमयंती, हरिश्चंद्र के साथ तारामती और सत्यवान के साथ सावित्री जंगलों में नहीं भटकी थीं ?"

कस्तूरबा—"वे देवियाँ थीं। उनकी शक्ति हममें कहाँ ?"

गांधीजी—"हम भी यदि उनके आदर्श सम्मुख रख कर चलें तो देवता बन सकते हैं। मैं राम हो सकता हूँ, तुम सीता बन सकती हो। यदि तुम अपनी इज्जत बचाना चाहती हो तो तुम्हें जेल जाने के लिए तैयार रहना चाहिये।"

कस्तूरबा कुछ क्षण तक स्तब्ध रहीं। फिर बोलीं—"तुम चाहते हो कि मैं जेल जाऊँ पर क्या जेल का खान-पान मुझे अनुकूल होगा ?"

गांधीजी—"मैं यह नहीं कहता कि तुम जेल जाओ ही, पर तुम यदि अपने आत्म-सम्मान के लिए जाना जरूरी समझो तो जाओ। यदि वहाँ का खान-पान पसंद न आये तो फलाहार करना।"

कस्तूरबा—"सरकार फलाहार देगी ?"

गांधीजी—"न दे तो तब तक उपवास करना।"

कस्तूरबा—तब तो मैं मर ही जाऊँगी।

गांधीजी—"तुम यदि जेल में मरी तो मैं तुम्हारी जगदम्बा के समान पूजा करूँगा।"

कस्तूरबा ने निश्चय के साथ कहा—"ठीक है, मैं जेल जाने के लिए तैयार हूं।"

इसके बाद कस्तूरबा कई बार सत्याग्रह आन्दोलन में जेल गईं और अंत में ता० २२ फरवरी १६४४ को उनकी जेल में ही मृत्यु हुई। इसके लगभग २ माह बाद ता० ६ मई १६४४ को गांधीजी की जेल (आगाखाँ-भवन) से मुक्तता हुई। उस दिन जब गांधीजी वहाँ से 'पर्ण-कुटी' में गये तब वे बड़े ही खिन्न दिखाई दे रहे थे। उन्हें बारबार 'बा' का स्मरण हो आता था। उन्होंने उस समय कहा—"इससे बढ़कर अभिमानास्पद मृत्यु और क्या हो सकती है! बा और महादेव इन दोनों ने स्वतंत्रता की बलिवेदी पर अपने देह अर्पण कर अमर-पद प्राप्त कर लिया है।"

* * *

अफ्रिका से आने के बाद गाँधीजी ने साबरमती के किनारे सत्याग्रहाश्रम की स्थापना की थी। गाँधीजी का वह निवासस्थान होने के कारण देश के राजनैतिक आन्दोलन का सूत्रपात वहीं से होता था। इस सिलसिले में देश के कोने कोने से अनेक अनपेक्षित नेतागण वहाँ आते। इस प्रकार समय-कुसमय पर आनेवाले अतिथियों का स्वागत सत्कार करने में कस्तूरबा को बड़ा परेशान होना पड़ता और वे कभी कभी इससे ऊबकर झुंझला पड़तीं।

ऐसा ही एक अवसर आया। सब भोजन आदि से निवृत्त हो गये थे। चौका-बरतन कर कस्तूरबा थोड़ा विश्राम लेने के लिये अपने कमरे में गईं और वे जैसे-तैसे बिस्तर पर लेटी ही थीं, इतने में गान्धीजी का संदेशा मिला कि पं० मोतीलाल नेहरू तथा अन्य कई नेतागण एक घंटे में आ रहे हैं। उनके लिए भोजन का प्रबंध करना आवश्यक था। गाँधीजी चुपचाप रसोईघर में गये और वहाँ के एक स्वयंसेवक को इशारे से बुलाकर उसे धीरे से कहा—"कुछ बड़े लोग एक-घंटे बाद आनेवाले हैं। उनके लिए

भोजन का प्रबंध करना होगा।" बाद में कस्तूरबा के कमरे की ओर इशारा करते हुए कहा—

"उसे मत उठाना। बेचारी अभी थकी माँदी लेटी है। तुम सब लड़के मिलकर चूल्हा जलाओ, आटा गूँथो और सब्जी काटकर रखो। जब सब चीजें तैयार हो जावें तब आवश्यकता पड़ने पर उसे जगाना। हाँ, पर यह देखना उसे किसी प्रकार कष्ट न हो।"

लड़के सब काम में लग गये। सब काम पूरा होता आया ही था कि इतने में एक बिल्ली के कूदने से ऊपर से एक थाली जमीन पर गिरी। उसकी आवाज से कस्तूरबा एकदम चौंक उठीं। रसोईघर में जाकर देखती हैं तो वहाँ रसोई बन रही है। बाद में उन्हें जब सारा हाल मालूम हुआ तब वे हँसती हुई बोलीं—"तब से मुझे क्यों नहीं जगाया? मैं अभी कुछ इतनी थकी माँदी नहीं हूँ।" बाद में सायं प्रार्थना के पश्चात जब सब लोग अपने अपने स्थान पर चले गये तब कस्तूरबा गाँधीजी के पास आईं और बनावटी क्रोध से बोलीं—"मेहमानों के लिए भोजन का प्रबंध करना था तो मुझसे क्यों नहीं कहा? क्या तुम समझते हो, मैं इतनी सुस्त हूँ?" गाँधीजी ने हँसते हुए जवाब दिया—"सच कहूँ बा? ऐसे मौकेपर तुम्हें कष्ट देने में मुझे बड़ा डर लगता है।" कस्तूरबा ने झेंपते हुए सलज्ज भाव से कहा—"तुम तो हमेशा ही मजाक करते हो"

हमेशा शरारत

गाँधीजी जब १९२२ से २४ तक यरवदा जेल में थे, वहाँ उन्होंने एक कैदी की खूराक के प्रश्न पर अपना भोजन त्याग दिया और सिर्फ दूध पर ही रहने लगे। जब कस्तूरबा गाँधीजी को देखने के लिये गयीं तो उन्होंने बापू की हालत देखी। उनका वजन १०४ पौंड से घटकर ९० पौंड हो गया था और जीने पर चढ़ते हुए पैर लड़खड़ाते थे। बापू ने अनिच्छापूर्वक सारी कथा बा से बताई। सब लोगों के आग्रह पर बापू ने फल लेना मंजूर कर लिया।

यरवदा जेल के सुपरिंटेंडेंट ने कस्तूरबा के निकट अपनी सफाई देते हुए कहा—मिसेस गाँधी, यह जो सब करते हैं इसमें मेरा कोई कसूर नहीं।

बा ने जवाब दिया—हाँ, मैं जानती हूँ। वे हमेशा कुछ न कुछ शरारत करते रहते हैं।

गुरु और शिष्य

आगा खाँ महल नजरबंद कैंप में १५ अगस्त १६४४ को महादेव भाई की मृत्यु हो जाने से जब वहाँ के वातावरण में बहुत उदासी छायी रहने लगी तो गांधीजी ने इसका उपाय यह सोचा कि सब लोग अपना एक-एक मिनट काम में लगा रखें, जिससे इधर-उधर के विचार मन में न आ सकें। स्वयं गांधीजी ने कस्तूरबा को गुजराती सिखाना शुरू कर दिया। गुजराती किताब में कोई भजन आ जाता तो बापू उसे बा को सस्वर गाना सिखाने बैठ जाते। दोपहर को खाना खाकर लेटने पर सोने से पहले बापू बा को इतिहास, भूगोल कुछ न कुछ पढ़ाते। बा बड़ी दिलचस्पी के साथ सब कुछ सीखने की कोशिश करतीं, परन्तु ७४ साल की उम्र में नयी चीजें सीखने की शक्ति किसी बिरले में ही पाई जाती है। बा को पहले दिन का पाठ याद है या नहीं, यह जानने के लिए बापू जब उनसे प्रश्न पूछते तो अकसर उनको पाठ याद न निकलता।

बापू ने बा को प्राकृतिक भूगोल सिखाना शुरू किया। रेखांश और अक्षांश भूमध्य रेखा या विषुवृत रेखा क्या है, सो सब समझाया, लेकिन बा को याद न हो पाता। हर रोज दोपहर को खाने के बाद बापू एक नारंगी मँगाते और उससे बा को विषुवृत्त वगैरह समझाते। आखिर बा को वे नाम याद हो गये। इसके कई दिन बाद एक रोज प्यारेलालजी कुमारी मनु गांधी को भूगोल पढ़ा रहे थे। बा खड़ी होकर सुनने लगीं। प्यारेलालजी को अंग्रेजी नाम आते थे, उर्दू नाम आते थे, मगर हिंदी नाम याद करने में कुछ गोलमाल हो गया था। बा ने फौरन पकड़ लिया कि प्यारेलालजी जिसे रेखांश बता रहे थे, उसे बापू ने अक्षांश

बताया था और बा की बात ठीक निकली। प्यारेलालजी ने अपनी गलती सुधार ली।

बापू ने बा० को गुजराती की पाँचवीं किताब पढ़ानी शुरू की। उसमें कविताएँ आयीं। उनके शुरू में राग का नाम लिखा रहता। बापूजी बा को उनका राग सिखाने लगे। आठ दस दिन तक शाम की प्रार्थना के बाद बापू और बा उन कविताओं को गाया करते। श्रीमती सरोजनी नायडू अकसर मजाक उड़ातीं। बापू हँस देते और फिर बा के साथ गाने लगते।

आदर्श दम्पति

गांधीजी को अपने जीवन में हिंदू धर्म से प्रेरणा मिली ही थी, बा से भी बहुत प्रेरणा मिली थी। गांधीजी ने एक जगह बा के संबंध में लिखा है—बा का जबरदस्त गुण महज अपनी इच्छा से मुझमें समा जाने का था। यह कुछ मेरे आग्रह से नहीं हुआ था, लेकिन समय पाकर बा के अंदर ही इस गुण का विकास हो गया था। मैं नहीं जानता था कि बा के अंदर यह गुण छिपा हुआ था। मेरे शुरू-शुरू अनुभव के अनुसार बा बहुत हठीली थीं। मेरे दबाव डालने पर भी वह अपना चाहा ही करतीं। इसके कारण हमारे बीच थोड़े समय की या लंबी कड़ुवाहट भी रहती, लेकिन जैसे-जैसे मेरा सार्वजनिक जीवन उज्वल बनता गया, वैसे-वैसे बा खिलती गयीं। पुख्ता विचारों के साथ मुझ में यानी मेरे काम में समाती गयीं। जैसे-जैसे दिन बीतते गये, मुझमें और मेरे काम में—सेवा में—भेद न रह गया। बा धीमे-धीमे उसमें तदाकार होने लगीं।"

शुरू में सांसारिक जीवन त्याग कर बापू के कठोर तपस्यापूर्ण जीवन को अपनाने में बा को बहुत प्रयत्न करना पड़ा। परन्तु बा प्रचलित अर्थ में प्रतिव्रता तो थी ही, लेकिन उससे बहुत विशाल अर्थ में पतिव्रता स्त्री थीं। उन्होंने विपुल आत्मबल लगाकर अपने जीवन में परिवर्तन कर डाले और पति के मार्ग की सच्ची पथिक बन गयीं।

उस समय तक गांधीजी 'महात्मा के' नाम से प्रसिद्ध नहीं हुए थे। और पढ़े लिखे लोगों को तो उनका तपस्यापूर्ण जीवन बड़ा अटपटा-सा लगता था। एक पढ़ी लिखी बहन ने तो यहाँ तक अनुमान कर डाला कि गांधीजी ने अपनी पत्नी को अपने पथ का पथिक बनाने के लिए नाना दुःख दिये होंगे। कस्तूरबा को इस टीका से बहुत दुःख हुआ और उन्होंने उस टीका करनेवाली बहन को नीचे लिखा पत्र लिखा। इस पत्र में बा के तेज और बापू प्रति उनके अनन्य समर्पण की मधुर झाँकी मिलती है—

श्रीमती कस्तूरबा की चिट्ठी

(पति-भक्ति की महिमा पर)

शुक्रवार

अखंड सौभाग्यवती लीलावती,

तुम्हारा पत्र मुझे बहुत चुभता रहता है। तुम्हारे और मेरे बीच कभी बातचीत का भी बहुत मौका नहीं आया। फिर तुमने कैसे जाना कि गांधीजी मुझे बहुत दुख देते हैं। मेरा चेहरा उतरा रहता है, वे मुझे खाने के बारे में बहुत दुख देते हैं, सो तुम देखने आयीं थीं? मेरे जैसा पति तो दुनिया में भी किसी के नहीं होगा। सत्य के कारण वह सारे संसार में पूजा जाता है। हजारों उनकी सलाह लेने आते हैं। हजारों को वे सलाह देते हैं। मुझे किसी दिन मेरी भूल के बिना मेरा कसूर नहीं निकाला। अपने पति के कारण तो मैं सारे जगत में पूजी जाती हूँ। मेरा अपने सगों में खूब प्रेम है। मित्रों में मेरा बहुत मान है। तुम मेरे ऊपर खोटी तोहमत लगाती हो। वह कोई मानेगा नहीं। हाँ, मैं तुम्हारे ऐसी आजकल के जमाने की स्त्री नहीं। खूब छूट लेनी, पति तुम्हारे ताबे में रहे तो ठीक, नहीं तो तेरा और मेरा रास्ता जुदा-जुदा। पर सनातनी हिंदू स्त्री को यह शोभा नहीं देता।

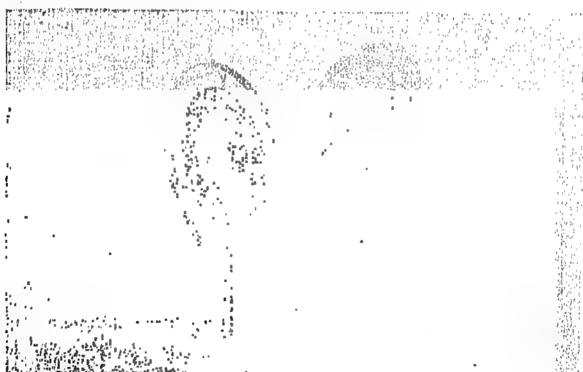
पार्वतीजी का ऐसा प्रण था कि जन्मोजनम शंकर मेरे प्राणपति हैं। ऐसी ही मैं भी प्रभु से याचना करती हूँ।

लिखी कस्तूर गांधी

महामानव प्रार्थना की ओर

प्रिय भारतीय नर-नारियों,

भारत के बिना ताज के हृदयसम्राट सदा रामधुन और प्रार्थना प्रातः सायं करते थे—उनके बहुत प्रिय भजनों को यहाँ दिया जाता है, इससे सर्व साधारण लाभ उठावें, महात्माजी तो इन्हीं सन्तों के भजन रूपी साँचे में अपने को ढाल लिया था, वे कहते थे—



प्रार्थना मेरे जीवन का ध्रुव तारा है। एक बार मैं भोजन करना छोड़ सकता हूँ; किन्तु प्रार्थना नहीं। आत्मा को परमात्मा में लीन करने का एक मात्र साधन प्रार्थना ही है।

—मो० क० गांधी

प्रातः काल

ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥

१—यह धर्ममूल वैदिक वाङ्‌मय का सारभूत एवं प्रातिनिधिक श्लोक प्रातः और सायं-दोनों समय प्रार्थना के आरम्भ में बोला जाता है। इस जगत् में जो कुछ भी जीवन है वह सब ईश्वर का बसाया हुआ है। इसलिए तू ईश्वर के नाम से त्याग करके यथाप्राप्त भोग किया कर।

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वम् सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम् ।
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यम् तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः ॥ २ ॥

२—आत्मतत्व—प्रातःकाल अपने हृदय में स्फुरित आत्मतत्व का मैं स्मरण करता हूँ। वह आत्मतत्व सद्रूप, ज्ञानरूप और सुख-रूप है। परमहंसों की वह परमगति है। वह चतुर्थपद है। स्वप्न, जागृति और निद्रा इन तीनों अवस्थाओं को वह निरन्तर जानता है। वह आत्मतत्व शुद्धब्रह्म है, और मैं वही आत्मतत्व हूँ, पंचमहाभूतों से बना हुआ यह शरीर मैं नहीं हूँ।

प्रातर्भजामि मनसो वचसामगम्यम् वाचो विभान्ति निखिला यदनुग्रहेण ।
यन्नेतिनेतिवचनैर्निगमा अवोचुस्तं देवदेवमजमच्युतमाहुरग्र्यम् ॥ ३ ॥

३—जो मन और वाणी के लिए अगोचर है, जिसकी कृपा से चारों वाणियाँ (परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी) प्रवर्तित होती हैं, जिसका वर्णन वेद भी 'वह यह नहीं, वह यह नहीं' इस इस प्रकार से ही कर सकते हैं, उस ब्रह्म को प्रातःकाल उठकर मैं भजता हूँ। ऋषियों ने उसे देवों का देव, अजन्मा, पतन-रहित और आदि-स्वरूप कहा है।

प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णम् पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम् ।
यस्मिन्निदं जगदशेषमशेषमूर्तौ रज्ज्वां भुजंगम इव प्रतिभासितं वै ॥ ४ ॥

४—अन्धकार से परे, सूर्य समान, पूर्ण सनातन आधार, उस परमात्मा तत्त्व को मैं प्रातःकाल उठकर नमस्कार करता हूँ, जिसका 'पुरु-

षोत्तम' नाम से वर्णन किया गया है। उस अनन्त स्वरूप के भीतर यह सारा जगत इस तरह प्रतीत होता है, जैसे रस्सी में सर्प दिखाई देता है।

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥ ५ ॥

५—भूमाता—समुद्र जिसका वस्त्र है, पर्वत जिनके स्तन-मंडल हैं, और विष्णु जिनके स्वामी हैं—भूमिमाता, तुम्हें मैं नमस्कार करता हूँ। मैं तुम्हें जो अपने पैर से छू रहा हूँ, मेरे इस अपराध को क्षमा करो।

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥ ६ ॥

६—सरस्वती—जो कुन्द, चन्द और हिम के हार के समान गौरवर्ण है, जिन्होंने श्वेतवस्त्र धारण कर रखे हैं, जिनका हाथ वीणा के सुन्दर दण्ड से सुशोभित है, जो श्वेत कमल के ऊपर विराजमान हैं, ब्रह्मा विष्णु, शिव आदि सर्वदेव जिनकी सदा स्तुति करते हैं, वे समस्त अज्ञान और जड़ता का नाश करनेवाली भगवती सरस्वती मेरी रक्षा करें।

वक्रतुण्ड महाकाय सूर्यकोटिसमप्रभ।
निर्विघ्नं कुरु मे देव शुभकार्येषु सर्वदा ॥ ७ ॥

७—गणेश—जिनका मुख वक्र है, जिनका शरीर विशाल है, करोड़ सूर्यों की जैसी जिनकी कान्ति है, ऐसे हे सिद्धिनायक, मेरे सब शुभ कर्मों को निर्विघ्न सम्पन्न करो।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ८ ॥

८—गुरुदेव—गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही महादेव हैं, गुरु साक्षात् परब्रह्म हैं, उन श्रीगुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम्
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम्
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥ ९॥

९—विष्णु—भवभय को दूर करनेवाले सर्वप्राणियों के एकमात्र स्वामि श्रीविष्णु भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ। उनका आकार शान्त सौम्य है। वे शेषनाग की शैया पर सोते हैं। उनकी नाभि से कमल उत्पन्न हुआ है। सब देवों के स्वामी हैं, समस्त विश्व के आधार हैं, आकाश की तरह अलिप्त हैं और मेघ के समान उनका शरीर कल्याण-कारी है। समस्त सम्पत्ति के वे स्वामी हैं। कमल के जैसे उनके नेत्र हैं। योगीजन ध्यान द्वारा ही उन विष्णु भगवान् को प्राप्त कर सकते हैं।

करचरण कृतं वाक्कायजं कर्मजं वा
श्रवणनयनजं वा मानसं वाऽपराधम्।
विहितमविहितं वा सर्वमेतत् क्षमस्व
जय जय करुणाब्धे श्रीमहादेव शम्भो॥ १०॥

१०—क्षमायाचना—हाथ से अथवा पैर से, वाणी से या शरीर से, कान से अथवा आँख से—मैं जो कुछ अपराध करूँ, वह कर्म से हुआ हो, या केवल मानसिक हो—वह अमुक कर्म करने से हुआ हो, अथवा अमुक कर्म न करने से हुआ हो, हे करुणासागर कल्याणकर श्रीमहादेव! उन सब अपराधों के लिए मुझे क्षमा करो।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥ ११॥

११—प्रार्थना—न तो मैं राज्य की इच्छा करता हूँ, न स्वर्ग की। मोक्ष की भी मुझे इच्छा नहीं। दुःख से तप्त प्राणिमात्र की पीड़ा दूर हो, बस इतना ही मैं चाहता हूँ।

भयानां भयं भीषणं भीषणानाम् गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैःपदानां नियन्तृ त्वमेकम् परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥ १२ ॥

१२—तू भयों का भी भयकारक है, भयंकर से भी भयंकर है, तू प्राणिमात्र की गति है और अपवित्र वस्तुओं को भी पवित्र करनेवाला है। श्रेष्ठ स्थानों का तू ही एकमात्र नियन्ता है। तू परे से भी परे है और रक्षकों का भी रक्षक है।

वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः ।
सदेकं निधानं निरालंबमीशम् भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः ॥ १३ ॥

१३—हम तेरा स्मरण करते हैं, और तेरा भजन करते हैं, तू जगत् का साक्षीरूप है, तुझे हम नमस्कार करते हैं। सत्स्वरूप, एकमात्र साधन और किसी का भी आधार न लेनेवाले, संसार-सागर के नौका-रूप ईश्वर की शरण हम लेते हैं।

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह ।
शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन ॥ १४ ॥
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना ।
ही एकादश सेवावी नम्रत्वे व्रतनिश्चये ॥ १५ ॥

१४-१५—एकादश व्रत—ये दोनों श्लोक मराठी भाषा के हैं और दोनों प्रार्थनाओं के अन्त में बोले जाते हैं—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, परिश्रम, अस्वाद, निर्भयता, सब धर्मों में समान भाव, स्वदेशप्रेम और किसी से घृणा का त्याग—ये एकादश व्रत नम्रतापूर्वक निश्चय पालन करे।

सायंकाल

ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥

१—इस जगत् में जो कुछ भी जीवन है वह सब ईश्वर का बसाया

हुआ है। इसलिए तू ईश्वर के नाम से त्याग करके यथाप्राप्त भोग किया कर। किसी के धन की वासना न कर।

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः
वेदैःसांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगा।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरागणा देवाय तस्मै नमः॥ २॥

२—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और पवन दिव्य स्तोत्रों से जिसकी स्तुति करते हैं, सामवेद का गान करनेवाले मुनि, अंग, पद, क्रम और उपनिषद् सहित वेदों से जिसका स्तवन करते हैं, योगी लोग ध्यानस्थ होकर ब्रह्ममय मन द्वारा जिसका दर्शन करते हैं और सुर तथा असुर जिसकी महिमा का पार नहीं पाते, उस परमात्मा को नमस्कार करता हूँ।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ३॥

अर्जुन ने कहा

३—हे केशव! स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थ के क्या लक्षण होते हैं? स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता, बैठता और चलता है?

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ४॥

भगवान् ने कहा—

४—हे पार्थ! जब मनुष्य मन में उठती हुई सभी कामनाओं का त्याग कर देता है और आत्माद्वारा ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५॥

५—दुःख से जो दुखी न हो, सुख की इच्छा न रखे और राग, द्वेष और क्रोध आदि रहित हो, वह स्थिरबुद्धि मुनि कहलाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६ ॥

६—सर्वत्र रागरहित होकर जो पुरुष शुभ या अशुभ की प्राप्ति में न हर्षित होता है, न शोक करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रीयाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्टता ॥ ७ ॥

७—कछुआ जैसे सब ओर से अंग समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियों को उनके विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई कही जाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ८ ॥

८—देहधारी जब निराहार रहता है तब उसके विषय मन्द पड़ जाते हैं, परन्तु रस नहीं जाता। वह रस तो ईश्वर का साक्षात्कार होने से ही शांत होता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्यविपश्चितः ।
इन्द्रयाणि प्रमाथीनि हरन्तिप्रसभं मनः ॥ ९ ॥

९—हे कौन्तेय! चतुर पुरुष के उद्योग करते रहने पर भी इन्द्रियाँ ऐसी प्रमथनशील हैं कि वे उनके मन को भी बलात्कार से हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ १० ॥

१०—इन सब इन्द्रियों को बस में रखकर योगी को मुझमें तन्मय ही रहना चाहिये, क्योंकि अपनी इन्द्रियाँ जिसके वश में हैं, उनकी बुद्धि स्थिर है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ११ ॥

११—विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष को उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है। आसक्ति से कामना होती है और कामना से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ १२ ॥

१२—क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति भ्रान्त हो जाती है, स्मृति भ्रान्त होने से ज्ञान का नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया, वह मृतक तुल्य है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ १३ ॥

१३—परन्तु जिसका मन अपने अधिकार में है और जिसकी इन्द्रियाँ रागद्वेषरहित होकर उसके वश में रहती हैं, वह मनुष्य इन्द्रियों का व्यापार चलाते हुए भी चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ १४ ॥

१४—चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं, जिसे प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, उसकी बुद्धि तुरन्त ही स्थिर हो जाती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नचायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥ १५ ॥

१५—जिसे समत्व नहीं, उसे विवेक नहीं। जिसे विवेक नहीं, उसे भक्ति नहीं और जिसे भक्ति नहीं उसे शांति नहीं है और जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख कहाँ से हो?

इन्द्रियाणांहि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ १६ ॥

१६—विषयों में भटकनेवाली इन्द्रियों के पीछे जिसका मन दौड़ता है उसका मन जैसे वायु नौका को चाहे जहाँ खींच ले जाता है वैसे ही, इसकी बुद्धि को जहाँ चाहे खींच ले जाता है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ १७ ॥

१७—इसलिए हे महाबाहो ! जिसकी इन्द्रियाँ चारों ओर के विषयों से निकलकर अपने वश में आ जाती है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ १८ ॥

१८—जब सब प्राणी सोते रहते हैं, तब संयमी जागता रहता है। जब लोग जागते रहते हैं, तब ज्ञानवान मुनि सोता रहता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥१९॥

१९—नदियों के प्रवेश से भरते रहने पर भी जैसे समुद्र अचल रहता वैसे ही जिस मनुष्य में संसार के भोग शान्त हो जाते हैं वही शान्ति प्राप्त करता है न कि कामवाला मनुष्य।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति ॥ २० ॥

२०—सब कामनाओं का त्याग करके जो पुरुष इच्छा, ममता और अहंकार रहित होकर विचरता है, वही शान्ति पाता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपिब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ २१ ॥

२१—हे पार्थ ! ईश्वर को पहचाननेवाले की स्थिति ऐसी है। उसे पाने पर फिर वह मोह के वश नहीं होता और यदि मृत्युकाल में भी ऐसी ही स्थिति टिकी रहे, तो वह ब्रह्मनिर्वाण पाता है।

भजन

श्रीगणेश-स्तुति

(राग बिलावल)

गाइये गनपति जगबन्दन ! शंकर-सुवन, भवानी-नन्दन !
सिद्धिसदन, गजबदन, विनायक । कृपासिंधु, सुंदर सब लायक !
मोदक प्रिय, मुदमंगल-दाता । विद्या-वारिधि, बुद्धि-विधाता !
माँगत तुलसिदास, कर जोरे । बसहिं राम-सिय मानस मोरे !

बापू का प्यारा भजन

वैष्णव जनतो तेने कहिये, जे पीड़ पराई जाणे रे;
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आने रे।
सकल लोकमां सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे;
वाच्च काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे।
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे;
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे;
रामनामशू ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे।
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवर्या रे;
भणे नरसैयो तेनुं दरसन करतां कुल एकोतेर तार्या रे।

(राग गौरो तीन-ताल)

अखियाँ हरि दरसन की प्यासीं

दरब्यौ चाहत कमलनैन को, निसिदिन रहत उदासी ॥ १ ॥
आये ऊधो फिर गये आँगन डारि गये गर फाँसी ॥ २ ॥
केसरि-तिलक मोतिन की माला वृन्दावन को बासी ॥ ३ ॥
काहू के मन कोऊ न जानत लोगन के मन हाँसी ॥ ४ ॥
सूरदास प्रभु ! तुमरे दरश बिन लेहौं करवत कासी ॥ ५ ॥

महात्माजी का प्यारा भजन



उठ ! जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।
जो सोवत है वह खोवत है, जो जागत है वह पावत है।।
टुक नींद से अँखिया खोल जरा, ओ गाफिल प्रभु से ध्यान लगा।
यह प्रीति करन की रीति नहीं, वह जागत है तू सोवत है।।

अब जान भुगत करनी अपनी, ओ पापी! पाप में चैन कहाँ।
जब पाप की गटरी सीस धरी, फिर सीस पकड़ क्यों रोवत है॥
जो काल करे वह अज कर ले, जो आज करे वह अब कर ले।
जब चिड़ियन खेती चुग डारी, फिर पछताए का होवत है॥

(राग काफी)

तोरी गटरी में लागे चोर बटोहिया का सोवे ॥ टेक ॥
पाँच पच्चीस तीन हैं चुरवा, यह सब कीन्हें सोर।
जागु सबेरा बाट अनेरा, फिर नहिं लागे जोर॥
भव सागर इकनदी बहतु है, बिन उतरे जाव बोर।
कहै कबीर सुनो भाई साधो! जागत कीजै भोर॥

राम नाम

मेरो मन रामहि राम रटै रे॥ टेक॥
राम नाम जप लीजै प्राणी, कोटिक पाप कटै रे।
जनम जनम के खत जु पुराने, नामहि लेत फटै रे॥ १॥
कनक-कटोरे अमृत भरियो, पीवत कौन नटै रे।
मीरा के प्रभु हरि अविनाशी, तन मन ताहि पटै रे॥ २॥

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥ १॥
कौने देव बराइ बिरद-हित, हठि-हठि अधम उधारे।
खग, मृग, व्याध, पषान, बिटप जड़, जवन सुर तारे॥ २॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब माला-बिबस विचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥ ३॥

वरयाचन

अर्थ न धर्म न कामरुचि, गति न चहउँ निर्वान।
जन्म जन्म रति रामपद, यह बरदान न आन॥

बार-बार बर मागउँ, हरषि देहु श्रीरङ्ग ।
पदसरोज अनपायनी, भगति सदा सतसंग ॥
मोसम दीन, न दीन हित, तुम्ह समान रघुबीर ।
अस विचारि रघुवंस मनि, हरहु विषम भवभीर ॥
नहिं विद्या नहिं बाहुबल, नहिं खरचन को दाम ।
मोसम पतित पतंग की, तुम पत राखौ राम ॥

राम-सदन

काम क्रोध मद मान न मोहा । लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥
जिन्हके कपट दंभ नहिं माया । तिन्हके हृदय बसहु रघुराया ॥
सबके प्रिय सबके हितकारी । दुख-सुख सरिस प्रसंसा गारी ॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन विचारी । जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥
तुमहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं । राम बसहु तिनके मन माहीं ॥
जननी सम जानहिं पर नारी । धन पराय विषतें विष भारी ॥
जे हरषहिं परसंपति देखी । दुखित होहिं परबिपति बिसेखी ॥
जिन्हहिं राम तुम प्रानपियारे । तिन्हके मन सुभ सदन तुम्हारे ॥
स्वामि सखा पितु मातुगुरु, जिन्हके सब तुम तात ।
मन-मंदिर तिन्हके बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात ॥

(रामचरित मानस से)

(राग काफी)

हमकाँ ओढ़ावे चदरिया, चलती की बिरिया ।
प्रान राम जब निकसन लागे, उलटि गईं दोउ नैन पुतरिया ॥ १ ॥
भीतर से जब बाहर आये, छूट गई सब महल अटरिया ॥ २ ॥
चार जने मिल खाट उठाइनि, रोवत ले चले डगर-डगरिया ॥ ३ ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, संग चली वह सूखी लकरिया ॥ ४ ॥

(राग सोरठ)

ऐसो को उदार जगमाहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर, राम सरिस कोउ नाहीं ॥ १ ॥
जो गति जोग बिराग जतन करि, नहिं पावत मुनि ज्ञानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ, प्रभु न बहुत जियजानी ॥ २ ॥
जो संपति दस सीस अरपि करि, रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो सम्पदा विभीषन कहँ अति, सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥ ३ ॥
'तुलसिदास' सब भाँति सकल सुख, जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन, करहिं कृपानिधि तेरो ॥ ४ ॥

(राग गौरी)

श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन, हरण-भव-भय दारुणं।
नवकञ्ज-लोचन, कञ्जमुख, कर-कञ्ज पद कञ्जारुणं ॥ १ ॥
कन्दर्प-अगणित-अमित-छवि, नव-नील-नीरज सुन्दरं।
पटपीत मानहुँ तड़ित रुचि शुचि नौमि जनक-सुता वरं ॥ २ ॥
भजु दीनबन्धु दिनेश दानव-दैत्य-वंश-निकन्दनं।
रघुनन्द आनन्द-कन्द कोसल-चन्द्र दशरथ-नन्दनं ॥ ३ ॥
शिर मुकुट कुण्डल तिलक चारु, उदार-अङ्ग-विभूषणं
आजानु भुज-शर-चाप-धर, संग्राम-जित खरदूषणं ॥ ४ ॥
इति वदति तुलसीदास, शंकर-शेष-मुनि-मन-रञ्जनं।
मम हृदय-कञ्जनिवास करु, कामादि-खल-दल-गञ्जनं ॥ ५ ॥

महाप्रयाण से पहले का पत्र

महात्मा गान्धीजी ने जीवन में अनेक भाव पूर्ण पत्र लिखे हैं, उन सबको देना कठिन है। यहाँ पर उनके अन्तिम जीवन से पहले अन्तिम पत्र की प्रतिलिपि दी जाती है, जो गौरव की वस्तु है।

अंतिम पत्र

१६।१।४८
नई दिल्ली

भाई शंकरजी !

तुम्हारी पुत्री सुलोचना के स्वर्गवास की खबर चि० किशोरलाल ने दी। मुझे कुछ भी पता नहीं था। मैं क्या लिखूँ। तुमको आश्वासन क्या देना था। मृत्यु मित्र सच्चा है। हमारे अहंभाव हमको दुःख देता है। सुलोचना की आत्मा तो कल थी आज है और भविष्य में रहेगी। शरीर को जाना ही है, सुलोचना अपने दोष लेकर गई, गुण रख गई है—उसे हम न भूलें। फर्ज अदा करने में और सावधान बनो !

बापू का आशीर्वाद

गांधी महाराज

गान्धि महाराजेर शिष्य केउ बा धनी केउ बा निःस्व,
एक जायगाय आछे मोदेर मिल,
गरिब मेरे भराई ने पेट, अमीर कांछे हइ ने तो हैंट,
आतके मुख हय ना कभु नील।
पगड़ा जखन आसे तेड़े ऊँचिये घुषि डाएडा नेड़े
आमरा हेसे बलि जोयानटाके,
ए जे तोमार चोख रांगानो खोका बाबूर घूम भागानो
भय न पेले भय देखावे काके।
सिधे भाषाय बलि कथा, स्वच्छ ताहार सरलता,
डिप्लमेसिर नाइको असुविधे;
गारदखानार आइनटा के खूँजते हय ना कथार पाके,
जेलेर द्वारे जायसे निये सिधे।
दले दले हरिण बाड़ि चलल जारा गृह छाड़ि
धूचले ताहरे अपमानेर शाप,

चिर कालेर हातकडि जे धूलाय खसे पड़ल निजे,
लागल भाले गान्धी राजेर छाप।

—रवीन्द्रनाथ टाकुर

उपरोक्त कविता का अनुवाद

'गांधी महाराज के जो शिष्य हैं, उनमें कोई धनी है कोई निर्धन। एक जगह हमारा मेल है। हम गरीब को मार कर पेट नहीं भरते, और न हम अमीर के सामने सिर झुकाते हैं। न किसी के आतंक से हमारा मुँह नीला पड़ जाता है। जब सिपाही दौड़ कर आते हैं, घूँसा उठाकर और डंडा घुमा कर, तो हम इन मर्दों से कहते हैं—ये जो तुम्हारी आँखें लाल हो रही हैं ये केवल बच्चों की आँखों से नींद भगाने मात्र के लिए ही हैं, हम डरेंगे नहीं तो तुम किसे डर दिखाओगे? मैं सीधी भाषा में बात कहता हूँ कि उनकी सरलता स्वच्छ है। इसमें डिप्लोमेसी की कोई असुविधा नहीं है। जेलखाने के कानून को ये लोग बात के पेंच निकाल कर नहीं देखते। वे तो इसे सीधे जेल के द्वार तक ले जाते हैं। जब दल बाँध-बाँध कर हिरन घर छोड़-छोड़ कर चल पड़े तो उनके लिए अपमान का अभिशाप खत्म हो गया। जो चिरकाल की हथकड़ी है वह तो आप ही आप खुल कर धूल पर गिर पड़ी, और उनके माथे पर गांधी राज की छाप लग गई।'

महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी का पूरा नाम मोहनदास कर्मचन्द गाँधी था। इनका जन्म आश्विन बदी १२ सं० १६२५ वि० अर्थात् २ अक्टूबर सन् १८६६ ई० को पोरबन्दर अथवा सुदामापुरी में हुआ था। इनका बचपन प्रायः वहीं बीता।

इनके दादा, पितादि काठियावाड़ के भिन्न-भिन्न राज्यों में दीवानगीरी करते आये। इनके पिता कबागाँधी और माता पुतलीबाई थीं। गुजरात

काठियावाड़ में पंसारी को गाँधी कहते हैं। यह कौन जानता था कि इस जाति का एक पुरुष विश्ववन्द्य गाँधी बनकर अपना जीवन अमर कर जायगा।

महात्माजी बचपन से ही तर्कशील बुद्धि के थे। इनकी अटूट श्रद्धा पिता और माता में थी। यही कारण था कि ये आचार-विचार में धार्मिक, सत्य के अनुयायी और सदा परोपकार में दत्त चित्त रहते थे।

यहाँ के पश्चात् उन्होंने विलायत जाकर बैरिस्टरी की शिक्षा प्राप्त की। वहाँ भी अपने को दुर्व्यसनों से बचाया। वहीं से इनके मन में अपने देश की सेवा का भाव उदय हुआ। दलित, पीड़ित और गिरी हुई मानवता को उठाने में इनकी शक्ति बढ़ती ही गई। दक्षिण अफ्रीका के कार्यों के कारण गाँधीजी का नाम बढ़ा। सत्य, अहिंसा के सिद्धान्त एवं असहयोग-सत्याग्रह के प्रवर्तन से संसार भर में गाँधीजी की विख्याति हुई। इन्होंने रक्तरहित क्रान्ति के द्वारा अंग्रेजों को भारत से बाहर कर दिया। स्वराज्य प्राप्ति में महात्माजी का पूरा हाथ था।

अन्त में ३० जनवरी सन् १६४८ ई० को दिन में ५ बजे प्रार्थना-सभा में दिल्ली में जाते हुए एक युवक नाथूराम गोडसे ने महात्माजी को गोली मार दी। महात्माजी राम! राम! कहकर स्वर्ग सिधारे। इस समय भारत ही नहीं, समस्त संसार में हाहाकार मच गया। महाशोक सागर उमड़ पड़ा। अनेक प्रतिष्ठित हृदयों से दुःख के उद्गार निकले। उनमें से कुछ यहाँ दिये जाते हैं।

सन्त का महाप्रयाण

"राम ! राम !"

जब गान्धीजी प्रार्थनासभा के बीच से रस्सियों से घिरे रास्ते में चलने लगे, उन्होंने प्रार्थना में शामिल होनेवाले लोगो के नमस्कारों का जवाब देने के लिए लड़कियों के कंधों पर से अपने हाथ उठा लिए। एकाएक भीड़ से कोई दाहिनी ओर से भीड़ को चीरता हुआ उस रास्ते पर आया। छोटी मनु ने यह सोचा कि वह आदमी बापू के पाँव छूने को आगे बढ़ रहा है। इसलिए उसने उसको ऐसा करने के लिए झिड़का, क्योंकि प्रार्थना के पहले ही काफी देर हो चुकी थी। उसने रास्ते में आनेवाले आदमी का हाथ पकड़कर उसे रोकने की कोशिश की, लेकिन उसने जोर से मनु को धक्का दिया, जिससे उसके हाथ की आश्रम-भजनावली, माला और बापू का पीकदान आदि नीचे गिर गये। ज्योंही वह बिखरी हुई चीजों को उठाने के लिए झुकी, वह आदमी बापू के सामने खड़ा हो गया—इतना नजदीक खड़ा था कि पिस्तौल से निकली हुई गोली का खोल बाद में बापू के कपड़ों की पर्त में उलझा हुआ मिला। सात कारतूसों वाली ऑटोमेटिक पिस्तौल से जल्दी-जल्दी तीन गोलियाँ छूटीं। पहली गोली नाभी से ढाई इञ्च ऊपर और मध्य-रेखा से साढ़े तीन इञ्च दाहिनी तरफ पेट की दाहिनी बाजू में लगी। दूसरी गोली मध्य-रेखा से एक इञ्च की दूरी पर दाहिनी तरफ घुसी और तीसरी गोली छाती की दाहिनी तरफ लगी। पहली और दूसरी गोली शरीर को पारकर पीठ से बाहर निकल आयी। तीसरी गोली उनके फेफड़े में ही रुकी रही। पहले वार में उनका पाँव जो गोली लगने के वक्त आगे बढ़ रहा था, नीचे आ गया। दूसरी गोली छोड़ी गयी तबतक वह अपने पाँवों पर ही खड़े थे और उसके बाद वह गिर गये। उनके मुँह से आखिरी शब्द "राम-राम" निकले। उनका

चेहरा राख की तरह सफेद पड़ गया। उनके सफेद कपड़ों पर गहरा सुर्ख धब्बा फैलता हुआ दिखाई पड़ा। उनके हाथ जो सभा को नमस्कार करने के लिए उठे थे, धीरे-धीरे नीचे आ गये, एक हाथ आभा के गले में अपनी स्वाभाविक जगह पर गिरा। उनका लड़खड़ाता हुआ शरीर धीरे से ढुलक गया और सिर्फ तभी घबराई हुई मनु और आभा ने महसूस किया कि क्या हो गया है।

मैं दूसरे दिन नोआखाली जाने की अपनी तैयारी पूरी करने के लिए शहर गया और वहाँ से तुरत ही लौटा था। प्रार्थना-सभा के मैदान तक बनी हुई पत्थर की कमानी के नीचे भी मैं नहीं पहुँच पाया था कि श्री चन्द वानी सामने से दौड़ते हुए आये। उन्होंने चिल्लाकर कहा—"डाक्टर को फोन करो। बापू को गोली मार दी गई है।" मैं पत्थर की तरह जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया। जैसे कोई बुरा सपना देखा हो। मशीन की तरह मैंने किसी के द्वारा डाक्टर को फोन करवाया।

राष्ट्रपिता के प्रति—श्री जवाहरलाल नेहरू की श्रद्धांजलि

—हमारा जीवनप्रकाश लुप्त हो गया है और चारों ओर अन्धकार है। मैं नहीं जानता कि आप लोगों से क्या कहूँ और कैसे कहूँ? हमारे प्रिय नेता और राष्ट्रपिता जिन्हें हम बापू कहते थे अब नहीं हैं। शायद मैं गलत कह रहा हूँ। पर, जिन्हें हम कितने ही वर्षों से देखते आये थे उन्हें हम फिर न देख पायेंगे और यह सिर्फ मेरे लिए ही नहीं, इस देश के असीम जन-समुदाय के लिए सांघातिक आघात है। और इस आघात की पीड़ा कम करने के लिए मेरा या और किसी का कुछ कहना बड़ा कठिन है।

मैंने कहा, प्रकाश चला गया, पर मैंने गलती की। क्योंकि वह प्रकाश जो इस देश में चमकता रहा, साधारण प्रकाश नहीं था। जिससे देश इतने वर्षों तक प्रकाशित होता रहा, वह प्रकाश अभी भी कितने ही वर्षों

तक उसे उज्ज्वल करता रहेगा और हजारों वर्ष बाद भी यह प्रकाश इसे देश और विश्व को दृष्टिगोचर होता रहेगा और इससे असंख्य हृदयों को शान्ति मिलेगी। क्योंकि यह ज्योति सुदूर भविष्य की भी द्योतक थी; इसमें जीवन-सत्य—शाश्वत सत्य की झलक थी जिसने हमें उचित मार्ग दिखलाया, गलती से दूर रखा और देश को स्वतन्त्रता तक पहुँचाया।

यह दुर्घटना ऐसे समय हुई है जब उन्हें अभी भी बहुत कुछ करना था। हम यह सोच भी नहीं सकते थे कि हमें अब उनकी आवश्यकता नहीं है या उनका कार्य समाप्त हो गया है। लेकिन आज जब हमारे सामने दुरूह कठिनाइयाँ हैं उनका हमारे बीच न रहना हमारे लिए असह्य आघात है। नयी दिल्ली।

—प्रधान सचिव

सत्तर वर्ष के अपने जीवन का सिंहावलोकन करते हुए क्या कोई दूसरा जीवित पुरुष इतने महान कार्यों को देख सकेगा। उन्हें अक्सर तीखे-तीखे काँटे चुभाये गये। आइये, अब हम उन्हें कृतज्ञता के फूल चढ़ायें। —वाइकाउँट सेम्युअल

महात्मा गान्धी अपने जीवनकाल में तो एक महानपुरुष थे ही, अपनी मृत्यु में भी वे महान रहे। निस्सन्देह उन्होंने अपनी मृत्यु से भी अपने महान् लक्ष्य की सेवा की जिसकी वे जीवन भर करते रहे।

—जवाहरलाल नेहरू

राष्ट्र ने १३ दिन की शोक—अवधि में काफी अनुशासन और संयम का परिचय दिया। अब हमें तत्काल उनके द्वारा बताये गए राष्ट्र-निर्माण के क्षेत्र में उतर पड़ना चाहिए। —वल्लभभाई पटेल

आज मेरे गुरु, मेरे नेता और मेरे पिता—इस संसार में नहीं रहे। गान्धीजी विश्वमानव थे। ऐसे व्यक्ति कैसे मर सकते हैं? जिन्होंने अपने जीवन, आचरण, बलिदान, प्रेम, साहस आदि से जगत को शिक्षा दी कि आत्मा अमर है नकि शरीर। —सरोजिनी नायडू

जो कुछ गान्धीजी ने किया, वह उनको अमर बनाने के लिए संसार के सामने हमेशा बना रहेगा। वे सत्य और अहिंसा के बल पर विजयी हुए। —राजेन्द्रप्रसाद

हा, बापू आपकी हत्या से किसी को क्या मिला ?

—पुरुषोत्तमदास टंडन (स्पीकर युक्तप्रान्त)

एक नादान दीवाने ने हमारी सबसे बड़ी निधि हमसे छीन ली।

—राजगोपालाचार्य (गवर्नर बंगाल)

निस्सन्देह वे हिन्दू जाति के महानतम पुरुष थे और उन्हें उसकी अगाध श्रद्धा और आदर प्राप्त था। इस महान पुरुष की मृत्यु से जो स्थान शून्य हो गया है, उसकी पूर्ति बहुत कठिन है।

—कायदे आजम जिन्ना (गवर्नर जेनरल पाकिस्तान)

इन अन्धकारपूर्ण दिनों में गान्धीजी हमारे लिए एक प्रकाश-किरण के समान थे। उनके सत्य, प्रेम, अहिंसा की भावना हमारा मार्ग-प्रदर्शन करती रहेगी। —अब्दुल गफ्फार खाँ (सीमान्त गान्धी)

पूरब ने एक महान नेता खो दिया और दुनिया एवं मानवता ने अपना एक महान पथ-प्रदर्शक खोया। —फारूख (बादशाह मिस्र)

दुनिया का सर्वश्रेष्ठ पुरुष चल बसा।

—आजम पाशा (प्रधानमन्त्री अरब)

गाँधीजी की मृत्यु से भारत और समस्त मानवता की महान क्षति हुई जिसकी पूर्ति असंभव है। —सम्राट्-सम्राज्ञी

जिस महान् सन्त ने अहिंसात्मक उपायों द्वारा शान्ति स्थापना का मार्ग बताया, वह हिंसा का लक्ष्य बना —च्यांगकाई शेक (चीन)

गाँधीजी जीवनमुक्त और बन्धनमुक्त जीवन के मंत्रदाता थे। मानवता उनसे फूलती फलती रही। —राधाकृष्णन्

मेरे केवल दो ही बली थे—ईश्वर और बापू— —मीरा बेन

फूलों में से बापू का चेहरा ही दीखता था। मैंने उनकी छाती पर अपना शिर रख दिया। —सुशीला नायर

बापू जैसी विशाल और सुन्दर छाती किसी सिपाही की भी न होगी। उनका छोटा दुपट्टा जो कन्धे पर डाले रहते थे—खून से भरा हुआ था, जब सब कपड़े हटा लिये गये, उनकी प्रसिद्ध धोती के सिवा कुछ न बचा तब हमलोग अपने को न सँभाल सके। —देवदास गाँधी

मैं पिलानी में था। वहीं बापू के मारे जाने का समाचार मिला। रात में नींद न आई। स्वप्न देखा कि मैं दिल्ली गया, वहाँ सुशीला, प्यारेलाल आदि भी हैं। मैंने प्रणाम किया। बापू उठ बैठे। बोले, अच्छा हुआ। तुम आ गये। यह नादान का काम नहीं। इसमें गहरा षड्यंत्र था—मैं तो अब प्रसन्नता के मारे नाचूँगा। मेरा काम तो अब समाप्त हो गया। कुछ बात कर सो गये। फिर घड़ी देखकर बोले कि अब ११ बजे। अब तुम लोग श्मशान ले जाओगे। बस, फिर कुछ न देखा।

—घनश्यामदास बिड़ला

नेताजी सुभासचन्द्र बोस

वंगवीर नेताजी सुभासचन्द्रबोस से कौन परिचित नहीं। उन्होंने भारतीय इतिहास में अपने नाम को सुवर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य बना दिया। भारतमाता अपने जिन नवयुवक सपूतों पर गर्व कर सकती है उनमें सुभासबाबू अद्वितीय थे।

इनके पिता का नाम था जानकीनाथ बसु और [illegible] देवी। उनके पास जमींदारी थी। वे कटक (बंगाल) के निवासी थे। इनके पिताजी वकालत करते थे। माताजी बड़ी सुशीला स्त्री थीं। इस दम्पति को १२ बच्चे (८ पुत्र और ४ कन्या) हुए।

इनमें सुभासबाबू भी एक थे। इनका जन्म २३ जनवरी सन् १८६७ ई० में हुआ। ये बचपन से कुशाग्र बुद्धि थे। आठ वर्ष की आयु में ही इन्होंने अपने देश को स्वतंत्र कराने का भाव प्रकट किया। मैट्रिक परीक्षा पास कर कलकत्ता प्रेसीडेंसी कालेज में भरती हुए। १७ वर्ष की अवस्था में स्वामी विवेकानन्द का व्याख्यान "वीरों! हिमालय तुम्हें पुकार कर कह रहा है कि मेरे पास आओ और योगसाधन करो" सुनकर हिमालय भ्रमण को गये। वहाँ से लौटकर उन्होंने कालेज में बी० ए० पास किया फिर विलायत में आई० सी० एस० में उत्तीर्ण हुए।

भारत में सत्याग्रह के कर्णधार गाँधीजी ने असहयोग का बिगुल बजाया था। उससे आकर्षित होकर देशभक्त सुभासबाबू राजनीतिक क्षेत्र के संघर्ष में कूद पड़े और उत्तरोत्तर बढ़ते गये। इन्होंने बार-बार जेल की यातनाएँ सहीं, पर निराश न हुए। इन्होंने अपने देश-प्रेम के कारण अभूतपूर्व स्वार्थ-त्याग किया। ब्रिटिश सरकार के फौलादी पंजे से कभी न डरे। इनकी लोकप्रियता जीवनभर बढ़ती ही गई। गाँधीजी के प्रति अटूट श्रद्धा रखने पर भी अपने सिद्धान्त में स्वतंत्र थे। ये क्रांति, विदेशी सहानुभूति और बल प्रयोग द्वारा अंग्रेजों को भारत से निकाल देने के पक्ष में थे। इनका मत था कि जो जैसा करे, उसके प्रति वैसा करना पाप नहीं।

इनके उग्र विचार के कारण सरकार ने इनको राजद्रोही मानकर कारागार आदि संरक्षण में रखा। ता० १४ दिसम्बर सन् १९४० ई० को ये छिपकर सरहद तक पहुँच गये। उन्होंने अपना नाम जियाउद्दीन रखा और दाढ़ी होने से पठानी वेश बना लिया था। काबुल आदि होते हुए जर्मनी पहुँचकर हर-हिटलर से मिले और भारत की स्वाधीनता का प्रस्ताव सूचित किया। इसके पश्चात् प्रवासी भारतीयों और सैनिकों को संगठित कर एक आजाद-हिन्द फौज की रचना कर डाली। इसमें ब्रिटिश विरोधिनी शक्तियों का सुन्दर समन्वय था। एक सेना संगठित होने पर सिंगापुर में सुभासबाबू अध्यक्ष बनाये गये। यहीं से भारत की आजादी की

लड़ाई घोषित की गई। वह संस्मरणीय दिवस ४ जुलाई सन् १९४२ का था। यहीं से उनका नाम नेताजी पड़ा, जो आजकल विख्यात हो रहा है। अन्त में जापानी सहायता न मिलने के कारण आजाद-हिन्द फौज की लड़ाई बन्द कर दी गई। एक दिन जापानी रेडियो से खबर आई कि "हवाई जहाज से टोकियो जाते समय दुर्घटना के कारण सुभासबाबू घायल होकर अस्पताल भेजे गये और रात में वहाँ उनकी मृत्यु हो गई।" जो भी सच हो, पर इतना तो हम अवश्य कहेंगे कि नेताजी सुभासचन्द्रबोस ने भारत की आजादी के यज्ञ में बहुत बड़ी आहुति दी।

नेताजी सुभासचन्द्र बोस

प्रिय पाठक और पाठिकाओ! ऐसे त्यागी-देशभक्त आत्माओं की अमर कहानियाँ पढ़कर अपने जीवन को भरसक तदनुरूप आदर्श तथा उच्च बनाना ही वास्तविक प्रेम है।—सम्पादक

नेताजी का ऐतिहासिक पत्र

[श्री शरच्चंद्र बसु बैरिस्टर-एट-लॉ के पास]

इनसिन सेंट्रल जेल
४ अप्रैल १९२७

पूज्य दादा,

आप यह जानने के लिये चिंतित होंगे कि आनरेबुल मि० मार्बले के प्रस्ताव के सम्बन्ध में मेरे क्या विचार हैं। अब समय आ गया है कि इस विषय में अपने जी का भार मैं हलका कर दूँ। शायद आपके विचार से मेरा विचार न मिले, पर अपनी राय मैं प्रकट कर दे रहा हूँ।

मैंने आनरेबुल मेंबर के वक्तव्य को कई बार खूब गौर से पढ़ा है। इसके अक्षर-अक्षर पर गंभीरतापूर्वक मैंने सोचा है, जिसके संबंध में मैं इतना अवश्य कहूँगा कि बड़ी सावधानी से लिखा गया है। उनके प्रस्ताव की अच्छाई और बुराई आँकने में मैंने काफी समय लगाया है और अपने

निर्णय पर पहुँचने में मैंने जल्दीबाजी नहीं की है। इस समय जो मेरे विचार हैं, वे मैं आपसे जाहिर करने जा रहा हूँ। मेरे ये विचार बहुत देर के मनन-चिंतन के बाद स्थिर किये गये हैं; लेकिन फिर भी मैं उन वाकयातों और तर्कों पर पुनर्विचार कर अपने फैसले को बदलने को तैयार हूँ, जो मेरी नजरों से छूट गये हैं।

कुछ कहने के पहले मैं आनरेबुल मेंबर के वक्तव्य की स्पष्टवादिता की तारीफ किये बिना नहीं रह सकता और अपने कर्तव्य से चूकूँगा यदि मैं भी वैसा ही स्पष्टवादी न बनूँ। किसी बात को स्पष्ट कह देना मेरी आदत है और मेरा विश्वास है कि साफ-साफ बात कहने से अन्त में लाभ ही होता है। आनरेबुल मेंबर के वक्तव्य में कुछ बातें ऐसी हैं, जिनके लिए मैं उन्हें धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता। उन्होंने कहा है कि बीती बातों को स्वीकार करने के सिवा, आगे के लिए किसी शर्त को मानने के लिए वे नहीं कहेंगे—वे मुझे रिहा कर देंगे, यदि मैं केवल अपनी जबान दे दूँ। अन्त में यह भी कहा है कि उन्होंने यह प्रस्ताव पहले नहीं रक्खा; क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि मैं यह महसूस करूँ कि यह बात मुझपर जबर्दस्ती लादी जा रही है। इन बातों से उन्होंने भद्रता और आत्मसम्मान की मेरी भावनाओं की ओर काफी सहानुभूति प्रदर्शित की, और यद्यपि इस प्रस्ताव को स्वीकार करने में मैं अपने को असमर्थ पाता हूँ, जिसके कारणों का आगे चलकर उल्लेख करूँगा, परन्तु उस प्रस्ताव की सम्मानपूर्ण बातों की मैं अवश्य ही सराहना करता हूँ। साथ ही, कम से कम एक बात में माननीय मेंबर ने अन्य मेंबरों का भी विश्वास प्राप्त किया है उसका भी, धारा-सभा के सभासद की हैसियत से, स्वागत किये बिना मैं नहीं रह सकता। लेकिन शायद इस बात के साथ मैंने उस प्रस्ताव के पक्ष में कह सकनेवाली अन्तिम बात कह दी।

उस प्रस्ताव में एक खास बात है, जिसके विषय में मैं कुछ कहना चाहूँगा। छोटे दादा ने जो रिपोर्ट की है या सिफारिश की है, बिना मेरी

सलाह के और मुझसे बातचीत होने के पहले कही है। यदि उन्होंने पहले ही मुझसे सलाह ली होती तो मैं इस प्रकार की सिफारिश पर आक्षेप करता और जब बाद में उन्होंने मुझे बताया तब मैंने उसी समय इस प्रकार के कार्य के औचित्य पर शंका की थी—अब मालूम होता है कि मेरी बात बिलकुल उचित थी। निस्संदेह, छोटे दादा एक रोगी की तरह मेरी परीक्षा करके और डाक्टर की हैसियत से उसपर अपनी राय जाहिर करने आये थे और मेरी समझ में उन्होंने अपना कर्तव्य वैज्ञानिक पक्षपात रहित तथा पेशे के अनुकूल निर्भयता के साथ पूरा किया। अपनी सिफारिश की राजनीतिक व्याख्याओं से या इस बात से कि आया सरकार उसे अपना राजनैतिक अस्त्र बनायेगी, उन्हें कोई सरोकार नहीं था। कोई भी व्यक्ति, जिसमें मैं भी शामिल हूँ, रोग के निदान के अलावा किसी अन्य बात का खयाल न करने तथा अपनी सिफारिशों के राजनीतिक परिणामों की ओर उपेक्षा करने के कारण, उन्हें दोष नहीं दे सकता। उन्होंने मेरे संबंध में भी वही सलाह दी, जो वह किसी दूसरे रोगी के संबंध में देते और उन्होंने मुझे बताया कि चूँकि उनके कई रोगी स्विट्-जरलैंड सेनिटोरियम के इलाज से अच्छे हो चुके हैं; इसलिये वे खर्च बर्दाश्त कर सकनेवाले रोगियों को वहीं जाने की राय देते हैं; इससे यह स्पष्ट है कि किसी भी प्रस्ताव से सहमत होने के लिये मैं बाध्य नहीं हूँ।

मालूम होता है कि सरकार छोटे दादा के निदान से सहमत नहीं है—यद्यपि वह उनकी सिफारिश से फायदा उठाने को तैयार है—क्योंकि माननीय मेंबर ने कहा है कि "यह स्पष्ट है कि इस समय श्री सुभाषचंद्र बसु की हालत खतरनाक नहीं है और उनकी शक्ति का ह्रास तो निश्चय ही नहीं हुआ है।" किस समय सरकार मेरी हालत खतरनाक समझेगी या मुझे निःशक्त समझेगी, यह भी एक दिलचस्प बात है। क्या तब जब डाक्टर लोग मेरी बीमारी को असाध्य बतायेंगे और मेरी मौत को चंद दिनों की बात घोषित करेंगे। इसके अलावा, यदि सरकार छोटे

दादा की सिफारिश को स्वीकार नहीं करती तो फिर वह उनकी सिफारिश को, जो कहने मात्र ही के लिए उनकी सिफारिश है, क्यों स्वीकार करने के लिए उत्सुक है ? छोटे दादा की रिपोर्ट यह नहीं कहती कि यात्रा के पहले घर जाकर अपने लोगों से मिलने न दिया जाय ; न उनका यह तात्पर्य है कि जिस जहाज से मैं सफर करूँ, वह भारत के किसी भी बंदर पर अपना लंगर न डाले ; न उसका यही तात्पर्य है कि तंदुरुस्त हो जाने पर भी बंगाल क्रिमिनल लॉ एमेंडमेंट ऐक्ट के खतम होने के पहले मैं भारत न लौटूँ । इन सब बातों से मुझे शंका होती है कि क्या वास्तव में सरकार की मंशा मुझे अपनी तंदुरुस्ती सुधारने का अवसर देने की है ?

माननीय मेंबर ने कहा है कि मेरे विषय में दो ही बातें हैं (१) मैं जेल में बंद रहूँ या (२) विदेश में अनिश्चित काल तक अपना इलाज कराऊँ । क्या दोनों के बीच का कोई रास्ता नहीं है ? मुझे इसका विश्वास नहीं ।

बंगाल सरकार चाहती है कि मैं क्रिमिनल लॉ एमेंडमेंट ऐक्ट समाप्त होने तक विदेश में रहूँ, जिसके मानी हैं जनवरी १९२० तक । लेकिन कौन कह सकता है कि उसे एक साल का जीवन और न दिया जायगा और वह १९३० में भी जारी न रहेगा । अक्तूबर १९३० में मैंने श्री लोमैन डी. आई. जी, आई. बी, सी, आई डी से भी बातचीत की थी ; उससे तो मुझे कोई अच्छे आसार नहीं नजर आये और मुझे कुछ भी आश्चर्य न होगा यदि १९२९ में १९२५ के बंगाल के क्रिमिनल लॉ एमेंडमेंट ऐक्ट को स्थायी कानून का स्वरूप देने का प्रयत्न किया जाय । उस हालत में मुझे हमेशा के लिए अपने घर से विदा होना पड़ेगा, और इस प्रकार अपने ही हाथों अपने को सदा के लिए निर्वासित करने के लिए मैं किसी दूसरे को कुछ भी कह न सकूँगा । यदि इस संबंध में सरकार की नीयत साफ होती तो वह मेरे विदेश में रहने का कोई समय निश्चित कर देती ।

इसके अलावा मैं यूरोप में किस हद तक आजाद रहूँगा, इसका भी कोई आश्वासन नहीं दिया गया है। अगणित जासूसों से, जो स्विट्जरलैंड में अड्डा जमाए रहते हैं, क्या सरकार मुझे सुरक्षित रक्खेगी?

इसमें तो शक ही नहीं कि मैं संदेह की दृष्टि से देखा जाता हूं और तब तक उन्हीं नजरों से देखा जाऊँगा, जब तक मैं अपना रुख बदलकर पुलिस का गोइंदा न बन जाऊँ। बहुत संभव है कि पग-पग पर मँड़राने वाले ये जासूस मेरी जिंदगी दुश्वार बना दें। जहाँ तक मेरा खयाल है, स्विट्जरलैंड में सरकार के काम में केवल अँगरेज ही नहीं, वरन् इटालियन, फ्रेंच, जर्मन तथा भारतीय जासूस भी हैं, और उन्हें मेरे संबंध में झूठी रिपोर्टें भेजने से, ताकि मैं सरकार की निगाहों पर और भी चढ़ जाऊँ, कोई भी नहीं रोक सकता। मेरे ये वास्तविक विचार हैं, और मैंने गत वर्ष श्री लोमैन से, जब मैं उनसे मिला था, इसे प्रकट भी किया था कि खुफिया विभाग के लिए किसी राजनीति से संबंध रखनेवाले व्यक्ति के विरुद्ध एक झूठी कहानी गढ़ लेना, जिसमें वह आर्डिनेंस के अन्दर रोका जा सके, बहुत ही आसान है। और उन संदेहात्मक व्यक्तियों के विषय में, जो कुछ दिनों से योरोप में जाकर रहते हैं, तो यह बात और भी सच्ची है। कोई आदमी सहज ही यह नहीं भूल सकता कि किस प्रकार के संदेहात्मक व्यक्तियों को वापस स्वदेश लौटने के लिए पासपोर्ट हासिल करने में कितनी कठिनाई होती है। लाला लाजपतराय सरीखे उच्च श्रेणी के नेता भी, उनके बहुत से प्रभावशाली पार्लमेंट के मैंबरों, जिनमें कुछ मिनिस्टर भी रह चुके थे, की मदद से ही स्वदेश लौट सके। मैं तो सरकार का चालानी आदमी हूँ; मुझे जो दिक्कत होगी, उसकी सहज ही में कल्पना की जा सकती है।

साथ ही इन अति उत्साही खुफिया पुलिसों के मुकाबले तो मैं अपने को इतना बेबस पाता हूँ कि मुझे विश्वास है कि जितना भी सतर्क रहूँ—यहाँ तक कि किसी हद तक दब्बू बन जाऊँ—मैं अपने खिलाफ रिपोर्ट

होने से नहीं बच सकूँगा। और उससे भी दुखदायी बात तो यह होगी कि मेरे बारे में क्या रिपोर्टें भेजी जा रही हैं, उन्हें जानने का मेरे पास कोई साधन नहीं रहेगा। अपने कार्यों तथा मुझसे संबंध रखनेवाली घटनाओं, जो बिलकुल बेसिर-पैर की होंगी, की सफाई देने का भी मुझे अवसर नहीं दिया जायगा। और बहुत संभव है कि १९२९ समाप्त होने के पहले भारत सरकार को एक अत्यधिक खतरनाक बोलशेविक के रूप में मेरा वर्णन किया जायगा (क्योंकि योरोप में इस समय सबसे बड़ा हौआ बोलशेविज्म ही है), जिसके परिणाम-स्वरूप या तो मुझे भारत लौटने ही से रोक दिया जायगा या अगर आ भी जाऊँ तो फिर गिरफ्तार कर लिया जाऊँगा। अपनी ही मातृभूमि से निर्वासित होने की मेरी कोई इच्छा नहीं है और मैं चाहता हूँ कि सरकार इस प्रश्न को मेरे पहलू से देखे।

यदि बोलशेविकों का एजेंट होने की मेरी थोड़ी इच्छा भी होती तो मैं इस प्रस्ताव पर अत्यन्त प्रसन्न होता और पहले ही जहाज से योरोप की यात्रा करता। स्वास्थ्य ठीक हो जाने पर उस मस्त टोली में शामिल हो जाता, जिसके लोग पेरिस से लेनिनग्रेड तक जागतिक क्रांति की बातें करते हुए विचरण करते रहते हैं और अपने कारखानों में आग उगलते रहते हैं। लेकिन मेरी ऐसी कोई इच्छा नहीं है।

जब पढ़ा कि मैं भारत, ब्रह्मा या लंका नहीं लौट सकूंगा तो मेरे कान खड़े हुए और विचार करने लगा—"क्या मैं भारत में ब्रिटिश सत्ता के लिये इतना खतरनाक हूँ कि मेरा बंगाल से निर्वासन पर्याप्त नहीं समझा जाता; या यह सब एक मखौल है? यदि पहली बात सच है, तब तो किसी भी राष्ट्रिय नेता के लिये यह बड़े गौरव की बात है कि उसे नौकरशाही इतना बुरा समझती है। किन्तु जब वास्तविकता पर उतरा हूँ और अपने गिरफ्तारी के पूर्व के कार्यों की समीक्षा करता हूँ, तब इस निश्चय पर पहुँचता हूँ कि मेरा राजनैतिक जीवन उतना सुर्ख या भयानक नहीं है; जितना कुछ स्वार्थी और काले हृदय के लोगों ने सरकार को बताया

है। मैंने बंगाल के बाहर कोई राजनैतिक कार्य नहीं किया है—अभी कुछ साल तक ऐसा करने की मेरी इच्छा भी नहीं है; क्योंकि बंगाल का क्षेत्र मेरे और मेरी महात्वाकांक्षाओं के लिये काफी विस्तृत है। मैं नहीं समझता कि किसी अन्य व्यक्ति या सरकार ही को, (भारत सरकार या अन्य किसी प्रांतीय सरकार) बंगाल सरकार के अलावा, मेरे विरुद्ध कोई शिकायत हो सकती है। जहाँ तक मुझे स्मरण है, गत ६ वर्षों में सिवा अपने कुटुम्बियों से भेंट करने या अ० भा० कां० क० या कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेने के, मैं बंगाल के बाहर भी नहीं गया हूँ।

तब फिर मुझे खतरनाक करार देकर भारत, ब्रह्मा या लङ्का में प्रवेश करने से रोककर अन्य सरकारों की नजरों में मुझे गिराने का क्या उद्देश्य है? लङ्का एक बृटिश उपनिवेश है और उसके सम्बन्ध में बंगाल सरकार या भारत सरकार मुझपर प्रतिबंध लगा भी सकती है, इस में भी मुझे शंका है।

अब बंगाल सरकार मेरी हालचाल पर नियंत्रण रखना चाहती है; लेकिन जब मैं स्वतंत्र था, तब मैं बहुत ही कम हरकतें करता था। अक्तूबर १९२३ से अक्तूबर १९२४ के बीच में केवल दो ही बार कलकत्ता के बाहर गया हूँ—पहली बार खुलना जिला राजनैतिक सम्मेलन में भाग लेने और दूसरी बार एक कौंसिल के उम्मीदवार के लिये नदिया जिला में चुनाव के लिये भाषण देने। और, फरवरी १९२४ से अक्तूबर १९२४ के बीच तो शायद मैं कलकत्ता के बाहर गया ही नहीं। सूराजगंज सम्मेलन के साथ मेरा नाम जोड़ने के सब प्रयत्न व्यर्थ और द्वेषपूर्ण हैं; क्योंकि ठीक जब कानफरेंस का अधिवेशन हो रहा था, मैंने चीफ इक्जिक्यूटिव आफिसर का पद स्वीकार किया था और मेहतरों की हड़ताल होने में रोकने के प्रयत्न में था। मुझे इतना समय ही नहीं था कि मैं एक दिन के लिये भी कलकत्ता छोड़ूँ। १९२४ की मई और अक्तूबर के बीच की मेरी कारवाइयों का जिक्र करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि लोग

उन्हें अच्छी तरह से जानते हैं। मेरी गिरफ्तारी के पहले की मेरी हरकतों को सरकार अच्छी तरह जानती थी और यदि मेरी हरकतों पर नियंत्रण ही रखना था तो मेरी गिरफ्तारी की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

माननीय मेंबर के प्रस्ताव का एक पहलू तो मुझे खास तौर से हृदय-हीनता से भरा मालूम होता है। सरकार मानती है कि लगभग २॥ वर्ष से मैं अपने संबंधियों—माता-पिता भी – हैं, से नहीं मिला हूँ। इस पर भी वे कहते हैं कि उनसे मिलने का अवसर प्राप्त किये बगैर ही २॥ या तीन साल के लिये मैं विदेश चला जाऊँ। यह मेरे साथ तो ज्यादती है ही; किंतु और भी ज्यादा उनके साथ है, जिन्हें मेरे लिये प्रेम है, और बेशक उनकी संख्या कम नहीं है। पश्चिमी लोग सहज में इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि पूरबवाले लोग अपने संबंधियों के प्रति कितना आकर्षण रखते हैं। और, शायद सरकारी प्रस्ताव के इस अंश का, जिसे मैं अत्यधिक हृदयहीन समझता हूँ, मुख्य कारण यही अज्ञान है, हृदयहीनता नहीं। यह विचार ठीक पश्चिमी दृष्टिकोण का परिचायक है कि चूँकि मैंने विवाह नहीं किया है, अतएव मेरे कोई कुटुम्ब नहीं है और न किसी के लिये मेरे चित्त में आकर्षण ही है।

सरकार ने गत २½ साल से जो क्लेश पहुँचाया, उसे वह, मालूम होता है, बिलकुल भूल गयी है। अत्याचार-पीड़ित पक्ष मेरा है, उसका नहीं। मुद्दत तक उसने मुझे बिना किसी कारण के हिरासत में रक्खा। मुझे सिर्फ इतना ही बताया गया कि हथियार मँगाने, स्फटिक द्रव्य बनाने तथा पुलिस अधिकारियों की हत्या करनेवाले षड्यन्त्रकारी दल का मैं सभासद हूँ और मुझसे पूछा गया कि इस विषय में मैं क्या कहना चाहता हूँ। मैं नहीं समझता कि स्व० सर एडवर्ड मार्शल हॉल या सर जान साइमन भी अपनी सफाई में इससे अधिक क्या कहते कि "मैं निर्दोष हूँ।" ठीक मैंने यही कहा। जब दुबारा वही जुर्म मेरे सामने पेश किये गये, तब मैंने मन ही मन सोचा कि आखिर दुनिया के इतने आदमियों में

पुलिस मेरे ही पीछे इस तरह क्यों पड़ी है ?—मैं समझता हूँ, मैंने इसका काफी संतोषजनक कारण ढूँढ़ लिया था। मेरी गिरफ्तारी के बाद सरकार ने मुझे अपने आश्रितों के पोषण के लिये या अपनी व्यवस्था के लिये किसी प्रकार का एलाउएंस नहीं दिया है और अंत में जब मैंने वाइसराय से अपील की तब बंगाल सरकार ने उसे रोक लिया। अब सबसे कमाल तो यह है कि वह चाहती है कि मैं अपने को निर्वासित करूँ तथा योरोप में रहने के खर्चे का प्रबंध भी स्वयं कर लूँ। यदि और किसी भी जिम्मेदारी को सरकार नहीं मानती तो कम से कम उसे मुझे उसी हालत में रिहा करना चाहिये, जिसमें उसने सन् १९२४ में गिरफ्तार किया था, और यदि इस कैद की वजह से मेरा स्वास्थ्य खराब हो गया है तो उसे मुआवजा देना चाहिये। मेरे स्वास्थ्य को ठीक करने में जो खर्च हुआ हो, उसे वह बर्दाश्त करे। कब तक सरकार अपनी नैतिक जिम्मेदारियों की उपेक्षा करती जायगी ? यदि सरकार मुझे विदेश मरने के पहले अपने संबंधियों से मिलने की इजाजत देती, मेरे यूरोप के खर्चे को स्वयं उठाती और चंगा होने पर बिना किसी अड़चन के लौटने देती, तो उसके प्रस्ताव में कुछ इंसाफियत होती।

अंत में यह भी कह देना जरूरी है कि माननीय मेंबर ने मखमल में छिपा हुआ फौलादी पंजा मुझपर ताना है। वह कहते हैं—"दोनों, सरकार और श्री बसु, जानते हैं कि सरकार उन्हें क्रिमिनल लॉ एमेंडमेंट ऐक्ट के समाप्त होने तक वहीं रख सकती है।" बिल्कुल ठीक। मैं सहमत हूँ—एक कदम आगे बढ़कर यह भी कहूँगा कि मैं यह भी महसूस करता हूँ कि सरकार मुझे जब तक चाहे रोक रख सकती है, क्योंकि इस ऐक्ट के खतम हो [illegible] या सन् १८१८ के रे[illegible] कर सकती है। मैंने [illegible] भी शामिल हैं, कहा [illegible]

हूँ कि सरकार चाहे तो मुझे जिंदगी भर रोक रख सकती है; भले ही एसेंबली-कौंसिलों के मेंबर चीखते-चिल्लाते रहें और इक्जीक्यूटिव आफिसर के भत्ते की रकम अस्वीकृत करते रहें। किंतु अभी मुझे यह सीखना है कि सरकार हमें यहाँ जिंदगी भर नहीं रखना चाहती।

मुझे याद आता है कि पुण्यस्मृति देशबंधु मुझे मेरी निराशावादिता के कारण 'तरुण वृद्ध' (Young old men कहा करते थे। एक दृष्टि से मैं निराशावादी हूँ, क्योंकि मैं यही सोचता हूँ कि अधिक से अधिक अनिष्ट क्या हो सकता है ? इस समय सरकारी प्रस्ताव के अस्वीकार करने के बुरे से बुरे फल की कल्पना करने के बाद भी मैं अपने को यह नहीं समझा सका हूँ कि जेल जीवन से सदा के लिए निर्वासित होना अच्छा है। इस अशुभ आशंका से मैं नहीं डरता; क्योंकि कवि की तरह मेरा विश्वास है कि 'कीर्ति के मार्ग में बाधाएँ अवश्यंभावी हैं।"

संभवतः मैं इस प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में जो कुछ भी कहा जा सकता था, कह चुका। मेरी रिहाई की संभावना बहुत कम और दूरवर्ती है, इस पर किसी को खेद न होना चाहिये। मुझसे जो प्रेम करते हैं उनको, और खासकर माता-पिता को, तसल्ली देते रहिये; क्योंकि उन्हें सबसे अधिक कष्ट है। हम सबको, सामूहिक रूप में और व्यक्तिशः, काफी बलिदान करना होगा, तब कहीं स्वतंत्रता का अमूल्य खजाना हाथ आयेगा। परमेश्वर को धन्यवाद है कि मैं अपने तईं बिलकुल शांत हूँ और उसकी घोर से घोर परीक्षा देने के लिए स्थिर चित्त से प्रस्तुत हूँ। मैं यही समझता हूँ कि मेरे राष्ट्र के कृत पापों के लिए मुझसे जैसा कुछ बन पड़ता है, व्रत कर रहा हूँ और इससे यदि पाप कुछ भी धुला होगा तो अपने को कृतार्थ समझूँगा। राष्ट्र हमारे विचार जल्दी नहीं भूल जायगा। हमारी भावनाएँ खतम होने की नहीं और अगली पीढ़ी हमारे सुनहरे स्वप्नों की उत्तराधिकारिणी होगी—यह है विश्वास, जो मुझे सर्वदा आपत्ति को सहन करने की शक्ति देता रहेगा।

कृपया उत्तर शीघ्र दें।

आपका प्रिय
सुभाष

प्रिय स्नेहलता देवी !

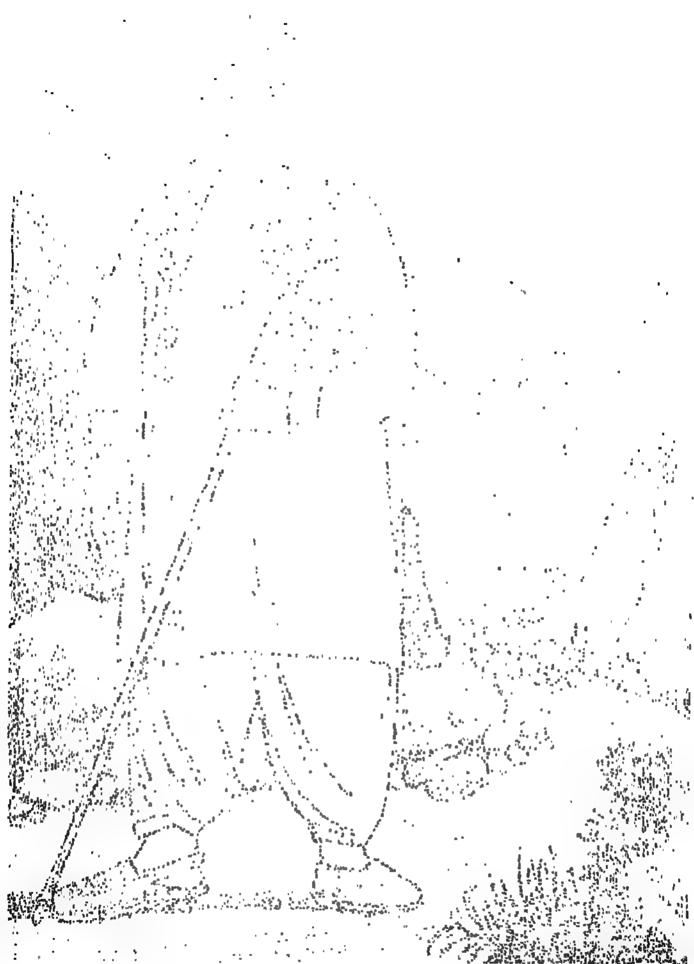
आजादी हासिल करने के लिए अपने को उत्सर्ग (कुर्बान) करनेवाले नेताजी ने वेष बदलकर नाना प्रकार की यातनाएँ सही हैं, वह नीचे लिखी घटना से विदित होगा। आज जो यह देश आजाद हुआ है, उसमें इस त्यागी वीर का जीवित इतिहास है। इनका पत्र जो इम्फाल टोकियो से लिखा गया है, वह आगे पढ़ने योग्य है। आशा है कि तुम ध्यान से पढ़ोगी और अपने वीर पुत्र से भी पढ़ने का आग्रह करोगी।

तुम्हारा स्वामी, कुमुद (प्रियतम)

पलायन

(स्वदेश प्रेम की महिमा से भरा हुआ)

श्री सुभाषचन्द्र बोस सन् १६४१ के जनवरी महीने में घर से गायब होकर काबुल पहुँचे। उन्होंने कलकत्ते में दाढ़ी बढ़ाने के लिए लोगों से मिलना-जुलना बन्द कर दिया था। दाढ़ी रखने के ठीक चालीसवें दिन रात को आठ बजे मौलवी के वेष में वह घर से निकलकर मोटर द्वारा रवाना हुए और कलकत्ते से चालीस मील के फासले पर एक रेलवे स्टेशन पर गये। वहाँ दूसरे दर्जे का पेशावर का टिकट लेकर गाड़ी में बैठे। रास्ते में जब कोई बड़ा स्टेशन आता तो वह मुँह के सामने अखबार कर लेते ताकि कोई पहचान न सके। १७ जनवरी की रात को वह पेशावर पहुँचे। काबुल की यात्रा का प्रबन्ध करने के लिए वहाँ उन्हें दो दिन रुकना पड़ा। १६ जनवरी को प्रातःकाल पठानी पोशाक में वह अपने दो साथियों के



जियाउद्दीन के वेष में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस मशहूर दर्रा खैबर पार कर रहे हैं।

साथ मोटर द्वारा वहाँ से रवाना हुए। कुछ दूर जाने के बाद शाम हो जाने पर एक गाँव में उन्हें रात बितानी पड़ी। सवेरे वह वहाँ से पैदल ही काबुल के लिए रवाना हुए। वहाँ से वह पागल और गूँगा बन गये। इसलिए कि वह वहाँ की भाषा नहीं जानते थे। धीरे-धीरे वह अनेक कठिनाइयों का सामना करते हिन्दुस्तान की सीमा पार कर अफगान हुकूमत में पहुँचे। सर्दी का मौसम था किन्तु सुभाष बाबू के पास एक भी गरम कपड़ा नहीं था। इससे उनके कष्ट की सीमा नहीं थी। काबुल पहुँचकर वह एक सराय में ठहरे। सराय इतनी गन्दी थी कि उसमें दम घुटा जाता था। किन्तु सुभाष बाबू के लिए उस सराय में समय बिताने के सिवा दूसरा कोई ठिकाना नहीं था। उस समय यह भी स्थिर नहीं था कि वहाँ उन्हें कबतक ठहरना पड़ेगा। क्योंकि वहाँ से उन्हें मास्को जाने का प्रबन्ध करना था।

दुर्भाग्यवश सराय में पुलिस पीछे पड़ गयी। खुफिया पुलिस से पीछा छुड़ाने के लिए सुभाष बाबू के साथी ने उनसे बिना कुछ पूछे खुफिया वाले को कुछ दे दिया। इसका परिणाम और भी बुरा हुआ। वह बुरी तरह पीछे पड़ गया। लाचार होकर सुभाष बाबू को वह स्थान छोड़ना पड़ा। श्री उत्तमचन्द्र ने उन्हें शरण दी। रूसी राजदूत से मिलकर मास्को जाने की भरपूर चेष्टा की जा रही थी, पर अभी तक सफलता नहीं मिली थी। बड़ी कठिनाई से उक्त राजदूत के निवास स्थान का पता लगा। किन्तु किसी प्रकार उससे भेंट ही नहीं होने पाती थी। अन्त में एक दिन सुभाष बाबू अपने साथी जिसका कल्पित नाम रहमतखाँ था—को लेकर उक्त राजदूत के निवासस्थान के पास आकर बैठ गये और घंटों प्रतीक्षा करने के बाद जब राजदूत की मोटर फाटक से बाहर निकली तो मोटर पर लगे हुए रूसी झंडे से उसे पहिचानकर उन्होंने रहमतखाँ को भेजा। रहमतखाँ संकेत द्वारा मोटर रोककर उससे मिला और सारा हाल कहा। राजदूत ने कहा कि यदि आप मुझे इस बात का विश्वास दिला

सकें कि वह सज्जन सुभाष बाबू ही हैं तो मैं उन्हें रूस पहुँचाने का प्रबंध कर दूँगा। रहमतखाँ हताश होकर लौट आया। अन्त में उन्हें दूसरा रास्ता ढूँढ़ना पड़ा। रोम जाने के लिए वहाँ के राजदूत से चर्चा की गई। वह राजी हो गया। कई दिनों के भीतर ही रोम के राजदूत ने अपने देश की सरकार से अनुमति प्राप्त कर ली और पासपोर्ट तैयार करा लिया। अन्त में १८ मार्च को सबेरे ६ बजे सुभाष बाबू दो जर्मन और एक इटालियन के साथ काबुल से रवाना हो गये। २० मार्च को वह मास्को पहुँचे और वहाँ से वह हवाई जहाज से बर्लिन पहुँच गये। वहाँ से कुछ दिनों के बाद वह रोम गये। इस प्रकार कड़ी मुसीबतों का सामना करके नेताजी विदेश पहुँचे और वह अमर कार्य करने में समर्थ हुए जिसे सारा संसार सुनकर चकित हो गया। —किमधिकम्

नेताजी की गुप्त स्थान से लिखी चिट्ठी

(स्वतन्त्रता के लिये भविष्यवाणी)

आजाद हिन्द फौज के सिपहसालार नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने किसी अज्ञात किंवा गुप्त कैम्प से फौज के अफसरों और सैनिकों के नाम निम्न विशेष आदेश २५ अप्रैल १६४५ को जारी किया थाः—

"आजाद हिन्द फौज के वीर अफसरों और सैनिकों! मैं हृदय पर पत्थर रखकर बर्मा से बिदाई ले रहा हूं। तुमने इसी बर्मा में फरवरी १६४४ से कितनी ही वीरतापूर्ण लड़ाइयाँ लड़ी हैं और अब भी लड़ रहे हो। इम्फाल और बर्मा के मोर्चों पर अपनी आजादी की लड़ाई के पहिले धावे में हम हार गये हैं। यह तो पहिला ही धावा था। अभी हमें



(आजाद हिन्द फौज के प्राण जो नेताजी के साथी थे)

शत्रु पर कितने ही और धावे बोलने हैं। मैं जन्म से ही आशावादी हूँ। मैं किसी भी हालत में हार स्वीकार नहीं कर सकता। इम्फाल के मैदानों, अराकान की पहाड़ियों तथा जंगलों में, बर्मा के तेल-क्षेत्रों तथा अन्य स्थानों में लड़ी गई लड़ाइयों में तुमने जिस बहादुरी का परिचय दिया है, वह हमारी आजादी की लड़ाई के इतिहास में सदा ही याद की जाती रहेगी।

"साथियो! इस नाजुक घड़ी में मुझे तुमको सिर्फ एक ही आदेश देना है और वह यह है कि यदि कुछ समय के लिये तुमको हारना भी पड़ रहा है, तो भी तुम तिरंगा राष्ट्रीय झण्डा ऊँचा फहराये रखो, अपनी वीरता को मत लजाओ और अपनी प्रतिष्ठा तथा अनुशासन पर कोई धब्बा न लगने दो। भारत की भावी सन्तानें, जो तुम्हारे महान बलिदान के फलस्वरूप गुलाम नहीं, अपितु स्वतन्त्र देश में उत्पन्न होंगी, तुम्हारे नाम को पूजेंगी और संसार को यह बतायेंगी कि हमारे पूर्वजों ने भले ही मनीपुर, आसाम और बर्मा की लड़ाइयों में हार खाई थी, किन्तु उन्होंने अपने इस क्षणिक पराजय से अन्तिम सफलता और विजय का मार्ग तो प्रशस्त ही बनाया था।

"भारत की आजादी में मेरा दृढ़ विश्वास पहिले के समान अटल है। अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा और अपने देश के युद्धक्षेत्र की पुरानी परम्पराओं को मैं तुम्हारे हाथों में सुरक्षित छोड़कर जा रहा हूँ। तुम भारत की आजादी की अग्रगामी सेना के सैनिक हो। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि तुम उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व और जीवन तक न्यौछावर कर दोगे, जिससे दूसरे स्थानों पर लड़ने वाले तुम्हारे साथियों को तुम्हारे इस उज्ज्वल आदर्श से सदा के लिये प्रेरणा मिलती रहे?

"यदि मैं स्वेच्छा से कुछ निर्णय कर सकता, तो मैं इस विपरीत स्थिति में पराजय में हिस्सा बटाने के लिये तुम्हारे साथ ही रहता। लेकिन

अपने, मंत्रियों और ऊँचे अफसरों की सलाह मानकर इस लड़ाई को जारी रखने के लिये मैं बर्मा छोड़ने को लाचार हूँ। मैं पूर्वीय एशिया और हिन्दुस्तान में भी रहने वाले अपने देशवासियों को भली प्रकार जानता हूँ और उनकी ओर से तुमको मैं यह विश्वास दिला सकता हूँ कि वे आजादी की लड़ाई को हर हालत में जारी रखेंगे और तुम्हारा यह उत्सर्ग और बलिदान कदापि व्यर्थ न जायगा। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं अपनी उस प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहूँगा, जो मैंने २१ अक्टूबर १९४३ को ली थी। मैं ३८ करोड़ देशवासियों की सेवा करने, उनके हितों को सुरक्षित रखने और आजादी के युद्ध को निरन्तर जारी रखने में कुछ भी उठा न रखूँगा। अन्त में मैं तुमसे यही अपील करता हूँ कि तुम भी अपने में मुझ जैसी आशा को जगाओ और मेरे समान ही विश्वास रखो कि घोर अन्धकार के बाद ही प्रभात प्रगट होता है। हिन्दुस्तान जरूर आजाद होगा। ...... जल्दी ही होगा।

"भगवान् की तुम पर कृपा हो।

इन्किलाब जिन्दाबाद!

आजाद हिन्द जिन्दाबाद!!

जय हिन्द!!!

गुप्त कैम्प (ह०) सुभाषचन्द्र बोस

२५ अप्रैल १९४५ सिपहसालार—आजाद हिन्द फौज

—:०:—

लन्धौर (मंसूरी)

प्रिय मानकुमारी ६।४।५२

स्नेह 'जयहिन्द'

तुम आजकल प्रेम-सम्बन्धी बहुतसी पुस्तकें पढ़ रही हो, पर यह नहीं मालूम कि अश्लील प्रेम की ओर जा रही हो या पवित्र प्रेम की ओर। प्रेम तो परमात्मा का सुन्दर स्वरूप है।

इधर तुम्हारी कई चिट्ठियाँ आईं। अवकाश न रहने के कारण देर में उत्तर जा रहा है।

तुमने हमसे पं० जवाहरलालजी और सुभास बाबू की जीवनियाँ माँगी हैं। मैं तुम्हें सबसे पहले सुभाष बाबू का त्यागमय पत्र भेज चुका हूँ। अब पं० नेहरू की आत्म-कहानी उनकी ही जबानी लिखकर भेज रहा हूँ। तुम उन्हें प्रेम से पढ़ोगी तथा पुष्पा, कुमुदिनी, सत्येन्द्र, भानु आदि को भी पढ़ने को दोगी। अपनी सासजी की जबानी भी इनकी कहानी और गदर की बातें पूछ सकती हो।

तुम्हारा
महेन्द्रकुमार (राजू)

[illegible] की कहानी उन्हीं की जबानी

१८८९—१४ नवम्बर १८८९, मार्गशीर्ष बदी सप्तमी, संवत् १९४६ को इलाहाबाद में मेरा जन्म हुआ।

१८९४ या ९५—पिताका फाउण्टेनपेन चुराया। पिटा इतना कि कई दिनतक बदन पर क्रीम और मलहम लगाना पड़ा। सजा तो मुझे वाजिब ही मिली, लेकिन थी जरूरत से ज्यादा।

१८९९—जब कि मैं दस साल का था, हमलोग एक नये और काफी बड़े मकान में आ गये जिसका नाम पिताजी ने 'आनन्द-भवन' रखा था।

—उन दिनों बोअर युद्ध हो रहा था, उसमें मेरी दिलचस्पी होने लगी। बोअरों से मेरी हमदर्दी थी।

१९००—नये मास्टर एफ० टी० ब्रुक्स आये। उनकी वजह से ही

मुझे किताबें पढ़ने का चाव लगा। काव्य-साहित्य के प्रति भी मेरी रुचि बढ़ी। थियोसोफिस्ट विचारधारा अपनाने लगा।



देश के सर्वमान्य नेता प्रधान मन्त्री

१९०२—उन दिनों मिसेज बेसेण्ट इलाहाबाद आयी हुई थीं और उन्होंने थियोसोफी सम्बन्धी कई विषयों पर भाषण दिये। उनके सुन्दर

भाषणों से मेरा दिल हिल उठता था और मैं चकाचौंध होकर घर आता और अपने-आपको भूल जाता जैसे मैं सपने में हूँ। मैं थियोसोफिकल सोसायटी का सदस्य बना।

—उन दिनों मेरा चेहरा गम्भीर, नीरस और उदास दिखाई पड़ता था, जो कि कभी-कभी पवित्रता का सूचक होता है। मैं अपने मन में समझता था कि मैं औरों से ऊँची सतह पर हूँ। और अवश्य ही मेरा रङ्ग-ढङ्ग ऐसा था कि जिससे मुझे अपने हमउम्र लड़के या लड़कियाँ अपनी सङ्गत के लायक न समझते होंगे।

१६०३—रूस-जापान की लड़ाई—मेरा दिल राष्ट्रीय भावों से भरा रहता था। मैं यूरोप के पंजेसे एशिया और हिन्दुस्तान को आजाद करने के भावों में डूबा रहता। मैं बड़ी-बड़ी बहादुरी के मनसूबे बाँधा करता कि कैसे हाथ में तलवार लेकर मैं हिन्दुस्तान को आजाद करने के लिये लड़ूँगा।

१६०४—मैं चौदह साल का था। मेरे मन में नये-नये विचार और गोलमोल कल्पनाएँ मँडराया करती थीं। स्त्री जाति में मेरी कुछ दिलचस्पी बढ़ने लगी थी लेकिन अब मैं लड़कियों की बनिस्बत लड़कों के साथ मिलना ज्यादा पसन्द करता था।

१६०५—जब मैं पन्द्रह साल का था, हम इंग्लैंड रवाना हुए। मई मास में हैरो में दाखिल हुआ। उस समय मुझे बड़ा ही सूना सूना मालूम पड़ता और घर की याद सताती। हमेशा मेरे दिल में यह ख्याल बना रहता कि मैं उन लोगों में से नहीं हूँ।

१६०६—धीरे-धीरे मैं हैरो का आदी हो गया। लेकिन न जाने कैसे मैं यह महसूस करने लगा कि अब मेरा यहाँ काम नहीं चल सकता। हिन्दुस्तान से जो खबरें आती थीं उनसे मैं बहुत बेचैन रहता था। लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देशनिकाला दिया गया था। बंगाल में हाहाकार-सा मचा हुआ मालूम पड़ता था। स्वदेशी तथा बहि-

पुकार की आवाज गूँज रही थी। लेकिन हैरो में एक भी शख्स ऐसा न था जिससे मैं इस बारे में बातें कर सकता।

१९०७—अक्टूबर के शुरू में ट्रिनिटी कालेज में पहुँच गया। मैं लड़कपन के बन्धन से मुक्त हो गया और महसूस करने लगा कि आखिर मैं भी बड़ा होने का दावा कर सकता हूँ।

१९१२—गर्मी में मैंने बैरिस्टरी पास कर ली और उसी शरद् ऋतु में मैं कोई सात साल से ज्यादा इंग्लैंड में रहने के बाद आखिर को हिंदुस्तान लौट आया। मुझे लगा कि जब मैं बम्बई में उतरा तो अपने पास कुछ न होते हुए भी अपने बड़प्पन का अभिमान लेकर उतरा था।

—बड़े दिन की छुट्टियों में मैं डेलिगेट की हैसियत से बाँकीपुर काँग्रेस में शामिल हुआ। बहुत हद तक वह अंगरेजी जाननेवाले उच्चश्रेणी के लोगों का उत्सव था, जहाँ सुबह के कोट और इस्त्री किये हुए पतलून बहुत दिखाई देते थे।

—डिग्री लेने के बाद मैं कैम्ब्रिज से चला आया। फैबियन और साम्यवादी विचारों की ओर एक अस्पष्ट आकर्षण हुआ। आयर्लैण्ड और स्त्रियों के मताधिकार के आन्दोलन में मेरी खास दिलचस्पी थी।

१९१३—मैं हाईकोर्ट में वकालत करने लगा, कुछ हद तक मुझे अपने काम में दिलचस्पी आने लगी। मैं काँग्रेस में शरीक हो गया और उसकी बैठकों में जाता रहा। फिजी में हिन्दुस्तानी मजदूरों के लिए शर्तबन्द कुली-प्रथा के खिलाफ, दक्षिण अफ्रिका में प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार किये जाने के खिलाफ यानी ऐसे खास मौकों पर जब कभी आन्दोलन उठ खड़ा होता, तो मैं अपनी पूरी ताकत से जुटकर खूब मेहनत करता।

१९१४—विश्वव्यापी महायुद्ध शुरू हुआ और उसमें हमारा ध्यान लग गया। हालांकि वह हमसे बहुत दूर हो रहा था।

१९१५—लोकमान्य तिलक जेल से बाहर आ गये और मिसेज एनी-

बेसेण्ट के साथ उन्होंने होमरूल लीगें कायम कीं। मैं दोनों लीगों में शामिल हुआ।

—मुझे इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि मैं पहले पहल इलाहाबाद में सार्वजनिक भाषण दूँ। मैं बहुत थोड़ा बोला सो भी अंग्रेजी में। ज्योंही मीटिंग खतम हुई, मुझे इस बात से बड़ी सकुच हुई कि डाक्टर तेजबहादुर सप्रू ने मञ्च पर पब्लिक के सामने मुझे छाती से लगाकर प्यार से चूमा।

१६१६—मेरी शादी १६१६ में दिल्ली में वसन्तपञ्चमी को हुई।

१६१६—मैं गाँधीजी से पहल पहल बड़े दिन की छुट्टियों में लखनऊ काँग्रेस में मिला। दक्षिण अफ्रिका में उनकी बहादुराना लड़ाई के लिए हम सब लोग उनकी तारीफ करते थे, लेकिन हम नौजवानों में बहुतों को वह बहुत दूर और अलग तथा राजनीति से दूर व्यक्ति मालूम होते थे।

१६१६—रौलटबिल—गाँधीजी ने सत्याग्रह सभा शुरू की जिसके मेम्बरों से यह प्रतिज्ञा कराई गई थी कि उन पर लागू किये जाने पर वे रौलट कानून को न मानेंगे। दूसरे शब्दों में उन्हें खुल्लमखुल्ला और जान-बूझकर जेल जाने की तैयारी करनी थी। खिलाफत आन्दोलन—जलियांवाला बाग का हत्याकाण्ड। काँग्रेस जाँच कमेटी के सदस्य देशबंधु दास ने अमृतसर का हिस्सा खास तौर पर अपनी तरफ लिया और वहाँ मैं उनके साथ उनकी सहायता के लिए तैनात किया गया। १६१६ के बड़े दिनों में पिताजी अमृतसर काँग्रेस के सभापति हुए। अमृतसर काँग्रेस पहली गाँधी-काँग्रेस हुई।

१६२०—पहली अगस्त को लोकमान्य तिलक का बम्बई में देहान्त हो गया। हम सब उस जबर्दस्त जुलूस में शरीक हुए।

१६२०—मंसूरी से निर्वासित किया गया। मुझे इस बात का बिलकुल पता न था कि कारखानों में या खेतों में काम करनेवाले मजदूरों की

हालत क्या है और मेरा राजनीतिक दृष्टिकोण बिलकुल मध्यम वर्ग जैसा था। अवध का किसान आन्दोलन। तीन दिन तक मैं गाँवों में घूमता रहा। नङ्गे, भूखे, दलित-पीड़ित भारतवर्ष का एक नया चित्र मेरी आँखों के सामने खड़ा होता हुआ दिखाई दिया। इन किसानों की बदौलत मेरी झेंप निकल गई और मैं बोलना सीख गया।

—कलकत्ता काँग्रेस का विशेष अधिवेशन। लौटते समय मैं गाँधीजी के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके अति प्यारे बड़े भाई 'बड़े दादा' से मिलने शान्तिनिकेतन गया।

१९२१—असहयोग—किसानों में अशान्ति-मजदूर—आन्दोलन। १९२१ का साल हमारे लिए असाधारण साल था। मैं आन्दोलन में दिलोजान से जुट पड़ा। मुझे और पिताजी को अलग-अलग जुर्मों में अलग-अलग अदालतों ने ६-६ महीने की सजाएँ दीं।

१९२२—चौरीचौरा-जेल में ही हमने बड़े आश्चर्य और भय के साथ सुना कि गान्धीजी ने सविनय आज्ञा-भंग की लड़ाई रोक दी और सत्याग्रह मुल्तवी कर दिया।

१९२२—छूटने पर विलायती कपड़े के बहिष्कार में दिलचस्पी ली। फिर गिरफ्तारी। हमारे ऊपर राजद्रोह, जबर्दस्ती रुपया ऐंठने तथा लोगों को डराने का जुर्म लगाया गया। मेरा ख्याल है कुल मिलाकर मुझे एक साल नौ महीने की सजा दी गयी। मैं छै हफ्ते के करीब जेल से बाहर रहकर फिर वहीं चला गया।

१९२३—जनवरी के आखिरी दिन लखनऊ जेल के हम सब राजनीतिक कैदी छोड़ दिये गये। संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का मन्त्री मैं बनाया गया। नाभा में गिरफ्तार। षड्यन्त्र का मुकदमा—कुल दो या ढाई साल की सजा दी गयी। सजा मुल्तवी कर दी गयी और हिदायत मिली कि हम नाभा छोड़कर चले जायें और फिर बिना खास इजाजत लिये रियासत में न लौटें।

१९२४—गान्धीजी जेल में बहुत ज्यादा बीमार हो गये। तभी सरकार ने उनकी बाकी सजा रद्द करके उन्हें छोड़ दिया। उनके साथ हमारा परिवार भी जूहू पहुँचा। मैं भी जूहू से कुछ हद तक निराश होकर लौटा, क्योंकि गान्धीजी से मेरी एक भी शंका का समाधान नहीं हुआ।

१९२४—अहमदाबाद कांग्रेस की तनातनी। गान्धीजी चाहते थे कि सिर्फ वही लोग कांग्रेस के मेम्बर हो सकें जो चार आनेके बजाय निश्चित परिमाण में अपने हाथ का कता हुआ सूत दें। मैं इसे विधान के साथ जबर्दस्त ज्यादती समझता था। उसे देखकर मुझे बड़ा धक्का लगा और मैंने कार्य-समिति से मन्त्रिपद से इस्तीफा लेने को कहा।

१९२४-२५—दो साल तक मैं इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैनकी हैसियत से काम करता रहा। सूबे की सरकार ने भी मेरे म्युनिसिपैलिटी सम्बन्धी कुछ कर्मों को इतना पसन्द किया कि उसने राजनितिक कामों की वजह से अपनी नाराजगी को भूलकर उनकी तारीफ की।

१९२६—उस साल वसन्त ऋतुमें मेरी पत्नी बहुत बीमार पड़ गयी। डाक्टरों ने सिफारिस की कि कमला इलाज स्विटजरलैण्ड में कराया जाय। मार्च में हम लोग जहाज में बम्बई से वेनिस के लिए रवाना हुए। यूरोप में हमें बहुतसे ऐसे पुराने क्रान्तकारी और हिन्दुस्तान से निकाले भाई मिले जिनके नामोंसे मैं वाकिफ था।

१९२७—ब्रुसेल्स शहर में पददलित कौमों की एक कानफ्रेन्स होनेवाली थी। मुझे ब्रुसेल्स कान्फ्रेन्स के लिये राष्ट्रीय महासभा का प्रतिनिधि बना दिया गया। साम्राज्यविरोधी सङ्घकी एक बैठक कोलोन में हुई और मैं भी उसमें शामिल हुआ। नवम्बर में थोड़े दिनों के लिये मास्कोकी यात्रा की। हमलोग मास्को में बहुत ही थोड़े दिनों के लिये सिर्फ तीन चार दिनके ही लिये गये थे। मदरास कांग्रेसके जलसे में शामिल होनेके लिए शुरू दिसम्बर में लौटे।

१९२८—मुझे फिर कांग्रेस का सेक्रेटरी होना पड़ा। सायमन कमी

शन का बायकाट। नेहरू रिपोर्ट। सर्वदल सम्मेलन। शरीरपर पुलिस के डण्डों और लाठियों का नया अनुभव। एक घुड़सवार मेरे ऊपर घोड़ा छोड़ता चला आ रहा है और अपना लम्बा डण्डा घुमा रहा है। उसने मेरी पीठपर धड़ाधड़ दो वार किये। मुझे चक्कर आने लगा और मेरा शरीर थरथराने लगा, मगर मुझे यह जानकर आश्चर्य और सन्तोष हुआ कि मैं फिर भी खड़ा ही रहा।

१९२८—ट्रेड यूनियन कांग्रेस—सारे देश का दौरा और बड़ी-बड़ी आम सभाओं में भाषण।

१९२९—लाहौर कांग्रेस का सभापति चुना गया। इसी वर्ष ट्रेड यूनियन कांग्रेस का सभापतित्व भी करना पड़ा। पूर्ण स्वाधीनता प्रस्ताव।

१९३०—दण्डी की नमक-यात्रा। सविनय आज्ञा भङ्ग शुरू। चौदह अप्रैल को मेरी गिरफ्तारी—नमक कानून के मातहत ६ महीने की सजा हो गयी। गान्धीजी के अस्वीकृत करनेपर मोतीलाल नेहरू कांग्रेस के स्थानापन्न सभापति बने। ११ अक्टूबर को सजा पूरी हो जानेपर मैं छोड़ दिया गया। करबन्दी आन्दोलन में लगा—आठ दिन की गैरहाजिरी के बाद मैं फिर नैनी आ गया। दो साल की सजा। मगर फिर भी १९३० की घटनाओं ने हमें इत्मीनान करा दिया और इत्मीनान के भरोसे हमने भावी का मुकाबला किया।

१९३१—६ फरवरी को पिताजी का देहान्त।

१९३१—दिल्ली में ४ मार्च को गांधी-अरविन समझौता—मैं अपने दिल में ऐसी शून्यता महसूस करने लगा मानो उसमें से कोई कीमती चीज सदा के लिए निकल गयी हो।

१९३१—करांची कांग्रेस—मुख्य प्रस्ताव में मेरी खास दिलचस्पी थी। इसके द्वारा एक बहुत छोटा कदम समाजवाद की तरफ उठाया गया, लेकिन वह समाजवाद कतई न था। लंका-यात्रा। संयुक्त-प्रांतीय किसान आंदोलन में २५ दिसम्बर को छठीं बार गिरफ्तार। दो साल की जेल मिली।

१६३२—नैनी जेल, बरेली जेल, देहरादून जेल। बाहर आन्दोलन चलता रहा। माता स्वरूपरानी नेहरू पर लाठी प्रहार—अपनी बूढ़ी माँ का सड़क की धूल में लथपथ पड़ने का ख्याल मुझे रह रहकर आने लगा। मैं यह सोचने लगा कि अगर मैं वहाँ होता तो क्या करता। मेरी अहिंसा कहाँ तक मेरा साथ देती—मुझे डर है वह ज्यादा हद तक मेरा साथ न देती। ३० अगस्त १६३३ को रिहा।

१६३४—कांग्रेस कार्य के साथ-साथ भूकम्प पीड़ितों की सहायता में संलग्न। १६ फरवरी को आपत्तिजनक भाषण के अभियोग में दो साल की सजा। इन्हीं दिनों मैंने 'मेरी कहानी' लिखना शुरू किया। बीमार पत्नी को देखने को ग्यारह दिनों के लिए अस्थायी तौर पर रिहा।

१६३५—मई में कमला यूरोप में इलाज कराने गयीं। ४ सितम्बर को मैं एकाएक अलमोड़ा जेल से छोड़ दिया गया। फौरन हवाई जहाज से यूरोप को रवाना हुआ।

१६३६—२८ फरवरी को जब लॉसेन में मेरी धर्मपत्नी की मृत्यु हुई तब मैं उसके पास ही था।

१६३६—मार्च में भारत वापस। फिर लखनऊ कांग्रेस का सभापति। वर्किङ्ग कमेटी के सदस्यों से कांग्रेस कार्यक्रम का समाजवादी अर्थ लगाने-पर मतभेद। चुनाव आन्दोलन में लाखों मील की यात्रा—मोटर, रेल, हवाई जहाज, बैलगाड़ी सबसे। मेरे लिये तो यह यात्रा हिन्दुस्तान की और हिन्दुस्तान की जनता की खोज की यात्रा थी। मैंने अपने मुल्क के हजारों पहलू ऐसे देखे जो एक दूसरे से बिल्कुल जुदे थे।

इसी वर्ष 'मेरी कहानी' प्रकाशित हुई।

—'मेरी कहानी' से संकलित

+ + +

१६३७—फिर कांग्रेस के सभापति।

१६३८—यूरोप की यात्रा—स्पेन, फ्रांस, इङ्गलैंड, जर्मनी—वहाँ के

नात्सी और फासिस्ट विरोधियों से सहानुभूति। 'नेशनल हेरल्ड' का प्रकाशन।

१६३६—राष्ट्रीय भारत की सहानुभूति और सन्देश लेकर चुंकिंगको।

१६४०—आपत्तिजनक भाषण करनेपर गिरफ्तारी—४ साल की सजा।

१६४१—अन्य राजनीतिक बन्दियों के साथ ४ दिसम्बर को रिहा।

१६४२-४५—क्रिप्स प्रस्ताव—

६—अगस्त को अहमद नगर किले में।

१६४५—१५ जून को रिहाई।

१६४५—२ जुलाई को शिमला में वायसराय से मुलाकात।

१६४५—७ अक्तूबर—इण्डोनेशियन प्रजातन्त्र सरकार के अध्यक्ष डाक्टर सुकर्नो का निमन्त्रण।

५—नवम्बर—दिल्ली के लाल किले की फौजी अदालत में २२ वर्ष के बाद बैरिस्टर की पोशाक में प्रवेश। [प्रे०—रामप्रसाद गोपाल]

प्रिय मानिनी! प्रियंवदा! तूने ऐसे महान त्यागी तपस्वी की जीवनी पढ़ी है। अब उन्हीं का संक्षिप्त जीवन-चरित्र यहाँ दिया जाता है, इसे भी ध्यान से पढ़ना। —तेरा स्वामी

पं० नेहरू

आज भारतवर्ष में पं० जवाहरलाल नेहरू ही ऐसे महान् व्यक्ति हैं, जिसे युरप और एशिया के अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के लोग जानते व मानते हैं। नेहरूजी का जन्म प्रयाग में हुआ था। इनके पिता पं० मोतीलाल-जीनेहरू अपने कानूनी ज्ञान में अद्वितीय माने जाते थे और जिनमें अंग्रेजी सभ्यता की बू इतनी लगी थी कि उनका कपड़ा धुलने के लिए पेरिस जाता था। अन्त में अपना सर्वस्व त्याग कर दे गाँधीजी के पक्के अनुयायी बन गये। उन्होंने अपना प्रयागस्थ आनन्दभवन भी काँग्रेस को प्रदान कर दिया। यह सब कुछ वीर जवाहर के कारण ही हुआ।

इनकी माता का नाम स्वरूपरानी देवी था जो बड़ी बुद्धिमती स्त्री थीं। पं० जी की बहन विदुषी पंडिता विजयलक्ष्मी अमेरिका में राजदूत पद पर हैं। इनकी धर्मपत्नी कमला देवी में भी देश-भक्ति कूट-कूटकर भरी थी। उनके स्वर्गवास हो जाने पर नेहरू जी ने पुनः अपना विवाह नहीं किया। यह कितनी बड़ी बात है। उनकी पुत्री इन्दिरा देवी भी बहुत पढ़ी-लिखी भद्र महिला हैं। उनके कई पुत्र आदि भी हैं।

नेहरू जी की शिक्षा-दीक्षा विलायत में हुई। उन्होंने वहाँ बैरिस्टरी पास की। देश-सेवा के कारण इनका अधिकांश जीवन जेलों में बीता। ये रूस आदि देशों की रीति-नीति जानने से उग्र राजनीतिज्ञ हो गये। भारत की स्वाधीनता की लड़ाई में इन्होंने गाँधीजी और काँग्रेस का अच्छा साथ दिया। स्वराज्य प्राप्त होने पर ये भारत सरकार के प्रधान-मंत्री बनाये गये। गाँधीजी के मारे जाने पर इन्होंने देश को खूब सँभाला। इन्हीं के कारण दोबारा काँग्रेसी शासन चल रहा है।

नेहरू जी ने किसानों व मजदूरों, कष्ट पीड़ितों, शोषितों, दीनदुखियों देशी राज्य के पीड़ित प्रजाओं को उत्तेजित, संगठित और अग्रसर करने का जो उद्योग किया—वह स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। आप दूरदर्शी नीतिज्ञ, विद्वान् लेखक और भारत के सर्वोपरि नेता हैं। इन पर भारतीय जनता को गर्व है, परमेश्वर से प्रार्थना है कि वे पं० नेहरू जी को देश के लिए दीर्घजीवी बनावें।

प्राणों से प्यारी बेटी कुमुदिनी! तुम कालेज की शिक्षा-दीक्षा से निवृत्त होकर गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रही हो। तुम्हारे लेखों को मैंने 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में देखा। तुम्हारे पास मैं पं० नेहरू के लिखे हुए पत्रों की कटिंग भेज रहा हूँ। पहला सेंट्रलजेल नैनी और दूसरा, तीसरा तथा चौथा पत्र देहरादून जेल से भेजा गया था। आशा है तुम उन्हें बड़े चाव से पढ़ोगी।

तुम्हारा पिता—
आनन्दमोहन

पंडित जवाहरलाल नेहरू का अपनी पुत्री के नाम पत्र

वर्षगाँठ का पत्र

सैंट्रल जेल, नैनी (प्रयाग),
आक्टोबर २६, १९३०

इंदिरा प्रियदर्शिनी के प्रति—
उसकी तेरहवीं वर्षगाँठ पर—

मेरी प्यारी बेटी,

वर्षगाँठ के दिन तुम्हें सदा उपहार और शुभ कामनाएँ मिलती रही हैं। बहुत सी शुभ कामनाएँ आज भी मिलेंगी, लेकिन मैं तुम्हें नैनी-जेल से क्या भेंट भेज सकता हूँ ? मेरी भेंट न तो बहुत स्थूल—पार्थिव—और न ठोस हो सकती है। वह तो हवा-सी हलकी होगी, जिसका चित्त तथा आत्मा से संबंध हो। वह तो किसी वैसी ही वस्तु से मिलती-जुलती होगी, जैसी कोई सुरबाला तुमको भेंट में दे—कोई ऐसी वस्तु, जिसे कैद-खाने की ऊँची दीवारें भी नहीं रोक सकतीं।

तुम जानती हो, प्यारी बेटी, उपदेश देना और सत्परामर्श की अंजलियाँ बाँटना मुझे कितना अप्रिय है। जब कभी ऐसा करने को मेरा मन होता है, तब मुझे तुरंत एक बड़े बुद्धिमान् आदमी की वह कहानी

---

* यह पत्र पं० जवाहरलाल नेहरू ने एकमात्र पुत्री इन्दिरा के लिए लिखा था। इन्दिरा की जन्मतिथि ईसाई तिथिपत्र के अनुसार, १९ नवम्बर है। लेकिन विक्रमीय संवत् के अनुसार वह २६ आक्टोबर को मनाई गई थी।

याद आ जाती है, जिसे मैंने एक बार पढ़ा था। शायद किसी दिन तुम भी उस किताब को पढ़ो, जिसमें वह कहानी है। तेरह सौ वर्ष हुए, ज्ञान और विद्या की खोज में एक बहुत बड़ा यात्री चीन से भारतवर्ष आया था। उसका नाम था ह्यु‌यनसाँग। उसकी ज्ञान-पिपासा इतनी अधिक तीव्र थी कि वह उत्तर के रेगिस्तानों और पर्वतों को पार करता हुआ यहाँ आया। उसने अनेक विपदाओं को झेला और बहुत-सी बाधाओं का सामना कर उन पर विजय पाई। उसने भारत में अनेक वर्ष बिताए। आप पढ़ता और दूसरों को पढ़ाता रहा, विशेषकर नालंद के उस बड़े विश्वविद्यालय में, जो उस समय उस नगर के पास था, जो तब पाटलिपुत्र और अब पटना के नाम से विख्यात है। ह्यु‌यनसाँग बड़ा पंडित हो गया। उसे धर्म—बुद्ध के धर्म—के आचार्य की उपाधि मिली। उसने सारे हिन्दुस्तान का भ्रमण किया और जो लोग उस पुराने जमाने में इस विशाल देश में रहते थे, उनको देखा तथा उनके आचार-विचारों का अध्ययन किया। बाद में उसने अपनी यात्रा का वर्णन एक किताब में लिखा। यही वह किताब है, जिसमें वह कहानी है, जो मुझे (प्रायः) याद हो आती है। कहानी दक्षिण भारत के एक उस मनुष्य के विषय में है, जो कर्णसुवर्ण को गया था। कर्णसुवर्ण बिहार के आधुनिक भागलपुर के पास एक नगर था। ह्यु‌यनसाँग ने लिखा है कि यह आदमी अपने पेट और कमर के चारों ओर ताम्रपत्र लपेटे रहता था, और उसके सिर पर एक मशाल जला करती थी। हाथ में दंड लिये और अपनी महत्ता के अभिमान में अकड़ता हुआ वह इस विचित्र वेश-भूषा में सब जगह विचरता था। यदि कोई उससे उसकी इस विचित्र वेश-भूषा के संबंध में पूछता तो वह उससे कहता—'मुझे भय लगता है कि यदि मैं ताम्रपत्रों से अपने पेट को न कसे रहूँ तो कहीं मेरा पेट ही न फट जाय, और अपने सिर पर रोशनी मैं इसलिए रखता हूँ कि मेरे हृदय में संसार के मूर्खों के लिए करुणा है, जो अंधकार में भटकते फिरते हैं।

अस्तु, मुझे अच्छी तरह मालूम है कि बहुत अधिक ज्ञान के कारण मेरे पेट के फटने की कोई आशंका नहीं। इसीलिए मुझे न तो ताम्रपत्र और न फौलाद ही के पत्तर पहनने की जरूरत है। मुझे विश्वास है कि जो थोड़ा बहुत ज्ञान मुझमें है, वह कम से कम मेरे उदर में तो नहीं निवास करता। वह चाहे जहाँ रहता हो, पर उससे कहीं अधिक को, मुझे आशा है, वहाँ पर जगह मिल सकती है। उसके लिए वहाँ पर जगह की कमी की कुछ भी संभावना नहीं है। यदि मेरा ज्ञान इतना परिमित है तो मैं दूसरों के सामने ज्ञानी होने का ढोंग कैसे रच सकता हूँ, या दूसरों को नेक सलाह कैसे दे सकता हूँ? इसलिए मेरी सदा से यही धारणा रही है कि क्या उचित है और क्या अनुचित, क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए—इन बातों के जानने का सबसे अच्छा ढंग उपदेश देना नहीं, किंतु आपस में बैठकर विचार करना है। बहस-मुबाहसे से कभी-कभी सत्य का कुछ अंश प्रकट हो जाता है। तुमसे बातें करने में मुझे सदा सुख होता है। हम दोनों बहुत से विषयों पर विचार करते भी रहे हैं, लेकिन संसार सुविस्तृत है और हमारी दुनिया से परे दूसरे भी अनेक अनोखे और रहस्यपूर्ण लोक हैं। अतएव हममें से किसी के जी ऊबने की न तो जरूरत है और न उस मूर्ख तथा घमंडी आदमी की तरह, जिसकी कहानी ह्युयनसाँग ने लिखी है, यही समझना चाहिए कि हमें जो कुछ जानना था, वह सब हम जान चुके और अब बड़े विद्वान् हो गये हैं। शायद यह अच्छा ही है कि हम सब के सब बहुत बुद्धिमान् नहीं हो जाते, क्योंकि बहुत बड़े ज्ञानी पुरुष भी कभी-कभी इस बात को सोचकर उदास हो जाते होंगे कि उन्हें अब कुछ भी सीखने के लिए बाकी नहीं बचा। वे खोज और नई-नई बातों के सीखने के आनंद से उस महामाहत्मिक यात्रा के आनंद से, जो हममें से सबको, जिन्हें उसकी चाह है, प्राप्य है—वंचित रहने के लिए विवश हैं।

इसलिए मैं तुम्हें उपदेश तो दूँगा नहीं, लेकिन फिर करूँ तो क्या

करूँ ? पत्र-व्यवहार बात-चीत का स्थान तो ले नहीं सकता। कितना ही अच्छा पत्र क्यों न हो, रहेगा वह एक-तरफा ही। इसलिए यदि मैं कोई ऐसी बात कह जाऊँ, जिससे सदुपदेश की गंध निकलती हो तो उसको कड़वी गोली समझकर न निगलना। यही समझना कि मैंने तुम्हारे सामने सोचने-विचारने के लिए एक बात रख दी है, मानो हम दोनों आपस में बात-चीत कर रहे हों।

इतिहास की किताबों में जातियों के जीवन के महायुगों का हाल तुमने पढ़ा होगा। हम महापुरुषों, वीरांगनाओं और वीरोचित कार्यों का वर्णन पढ़ा करते हैं, और कभी-कभी स्वप्नों तथा कल्पनाओं में हमें ऐसा भासित होने लगता है, मानो हम भी उन्हीं युगों में पहुँच गए और प्राचीन काल के वीरों तथा वीरांगनाओं की तरह वीरता के काम करने लगे। क्या तुम्हें याद है कि जब तुमने पहले पहल 'जोन द आर्क' की कहानी पढ़ी थी, तब तुम कितनी मुग्ध हो गई थी ? उसी के समान कुछ कर दिखाने की तुम्हें कितनी अधिक उत्कंठा हो उठी थी ? साधारण स्त्री-पुरुष आमतौर से वीर नहीं होते। उन्हें तो नित्य-प्रति रोटी-दाल की चिंता सताया करती है, बाल-बच्चों की फिक्र रहती है, और घर-बार आदि के पचड़ों से फुरसत नहीं मिलती। लेकिन एक समय ऐसा भी आता है, जब समस्त जाति की जाति किसी उच्च ध्येय में पूर्ण विश्वास करने लगती है। तब भोले-भाले साधारण पुरुष तथा स्त्रियाँ तक वीरात्माएँ बन जाती हैं, और इतिहास उत्साह-वर्धक तथा युग-निर्धारक हो जाता है। बड़े-बड़े नेताओं में कुछ विशेषता होती है, जो सारी जाति में जान डाल देती और उनसे बड़े-बड़े काम करा लेती है।

वह संवत्सर, जिसमें तुम्हारा जन्म हुआ था—सन् १९१७—इतिहास के प्रमुख संवत्सरों में से एक था। उसमें एक बहुत बड़े नेता ने जिसका हृदय दीन-दुखियों के लिए प्रेम और समवेदना से भरा था, अपनी जाति-वालों से ऐसे-ऐसे काम कराए कि उनसे इतिहास का एक उत्कृष्ट और

चिरस्मरणीय अध्याय भर गया। उसी महीने में, जिसमें तुम पैदा हुई थीं, लेनिन ने अपने विशाल विप्लव को शुरू किया। इस क्रांति से रूस और साइबेरिया की काया पलट गई। आज भारतवर्ष में एक दूसरे बड़े नेता ने जो पीड़ितों की पीड़ा से द्रवित तथा उनकी सहायता करने के लिए प्राणपण से उत्सुक हैं, हमारे देशवासियों को अथक उद्योग और प्रशंसनीय त्याग के लिए उत्साहित किया है, ताकि वे फिर आजाद हों और देश के भूखे, दीन तथा पददलित अपने अपने बोझों से मुक्त हो जायँ। बापूजी (महात्मा गाँधी) जेल में पड़े हैं, लेकिन उनके संदेश का जादू भारत के करोड़ों आदमियों के हृदयों में अपना प्रभाव जमा रहा है। मर्द, औरत तथा छोटे-छोटे बच्चे अपनी छोटी-छोटी झोपड़ियों से बाहर निकलकर भारत की आजादी के सिपाही बन रहे हैं। हिन्दुस्तान में आज दिन हम नए इतिहास की रचना कर रहे हैं। तुम्हारा और हमारा यह सौभाग्य है कि यह सब हमारी आँखों के सामने हो रहा है। हमारा यह सौभाग्य है कि हम लोग भी इस महानाटक में कुछ भाग ले सकते हैं।

इस बड़े आंदोलन में हमारा कैसा आचरण होगा और उसमें हम क्या भाग लेंगे? मैं नहीं जानता कि इस काण्ड में कौन सा भाग हमारे जिम्मे पड़ेगा। वह चाहे जैसा हो, हमें यह याद रखना होगा कि हम कोई ऐसी बात न कर बैठें, जिससे हमारे ध्येय पर धब्बा लगे या हमारे देशवासियों की बदनामी हो। यदि हमको भारत के सैनिक बनना है तो भारत की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए हमको उत्तरदायी होना होगा। वह मान-मर्यादा एक पवित्र थाती है। अक्सर हमें इस बात का निर्णय करने में दुविधा हो सकती है कि अब हमें क्या करना चाहिए। यह तय करना हँसी-ठट्टा नहीं कि क्या ठीक है और क्या नहीं। जिस समय कभी तुम्हें दुविधा घेरे उस समय के लिए खरे-खोटे को परखने की मैं तुम्हें एक छोटी-सी कसौटी देता हूँ। सम्भव है, उससे तुम्हें सहायता मिले। तुम कभी कोई बात लुक-छिपकर न करना, और न कोई ऐसी ही बात करना

जिसे तुम गुप्त रखना चाहो, क्योंकि किसी बात को छिपाने की इच्छा का अर्थ यह है कि तुम भयभीत हो। भय बुरी चीज है। वह तुम्हारे आत्म-सम्मान के विरुद्ध है। तुम वीर बनो। फिर तो सब बातें आप से आप ठीक उतरती जायँगी। यदि तुम वीर हो तो किसी से न तो डरोगी और न कोई ऐसी बात ही करोगी, जिसके कारण तुम्हें लज्जित होना पड़े। तुम्हें मालूम है कि हमारे विशाल स्वतंत्रता के संग्राम में, जो बापूजी के नेतृत्व में चल रहा है, लुक-छिपकर काम करने के लिए कोई स्थान नहीं। हमें कुछ छिपाना नहीं है। जो कुछ हम करते या कहते हैं, उसके लिए हमें किसी का भय नहीं। हम तो सूर्य के प्रकाश में काम करते हैं। इसी तरह हमें अपने निजी जीवन में भी सूर्य (के प्रकाश) के साथ दोस्ती करनी चाहिए। हमें कोई काम छिपकर या आँख बचाकर न करना चाहिए। हम सबको कभी-कभी एकांत में रहने की आवश्यकता होती है। ऐसा होना उचित भी है। लेकिन यह चोरा-चोरी काम करने से भिन्न है। यदि प्यारी बेटी, तुमने ऐसा किया तो चाहे कुछ भी क्यों न घटित हो तुम सदा दिव्य संतान की तरह निर्भीक, शांत और स्थिर-चित्त रहोगी।

मैंने तुम्हें एक बहुत लंबा पत्र लिख डाला। इसपर भी अभी बहुत कुछ कहने को बाकी है। एक पत्र में भला सब कैसे समा सकता है!

मैंने ऊपर कहा है कि आजादी की जो बड़ी लड़ाई हमारे देश में छिड़ी है उसके देखने का तुम्हें सौभाग्य प्राप्त है। तुम इस बात में भी बड़ी सौभाग्यशालिनी हो कि तुम्हारी माँ एक बहुत ही वीर और अपूर्व नारी हैं। यदि तुम्हें कभी शंका, संशय या संकट घेरे तो उनसे बढ़कर तुम्हें कोई दोस्त नहीं मिल सकता।

बिदा बेटी! यही मेरी कामना है कि तुम भारत की सेवा के लिए वीर सैनिक बनो।

मेरा प्रेम और शुभ आशीर्वाद तुम्हें पहुँचे।

नए वर्ष की एक सौगात

जनवरी १, १६३१

क्या तुम्हें उन पत्रों की याद है जो दो साल से अधिक हुए मैंने तुम्हें लिखे थे ? तब तुम मंसूरी में थी और मैं इलाहाबाद में। तुम्हें वे पसंद आए थे, ऐसा तुमने मुझसे कहा था। मैं बहुधा यह सोचा करता हूँ कि क्यों न मैं उसी पत्रमाला को जारी रक्खूँ और अपनी दुनिया की कुछ बातें तुम्हें बताने की चेष्टा करूँ। संसार की भूतकालिक कहानी तथा महापुरुषों, वीरांगनाओं और प्रसिद्ध घटनाओं की गाथाओं के विषय में जिनसे वह भरी पड़ी है, मनन करना बड़ा ही मनोरंजक है। इतिहास पढ़ना अच्छा है। लेकिन उससे भी अधिक मनोरंजक और चित्ताकर्षक है इतिहास के निर्माण में सहायता देना। तुम्हें मालूम है कि आज दिन हमारे देश में इतिहास का निर्माण हो रहा है। भारत का भूतकाल बहुत ही विस्तृत, अति-विस्तृत है, जिसका आदि अतीत के कोहरे में ढका पड़ा है। उसमें अनेक दुःखद और शोचनीय युग भी हुए हैं, जिनके कारण हमें लज्जा और ग्लानि होती है। लेकिन सब मिलाकर वह ज्वलंत भूत-काल है, जिसका हमें अभिमान हो सकता है। उसका ध्यान करने से हमें सुख होता है। तो भी आज हमें भूतकाल के चिंतन का अवकाश नहीं। वह तो भविष्य है, जो हमारे चित्त में व्याप रहा है—वह भविष्य जिसे हम रच रहे हैं, जिसमें हमारा सारा समय तथा सारी शक्तियाँ लगती हैं।

मुझे यहाँ नैनी-जेल में इच्छानुसार पढ़ने और लिखने का पूरा अव-काश मिलता रहा है। लेकिन मेरा मन भटकता फिरता है। मैं उस महान् आंदोलन के संबंध में सोचा करता हूँ, जो जेल के बाहर चल रहा है। दूसरे क्या कर रहे हैं, यदि मैं बाहर रहता तो क्या करता, इन बातों का भी खयाल बना रहता है। वर्तमान और भविष्य के विचारों से मेरा

मस्तिष्क इतना भरा है कि भूतकाल के विषय में सोचने की मुझे फुरसत नहीं। इस पर भी मैं यह मानता हूँ कि जब मैं बाहर के काम में भाग नहीं ले सकता, तब मेरे लिए उसकी चिंता करना ठीक नहीं।

लेकिन इसका असली कारण---क्या चुपके से मैं उसे तुम्हारे कान में कह दूँ कि क्यों मैं अभी तक लिखने को टालता रहा---दूसरा ही है। मुझे संदेह होने लगा है कि क्या मुझमें इतना ज्ञान है कि मैं तुम्हें पढ़ा सकूँ? तुम इतनी जल्दी-जल्दी बढ़ रही हो और इतनी बुद्धिमती लड़की होती जाती हो कि जो कुछ मैंने स्कूल, कालेज तथा उसके बाद सीखा था, वह सब सम्भव है तुम्हें अपर्याप्त और प्रत्येक दृष्टि से नीरस जँचे। सम्भव है कुछ समय बाद तुम गुरू का आसन ग्रहण करो और मुझे बहुत-सी नई-नई बातें सिखाओ। जैसा तुमको मैंने पिछले वर्षगाँठ वाले पत्र में लिखा था, मैं उस ज्ञानी पुरुष की तरह बिलकुल नहीं हूँ जो अपने शरीर में ताम्रपत्र लपेटकर इसलिए घूमा करता था कि कहीं ज्ञान की अधिकता के कारण उसका पेट ही न फट जाय।

जब तुम मंसूरी में थी, तब संसार के प्राथमिक दिनों के विषय में लिखना मेरे लिए आसान था, क्योंकि उन दिनों का हमें जो कुछ ज्ञान है वह अस्पष्ट और अनिश्चित है। लेकिन ज्यों-ज्यों हम उस अतीत काल से निकलते आते हैं, त्यों-त्यों इतिहास का धीरे-धीरे विकास होने लगता और संसार के विभिन्न देशों में मनुष्य की विचित्र लीला का आरंभ दिखाई देता है। पर इस लीला में, जो कभी-कभी तो बुद्धि से युक्त लेकिन अधिकतर अवसरों पर उच्छृंखलता और मूर्खता से भरी होती थी, मनुष्य का पीछा करना कोई आसान काम नहीं है। किताबों की मदद से इसकी चेष्टामात्र की जा सकती है। लेकिन नैनी-जेल में पुस्तकालय तो है नहीं। इसलिए मुझे आशंका है कि लाख इच्छा होते हुए भी मैं तुमको संसार के इतिहास का कोई क्रमबद्ध वृत्तांत सुनाने में सर्वथा असमर्थ ही रहूँगा।

लड़के और लड़कियों के लिए किसी एक ही देश के इतिहास का पढ़ना और वह भी प्रायः कुछ तारीखों तथा थोड़ी-सी घटनाओं को कंठस्थ करने की प्रणाली द्वारा, मुझे बेहद नापसंद है। इतिहास तो सुसंघटित और सम्पूर्ण समष्टि का नाम है। तुम किसी भी देश के इतिहास को तब तक अच्छी तरह से नहीं समझ सकती, जब तक तुम्हें यह न मालूम हो कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या घटनाएँ घट चुकी हैं। मुझे आशा है कि तुम इतिहास को इस संकुचित ढङ्ग से न पढ़ोगी कि एक या दो देशों के इतिहास ही तक अपने को सीमित रक्खो। तुम्हें तो सारे संसार का सिंहावलोकन करना चाहिए। सदा याद रखना कि भिन्न-भिन्न जातियों में उतना अंतर नहीं है, जितना हम लोग अनुमान करते हैं। नक्शे और नक्शों की पोथियाँ हमें भिन्न-भिन्न देशों को अलग-अलग रंगों में रँगकर दिखाती हैं। निस्सन्देह जातियों में पारस्परिक भेद हैं। परंतु वे एक दूसरे से बहुत-सी बातों में बहुत कुछ मिलती-जुलती भी हैं। यह उचित है कि हम इस बात को याद रक्खें, जिसमें नक्शों के रंगों या राष्ट्रीय सरहदों को देखकर हम भटक न जायँ।

अपनी इच्छा के अनुसार मैं तुम्हारे लिए इतिहास नहीं लिख सकता। उसके लिए तुम्हें दूसरी पुस्तकों का आश्रय लेना पड़ेगा। लेकिन भूतकाल के विषय में और उन जातियों के बारे में, जो प्राचीन युगों में हुई हैं तथा जिन्होंने संसार के रंग-मंच पर बहुत बड़ा भाग लिया है, मैं तुमको समय समय पर इच्छानुसार लिखता रहूँगा।

मुझे नहीं मालूम कि मेरे पत्र तुम्हें भाएँगे या उनसे तुम्हारा कुतूहल जाग्रत होगा। सचमुच, मुझे यह भी नहीं मालूम कि तुम उन्हें कब देखोगी या कभी तुम उन्हें देख भी पाओगी। कितनी विचित्र बात है कि हम दोनों इतने समीप होते हुए भी एक दूसरे से कितने दूर हैं। मंसूरी में जब तुम थी, तब तुम मुझसे सैकड़ों मील दूर थीं। मैं तुम्हें जितनी बार चाहता, उतनी बार पत्र भेज सकता था और जब तुम्हें देखने की

लालसा बलवती हो उठती थी तब मैं तुम्हारे पास भी पहुँच जाता था। लेकिन अब हम दोनों जमुना के दो किनारों पर रहते हैं। दोनों में कुछ अधिक अंतर नहीं है। लेकिन नैनी-जेल की ऊँची-ऊँची दीवारें हम दोनों को एक दूसरे से पूरी तौर से जुदा करती हैं। हर पखवारे में मैं तुम्हें एक पत्र लिख सकता हूँ, और पंद्रह दिन में एक पत्र मुझे मिल भी सकता है। पंद्रह दिन में एक बार बीस मिनट की मुलाकात भी कर सकता हूँ। ये बंधन तो ठीक ही हैं। हम उन वस्तुओं का बहुत कम आदर करते हैं, जो हमें सस्ती दर पर मिल जाती हैं। मेरा तो यह विश्वास हो चला है कि जेल में कुछ दिनों का निवास प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा का एक वांछनीय अंग है। सौभाग्य से इस समय देश में हजारों लाखों ऐसे मौजूद हैं, जिन्हें यह शिक्षा मिल रही है।

मैं नहीं कह सकता कि जब तुम इन पत्रों को देखोगी, तब इन्हें पसंद करोगी। लेकिन मैंने इन्हें स्वांतः सुखाय (अपने सुख के लिए) लिखने का इरादा कर लिया है। इनके कारण तुम मेरे बहुत पास आ जाती हो, और मुझे ऐसा मालूम होने लगता है कि मैं तुमसे बातें कर रहा हूँ। बहुधा मैं तुम्हारी बाबत सोचा करता हूँ, लेकिन आज तो मेरे चित्त से पलभर के लिए भी तुम विलग नहीं हुई। आज नए वर्ष का पहला दिन है। जब मैं बहुत सवेरे चारपाई पर पड़ा हुआ तारों को देख रहा था तब मैं विगत महत्त्वपूर्ण वर्ष की, उसकी आशाओं, वेदनाओं और उल्लासों की तथा उसमें किए गए बड़े-बड़े और साहसपूर्ण कार्यों की याद करता रहा। मुझे यरवदा-जेल की कोठरी में बैठे हुए बापूजी की याद आई, जिन्होंने अपने जादूभरे स्पर्श से हमारे बूढ़े देश को फिर से नौजवान और शक्तिशाली बना दिया है। मुझे दादू (इंदिरा के पितामह पंडित मोतीलाल नेहरू) तथा अन्य बहुत से लोगों की याद आई। विशेषकर मुझे तुम्हारी और तुम्हारी माँ की याद आती रही। उसके बाद प्रातःकाल ही मुझे यह सूचना मिली कि तुम्हारी माँ गिरफ्तार कर जेल

भेज दी गई है। मेरे लिए नये वर्ष का यह एक सुखद उपहार था। बहुत पहले से इसकी संभावना थी। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि तुम्हारी माँ पूर्णरूप से प्रसन्न और संतुष्ट हैं।

लेकिन तुम अकेली हो गईं। पखवारे में एक बार तुम अपनी माँ को और एक बार मुझको देख सकती हो। तुम हम दोनों के संदेशे एक दूसरे को पहुँचाया करोगी। लेकिन मैं तो कागज और कलम लेकर बैठूँगा और तुम्हारी याद करूँगा। तब तुम चुपके से मेरे पास आ जाओगी, और हम दोनों तरह-तरह की बातें करेंगे, भूतकाल के स्वप्न देखेंगे तथा भविष्य को भूत से भी अधिक समुज्ज्वल बनाने के साधन ढूँढ़ निकालेंगे। इसलिए, आओ, इस नव-वर्ष के प्रथम दिवस पर हम प्रतिज्ञा करें कि इसके पहले कि यह वर्ष जीर्ण-शीर्ण होकर चल बसे, हम भविष्य के विषय में अपने ज्वलन्त स्वप्न को वर्तमान के अधिक समीप ले आवेंगे, और भारत के भूतकाल को इतिहास का एक आलोक-मय पृष्ठ भेंट करेंगे।

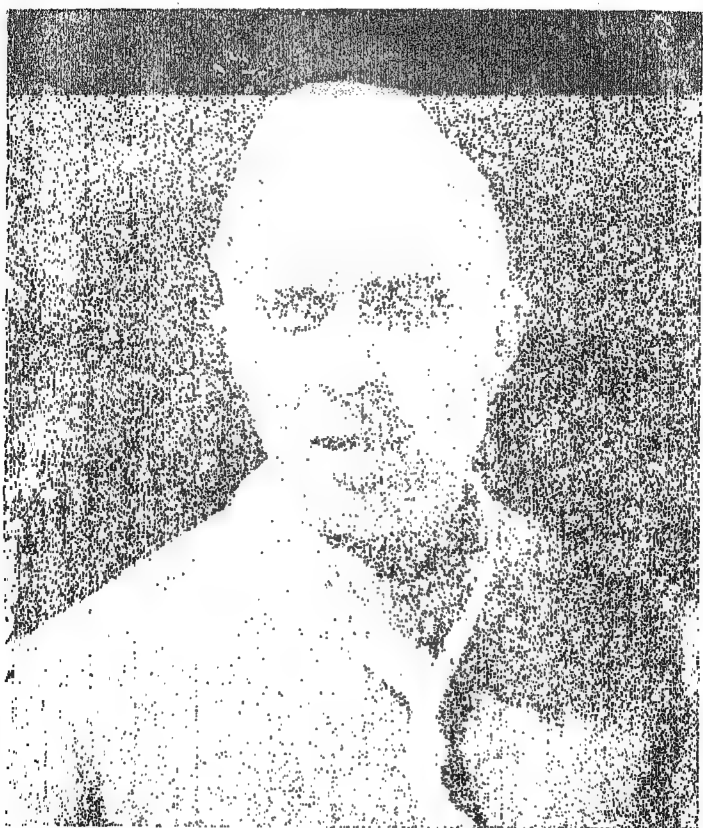
देवताओं का स्नेहभाजन अशोक

मार्च ३०, १९३२

मुझे आशंका है कि राजा-महराजाओं की निंदा करना मुझे आवश्यकता से कुछ अधिक भाता है। उनमें बहुत कम ऐसे गुण मुझे दिखाई देते हैं, जिनके कारण, मैं उनकी प्रशंसा करूँ या उनके प्रति मेरे हृदय में श्रद्धा हो। लेकिन अब मैं एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख करने जा रहा हूँ, जो राजाधिराज होते हुए भी महागुणशाली और श्रद्धास्पद था। वह चंद्रगुप्त मौर्य का पौत्र, अशोक, था। अपनी 'इतिहास की रूप-रेखा' नामक पुस्तक में उसके संबंध में लिखते हुए, एच् जी. वेल्स ने (जिसके कुछ उपन्यास तुमने पढ़े होंगे) कहा है—

"संसार के रंग-मंच को खचा-खच भरनेवाले हजारों, लाखों नर-

पतियों, राव-राजाओं, अमीर-उमरावों और सरदार-नवाबों की नामाव-



माननीय पं० जवाहरलाल नेहरू

लियों के जमघट में केवल अशोक ही का नाम चमकता है, और चमकता है प्रायः एकाकीः मानो, कोई नक्षत्र चमकता हो। वोल्गा के तट से

जापान तक लोग उसके नाम का आज भी आदर करते हैं। चीन, तिब्बत और भारत से यद्यपि उसके सिद्धांत उठ गये, परन्तु उन देशों ने उसकी महत्ता की अनुश्रुति को सुरक्षित रक्खा है। कानस्टैंटाइन और शार्लमेन की अपेक्षा उसके नाम को कहीं अधिक प्राणी सम्मान के साथ आज दिन भी लेते हैं।"

यह वास्तव में उच्च कोटि की प्रशंसा है। लेकिन अशोक इसका अधिकारी है। भारतीय इतिहास के इस युग का ध्यान एक भारतीय के लिए विशेष रूप से सुखदायी है।

ईसवी संवत् के आरंभ से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व चंद्रगुप्त की मृत्यु हुई। इसके बाद उसका लड़का, बिंदुसार, गद्दी पर बैठा। उसने २५ साल तक शांतिमय शासन किया और ग्रीक जगत् से सम्पर्क स्थापित रक्खा। उसकी राजसभा में मिस्र के टालैमी और पश्चिमी एशिया के सैल्यूकस के पुत्र, एंटिओकस के राजदूत रहते थे। विदेशों के साथ व्यापार होता था, और ऐसा कहा जाता है कि मिस्रवाले भारत के नील से अपना कपड़ा रँगा करते थे। यह भी कहा जाता है कि वे अपने मृतकों के शवों को भारतीय मलमल में लपेटते थे। बिहार में कुछ ऐसे भग्नावशेष मिले हैं, जिनसे अनुमान होता है कि मौर्य्य युग से भी पहले वहाँ पर एक प्रकार का शीशा बनाया जाता था। तुम्हें यह बात रोचक मालूम होगी कि मैगैस्थनीज ने, जो चंद्रगुप्त के दरबार में एलची होकर आया था, लिखा है कि भारतीयों को सुन्दर वस्तुओं और उत्तम परिधानों से बड़ा प्रेम था। उसने इस बात का विशेष रूप से वर्णन किया है कि अपनी लम्बाई को बढ़ाने के लिए लोग जूते पहना करते थे! इससे तो यही सिद्ध होता है कि ऊँची एड़ी के जूता का चलन एकदम आधुनिक नहीं है।

बिन्दुसार की मृत्यु होने पर अशोक २६८ ई० पू० में उस विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जिसके अन्तर्गत उत्तरीय और मध्य भारत था और जो मध्य-एशिया तक फैला हुआ था। भारत के दक्षिणी

और दक्षिणी-पूर्वी भागों को अपने अपने राज्य में मिलाने की नीयत से, उसने अपने शासन-काल के नवें वर्ष में कलिंग को जीतने के लिए चढ़ाई की। महानदी, गोदावरी तथा कृष्णा नदियों से घिरा हुआ कलिंग का राज्य भारत के पूर्वीय तट पर स्थित था। कलिंगवाले बड़ी वीरता से लड़े; लेकिन भयानक मार-काट के बाद उन्हें हार माननी पड़ी। इस युद्ध और इस नर-हत्या का अशोक पर बहुत असर पड़ा। लड़ाई और उसके कृत्यों से उसको घृणा हो गई। इसके बाद से उसने युद्ध से दूर ही रहने का संकल्प कर लिया। दक्षिण के एक छोटे-से टुकड़े को छोड़कर शेष सब भारत उसके अधीन था। उसके लिए इस छोटे-से टुकड़े को जीत लेना सरल था। तो भी उसने अपना हाथ रोक लिया। एच्० जी० वैल्स के कथनानुसार, अशोक, ही एक ऐसा युद्धप्रवृत्त—जंगी—सम्राट् हुआ है, जिसने विजय के बाद भी युद्ध का परित्याग किया हो। हमारे लिए यह सौभाग्य की बात है कि हमें अशोक ही की शब्दावली उपलब्ध है, जिसमें उसने अपने भावों और कृत्यों का उल्लेख किया है। हमें बहुत से अभिलेखों* में, जो चट्टानों या ताम्र-पत्र पर खोदे गये थे, प्रजा या भावी जगत् के लिए उसके संदेश मिलते हैं। तुम्हें मालूम है कि प्रयाग के किले में एक ऐसा ही अशोक का स्तम्भ है। हमारे सूबे में ऐसे और भी अनेक अभिलेख मिलते हैं।

इन राजविज्ञप्तियों में अशोक ने हमें युद्ध और विजय के कारण होनेवाली हत्या के प्रति अपने शोक-संताप को बताया है। उसका कहना है कि धर्म्म से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजयी होना ही असली धर्म्म है। लेकिन मैं तुम्हारे लिए इन राजविज्ञप्तियों से कुछ अवतरण दूँगा। उन्हें पढ़ते-पढ़ते हम मुग्ध हो जाते हैं और उनकी बदौलत अशोक तुम्हारे बहुत ही समीप आ जायँगे।

एक अभिलेख में लिखा है, "कलिंग को देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी राजा ने अपने अभिषेक के आठवें वर्ष के बाद जीता। एक लाख और

---

* इन अभिलेखों को अशोक ने 'धर्म्मलिपि' कहा है।

पच्चास हजार मनुष्य बन्दी बनाकर वहाँ से लाये गये, एक लाख मारे गए, और इनसे कई गुनी अधिक संख्या में आदमी मरे।"

"कलिंग को साम्राज्य में मिलाने के बाद ही से देवताओं का प्यारा प्रियदर्शी राजा धर्म्माचरण के प्रक्रम, धर्म्म में निष्ठा और धर्म्म के प्रचार में प्रवृत्त हुआ। इस प्रकार कलिंगों को जीतने का अनुशोचन देवताओं के प्यारे राजा को हुआ, क्योंकि अपराजित देश के पराजय में लोगों का वध, मरण और देश-निर्वासन निहित हैं। इसके कारण देवताओं के प्यारे प्रियदर्शी को दुःख और अनुताप होता है।" †

आगे चलकर राजविज्ञप्ति में यह कहा है कि कलिंग में जितने आदमी मारे या बन्दी बनाए गए, उनके शतांश वा सहस्रांश भी यदि अब मारे या बन्दी बनाए जाएँ तो अशोक को असह्य दुःख होगा।

"यदि कोई अपकार करता है, तो देवताओं का प्यारा उसे भी क्षमा कर देगा, जहाँ तक उसे क्षमा करना सम्भव होगा। जो अटवियाँ (जंगली जातियाँ) देवताओं के प्यारे के विजित (साम्राज्य) में हैं, उनको भी देवताओं का प्यारा कृपा-दृष्टि से देखता है, उनसे भी अनुनय करता है कि वे धर्माचरण करें; क्योंकि यदि वह ऐसा न करें तो देववताओं के प्रियपात्र को अनुताप होगा। देवताओं का प्यारा सब जीवों की अक्षति, संयम, समचर्या और प्रसन्नता चाहता है।" *

अशोक ने अपने उद्देश्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि धर्म से मनुष्य-हृदयों के ऊपर विजय पाना ही सच्ची विजय है; और उसने हमें बताया है कि उसे इस प्रकार की सच्ची विजय न सिर्फ अपने ही साम्राज्य में, किन्तु दूर-दूर के राज्यों में भी प्राप्त हुई।

जिस धर्म का इन राजविज्ञप्तियों में बारम्बार उल्लेख मिलता है, वह बुद्ध का धर्म था। अशोक बौद्ध-धर्म का उत्साही अनुयायी हो गया था। उसने इस धर्म को फैलाने की भरसक चेष्टा की। लेकिन इस चेष्टा में

---

† अशोक का प्रधान शिलालेख नं० ८।

* अशोक का प्रधान शिलाभिलेख नं० १३।

बल या दबाव का नामोनिशान भी न था। लोगों के हृदयों को जीत कर वह उन्हें अपने मत का अनुयायी बनाना चाहता था। कम, बहुत ही कम, धार्मिक पुरुष अशोक के समान उदारचेता और क्षमाशील हुए हैं। लोगों को अपना अनुयायी बनाने के लिए ऐसे धार्मिक पुरुष बल, आतंक और कपट के प्रयोग से बहुत ही कम हिचके हैं। सारा इतिहास धार्मिक युद्धों और धार्मिक अत्याचारों के उदाहरणों से भरा पड़ा है। किसी दूसरी बात की अपेक्षा, धर्म और ईश्वर के नाम पर कहीं अधिक रक्त बहाया गया है। अतएव इस बात को याद रखना हितकर होगा कि भारत के एक सपूत ने, जो बड़ा धार्मिक पुरुष और शक्तिशाली साम्राज्य का अधिपति था, लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए किन साधनों का प्रयोग किया। यह एक विचित्र बात मालूम होती है कि कुछ ऐसे लोग हैं, जो यह सोचने-समझने की मूर्खता करते हैं कि धर्म और विश्वास तलवार या किरच की नोक से लोगों के गले के नीचे उतारे जा सकते हैं।

अतएव, देवताओं के प्यारे या, राजविज्ञप्तियों के अनुसार, 'देवानाम् प्रिय" अशोक ने पश्चिमी एशिया, अफ्रीका और योरप के राज्यों में अपने राजदूत भेजे। तुम्हें याद होगा कि उसने अपने भाई महेन्द्र और अपनी बहन संघमित्रा को लंका भेजा था। यह कहा जाता है कि ये दोनों गया के बोधिवृक्ष की एक शाखा अपने साथ लंका ले गये थे। अनुरुद्धपुर के मन्दिर में—क्या तुम्हें याद है—हम लोगों ने बोधिवृक्ष देखा था? हमें वहाँ के लोगों ने यह बताया था कि यही उस प्राचीन शाखा से उत्पन्न पेड़ है।

भारत में बौद्धमत जोरों से फैल गया। लेकिन अशोक की दृष्टि में कोरे मन्त्र-जप और पूजा-पाठ का नाम धर्म न था, बल्कि उसके लिए धर्म का अर्थ था लोक-सेवा और उत्तम कर्मों का करना। इसलिए देश भर में उद्यान, औषधालय, कूप-तड़ाग और राज-पथों का निर्माण होने लगा। स्त्रियों की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध था। चार नगरों में विशाल विश्वविद्यालय थे—सुदूर उत्तर में पेशावर के पास तक्षशिला; मथुरा, जिसे

अँगरेज भद्दे ढंग से अब मटरा लिखते हैं; मध्य-भारत में उज्जैन; और बिहार में पटने के समीप नालन्द। न केवल भारत से किन्तु चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के दूर-दूर देशों से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे। ये ही विद्यार्थी लौटकर अपने-अपने घरों में बुद्ध के उपदेशों का सन्देश पहुँचाते थे। देश में चारों ओर बड़े-बड़े मठ स्थापित हो गए। वे विहार कहलाते थे। पाटलिपुत्र या पटने के आस-पास इतने अधिक विहार थे कि प्रान्त-का-प्रान्त ही विहार या—आजकल की बोली में—बिहार के नाम से प्रसिद्ध हो गया। लेकिन, जैसा प्रायः होता आया है, इन विहारों से शिक्षण और तत्त्वज्ञान की स्फूर्ति थोड़े ही दिनों में विलुप्त हो गई। वे तो केवल ऐसे स्थान बन गए, जहाँ लोग पूजा-पाठ और चर्या-विशेष की लकीर पीटा करते थे।

जीव-रक्षा की अशोक को इतनी तीव्र उत्कंठा थी कि वह जानवरों की भी पीड़ा को देखकर द्रवित हो जाता था। जानवरों के लिए विशेष रूप से चिकित्सालय खोले गये थे। जानवरों के बलिदान का निषेध था। इन दोनों ही बातों में वह हमारे समय से भी थोड़ा बहुत आगे बढ़ गया था। आज दिन भी, दुर्भाग्य से, पशु-बलि किसी-न-किसी मात्रा में होती और धर्म का प्रमुख अंश मानी जाती है; और जानवरों की चिकित्सा का भी बहुत ही थोड़ा प्रबन्ध है।

अशोक के उदाहरण और बौद्धमत के प्रचार ने निरामिष भोजन को लोक-प्रिय बना दिया। उसके पहले ब्राह्मण और क्षत्रिय साधारणतया मांस खाते और शराब पीते थे। मांसाहार और मद्यपान दोनों ही अशोक के समय में बहुत घट गये।

इस तरह अशोक ने ३८ वर्ष तक शासन किया। शान्तिमय उपायों से लोक-संग्रह की चेष्टा में वह निरन्तर लगा रहा। सार्वजनिक कार्यों को करने के लिए वह सदा तैयार रहता था। "हर समय और प्रत्येक स्थान पर, चाहे मैं भोजन करता होऊँ या रनिवास में होऊँ, गर्भागार (शयना-

गार) में रहूँ या मन्त्रिगृह में होऊँ, सवारी पर जाता होऊँ या उद्यान में मिलूँ, राजकीय प्रतिवेदकों को चाहिए कि वे निरन्तर मुझे प्रजा का कार्य बताते रहें।" यदि कहीं पर कोई कठिनाई उठ खड़ी हो तो उसकी सूचना उसे तुरन्त मिलनी चाहिए, "चाहे जो समय या स्थान हो"; क्योंकि, जैसा वह कहता है, "सबका हित करना ही मैंने अपना कर्त्तव्य माना है।" ❀

अशोक का देहावसान २२६ ई० पू० में हुआ। मृत्यु के कुछ पहले वह राजपाट छोड़कर बौद्ध संघ का एक भिक्षु हो गया था।

मौर्यकालीन युग के बहुत थोड़े से भग्नावशेष हमें मिलते हैं। लेकिन जो कुछ मिलते हैं, वे ही भारत में आर्य-सभ्यता के प्राचीनतम अवशेष हैं, जो अभी तक खोज में मिले हैं (इस समय हम मोहेनजो दारो के भग्नावशेषों का उल्लेख नहीं करते)। काशी के पास सारनाथ में तुम मनोहर अशोक-स्तम्भ को देख सकती हो, जिसके शिखर पर सिंह बैठे हैं।

अशोक की राजधानी, पाटलिपुत्र, की महानगरी का एक टुकड़ा भी अब नहीं बचा। आज से पन्द्रह सौ वर्ष पहले, अथवा अशोक के छः सौ वर्ष बाद, फाहियान-नामक एक चीनी यात्री इस स्थान को देखने गया था। उस समय वह नगर समुन्नत और समृद्धिशाली अवस्था में था। लेकिन उसके समय में भी अशोक का पत्थरवाला राजमहल नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। सिर्फ उसके भग्नावशेषों ही को देखकर फाहियान बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है कि उसके निर्माता मनुष्य न रहे होंगे।

जो राजप्रासाद बड़े-बड़े पत्थरों से रचा गया था, वह नष्ट हो गया, और आज दिन उसका चिह्न तक नहीं मिलता। लेकिन अशोक की स्मृति एशिया के समस्त महाद्वीप में आज भी जीती-जागती है, और

❀ अशोक का प्रधान शिलाभिलेख नं० ६।

उसके अभिलेख आज भी हमें इस ढंग से अपना संदेश सुनाते हैं कि हम उनको समझ लेते और उनका आदर करते हैं। उन संदेशों से आज भी हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। यह पत्र बहुत बढ़ गया है। इसे पढ़ते-पढ़ते कहीं तुम ऊब न जाओ। इसलिए, अशोक की एक राजविज्ञप्ति से एक उद्धरण देकर मैं अब इसे समाप्त करूँगा—

"इस प्रकरण (कारण) से या उस प्रकरण से सभी पंथ आदरणीय हैं। ऐसा करनेवाला अपने पन्थ को ऊँचा उठाता है, साथ ही दूसरे पन्थों का भी उपकार करता है।"*

देहरादून-जेल से अन्तिम पत्र

हम समाप्त कर चुके, प्यारी बेटी? लम्बी कहानी का अन्त हो गया। मुझे अधिक लिखने की जरूरत नहीं है। लेकिन शान के साथ—धूम-धड़ाके के साथ—समाप्त करने की अभिलाषा मुझे एक और पत्र—यही अन्तिम पत्र—लिखने के लिए प्रोत्साहित करती है।

समय आ गया था कि मैं लिखने को समाप्त कर देता; क्योंकि दो साल की मेरी अवधि का अन्त भी बहुत समीप आ गया है। आज से तीन और तीस दिन बाद मुझे रिहा हो जाना चाहिए, यदि इसके पहले ही, जैसा जेलर समय-समय पर धमकाया करते हैं, मैं रिहा न कर दिया गया। पूरे दो साल अभी बिलकुल समाप्त नहीं हुए; लेकिन मुझे साढ़े तीन महीने की छूट मिली है, जैसे सभी नेकचलन कैदियों को मिला करती है। मैं भी एक नेकचलन कैदी समझा जाता हूँ, यद्यपि इस नेकनामी को कमाने की मैंने कुछ भी कोशिश नहीं की। इस तरह मेरी

---

* अशोक का मुख्य शिलाभिलेख नं० १२।

छठी सजा का खातमा है, और मैं निकल कर एक बार फिर सुविस्तुत संसार में विचरूँगा। लेकिन किस अभिप्राय से? इससे क्या लाभ, जब बहुत से मेरे दोस्त कैदखानों में सड़ रहे हैं, और सारा देश एक बहुत बड़ा जेलखाना-सा मालूम होता है?

मैंने जो पत्र लिखे हैं, उनका एक खासा पहाड़-सा बन गया है। मैंने स्वदेशी कागज पर न जाने कितनी अधिक मात्रा में सुन्दर स्वदेशी स्याही रँगी है। मैं कभी-कभी विस्मय के साथ सोचता हूँ कि क्या यह सब करना लाभदायक था? क्या यह सब कागज और स्याही तुम तक कोई ऐसा संदेह पहुँचायेगी, जिससे तुम्हें कुछ दिलचस्पी हो? निस्संदेह तुम कहोगी, हाँ; क्योंकि तुम सोचोगी कि और किसी जवाब से मुझे चोट लगेगी, और तुम मुझे इतना अधिक प्यार करती हो कि तुमको इस तरह की जोखिम उठाना न रुचेगा। तुम इन पत्रों की परवा करो या न करो, लेकिन इनके लिखने में मुझे जो आनंद मिला है, उससे वंचित करने की इच्छा तुम्हें कदापि नहीं हो सकती। पिछले दो लंबे-लंबे सालों में मैं इन पत्रों को प्रतिदिन तुम्हारे लिए लिखता रहा। तब जाड़ा था, जब मैं यहाँ आया था। जाड़े का स्थान हमारे अल्पकालिक वसन्त ने लिया। लेकिन गर्मी की उष्णता ने जल्द ही उसका संहार कर डाला; और जब पृथ्वी सूखकर कड़कने लगी और आदमी तथा मवेशी हवा के लिए छटपटा रहे थे, तब बरसात आ पहुँची और मेह का ताजा और शीतल जल चारों ओर अच्छी तरह फैल गया। वर्षा-ऋतु के बाद शरद्-ऋतु आई; आकाश अद्‌भुत रूप से स्वच्छ और नीलिमा-रञ्जित हो गया; और दोपहर के बाद का समय बहुत ही सुहावना मालूम होने लगा। एक संवत्सर का क्रम समाप्त हुआ, और फिर वही क्रम चल पड़ा—जाड़ा, गरमी, बरसात और वसन्त। यहाँ बैठा-बैठा मैं तुम्हें लिखा, तुम्हारी बाबत सोचा, ऋतुओं की गति को देखा, और अपनी बैरक की छत पर वर्षा के पटपट की ध्वनि को सुना करता हूँ—

"सुमधुर ! वर्षा-संगीत मधुर !
बरसीं बूँदें कर मधुमय स्वर
झर अम्बर से छर-छर, झर-झर
गिर भूतल पर, गिर भवनों पर !
खिल उठा अमित चिर-चिन्तित उर !
सुमधुर ! वर्षा-संगीत मधुर !!"†

बैनजमिन डिजरैली ने, जो उन्नीसवीं सदी का एक बड़ा अँगरेज राजनीतिज्ञ था, लिखा है कि "दूसरे आदमी निर्वासन और कारागार से दण्डित होने पर, यदि वे बच गए, हताश हो जाते हैं। साहित्यसेवी उन दिनों को अपने जीवन की सबसे मधुर तिथियों में गिनेगा।" उसने ह्यू ग्रोटियस के संबंध में यह बात लिखी है, जो सत्रहवीं शताब्दि में हालैण्ड का एक प्रसिद्ध दार्शनिक और विधान-शास्त्र का वेत्ता था। उसे आजन्म कारावास की सजा हुई थी; लेकिन दो साल की सजा काटने के बाद वह कैद से निकल भागा। उसने कैद के दो साल दार्शनिक और साहित्यिक काम में लगाए थे। बहुत-से प्रसिद्ध साहित्यकार कैदखानों में रह चुके हैं, जिनमें से सबसे अधिक ख्यातनामा दो हैं—एक तो स्पेन का सरवैंटीज, जिसने "डान क्वीजो" लिखा है, और दूसरा एक अँगरेज, जान बैनियन, जो "पिलग्रिम्स प्रोग्रेस" का रचयिता है।

मैं कोई साहित्यकार नहीं, और न मैं यही कहने के लिए तैयार हूँ कि वे कई वर्ष, जो मैंने जेल में बिताए, मेरे जीवन में सबसे अधिक मधुर थे। लेकिन मैं यह निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि पढ़ने-लिखने में उनको काटने में मुझे अत्यधिक सहायता पहुँचाई। मैं साहित्यकार नहीं,

---

† मूल में फ्रेंच पद्य हैं, जिनका ऊपर छायानुवाद दिया गया है। इस लेख के उद्धृत पद्यों का अनुवाद श्री 'नरेन्द्र' जी ने किया है।

—संपादक

और न इतिहासकार ही हूँ। फिर वास्तव में हूँ क्या? इस प्रश्न का उत्तर देना मुझे कठिन मालूम होता है। मैंने बहुत से कामों में टाँग अड़ाई है। मैंने कालेज में विज्ञान से आरंभ कर कानून को अपनाया, और जीवन की बहुतेरी बातों में दिलचस्पी लेने के बाद, अन्त में, जेल जाने के पेशे को अख्तियार किया, जो आजकल हिन्दोस्तान में लोकप्रिय हो रहा है और जिसे बहुत-से लोग अपनाते हैं!

मैंने इन पत्रों में जो कुछ लिखा है, उसे किसी भी विषय के सम्बन्ध में तुम्हें अन्तिम प्रमाण न मान लेना चाहिए। राजनीतिज्ञ प्रत्येक विषय पर रायजनी करना चाहता है, और उसे जितना ज्ञान होता है, उससे अधिक ज्ञान का वह सदा ढोंग भी रचा करता है। बहुत होशियारी के साथ उस पर नजर रखना चाहिए। मेरे ये पत्र महज छिछले चित्रण हैं, जो बहुत ही पतले धागे से एक में बँधे हैं। मैं विचरता-विचरता आगे बढ़ता गया। सदियों को एक-एक छलाँग में पार करता और बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाओं को छोड़ता हुआ मैं बढ़ गया हूँ। जिस घटना ने मुझे आकृष्ट किया, उसके समीप, अपना तंबू गाड़, मैं कभी-कभी काफी देर तक रम भी गया हूँ। जैसा तुम देखोगी, मेरे राग-द्वेष काफी स्पष्ट हैं, और इसी तरह जेल की मेरी मानसिक तरंगें भी साफ तौर से दिखाई देती हैं। मैं यह नहीं चाहता कि तुम इन सबको जैसे का तैसा ही मान लो। मुझमें बहुत से दोष भी निकलेंगे। एक जेल—जहाँ न तो पुस्तकालय है और न विश्वकोष के समान ग्रन्थ प्राप्य हैं—ऐतिहासिक विषयों पर लिखने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त स्थान नहीं हो सकता। मैंने बहुत कुछ सहारा उन बहुत-सी नोटबुकों का लिया है, जिनको मैंने उस समय से जमा करना शुरू किया, जब १२ वर्ष हुए मेरी जेलयात्रा का श्रीगणेश हुआ। यहाँ पर मेरे पास बहुत-सी किताबें भी आईं। वे आईं और चली गईं, क्योंकि मैं यहाँ पर एक [illegible] कर नहीं सकता था। मैंने निर्लज्जता के साथ उन [illegible] घटनाएँ

हड़प ली हैं। मैंने जो कुछ लिखा है, उसमें कोई नवीन बात नहीं है। शायद तुम्हें मेरे पत्रों को समझने में कभी-कभी कठिनाई हो। उन हिस्सों को छोड़ जाना। उनकी परवा न करना। मेरे व्यक्तित्व के उस अंश ने, जो सिनरसीदा है, कभी-कभी मुझे अपने वश में कर लिया, और मैं इस तरह लिखता गया, जिस तरह मुझे न लिखना था।

मैंने तुम्हें महज खाका दिया है। यह इतिहास नहीं है। जो कुछ है, वह है हमारे सुदीर्घ भूतकाल की केवल एक क्षणिक झलक। यदि इतिहास में तुम्हारी अभिरुचि है, यदि तुम इतिहास की मोहकता का कुछ अंश में भी अनुभव करती हो, तो तुम्हें आसानी से उन किताबों तक पहुँचने का मार्ग मिल जायगा, जिनसे भूतकालिक युगों के उलझे हुए सूत्रों के सुलझाने में तुम्हें बहुत कुछ सहायता मिलेगी। लेकिन महज किताबों के पढ़ने ही से मदद नहीं मिलेगी। यदि तुम भूतकालको जानना चाहती हो तो सहानुभूति के साथ और विचार-पूर्वक तुम्हें उसका मनन करना चाहिए। जो आदमी बहुत पहिले जीवित था, उसको समझने के लिए तुम्हें उसके वातावरण को समझना होगा। जिन परिस्थितियों के भीतर उसने अपना जीवन बिताया, और जिन विचारों से उसका मस्तिष्क भरा था, उनको भी समझना तुम्हारा धर्म्म है। यह सरासर भूल होगी यदि हम भूतकाल के मनुष्यों के विषय में अपनी सम्मति यह समझकर कायम करें कि मानो, वे आज दिन जीवित और हमारी ही तरह सोचते-विचारते हैं। आज दास-प्रथा का समर्थन करनेवाला एक भी आदमी न मिलेगा। लेकिन इस पर भी श्रद्धास्पद प्लेटो की यह सम्मति थी कि दासता आवश्यक है। थोड़े दिन हुए, लाखों आदमियों ने इसलिए जानें दे दी थीं कि संयुक्तराज्य (अमरीका) में गुलामी जारी रहे। हम वर्तमान की कसौटी पर भूतकाल को नहीं कस सकते। इस बात को तो सब लोग सहर्ष स्वीकार कर लेंगे। लेकिन सब लोग इस दूसरी बात को उसी तरह मानने को न तैयार होंगे कि वर्तमान को भी भूतकाल की कसौटी पर

कसना ठीक नहीं है। बहुत-से मत-मतान्तरों ने ऐसे परंपरागत विश्वासों और रीति-नीतियों को सड़ने-गलने से बचाने में विशेष सहायता पहुँचाई है, जो अपने जन्म के युग और देश में सम्भवतः कुछ उपयोगी रही हों, लेकिन आज-कल के जमाने के लिए नितांत ही अनुपयुक्त हैं।

तो फिर यदि तुम भूतकालिक इतिहास को सहानुभूति की दृष्टि से देखोगी तो रूखी-सूखी हड्डियाँ माँस और रक्त से भर आएँगी; और जीते-जागते, हमसे भिन्न, और बहुत कुछ हमारे ही समान मानव गुण-दोषों से युक्त, नर-नारी और बच्चों का एक बड़ा भारी जलूस, प्रत्येक युग और देश-देशान्तर से आता हुआ तुम्हें दिखाई देगा। इतिहास जादू का खेल नहीं है; लेकिन देखने को जिनके आँखें हैं उनके लिए उनमें भरपूर मात्रा में जादू मौजूद है।

इतिहास की चित्रशाला से असंख्य चित्रपटों का हमारे मन में जमघट लग जाता है—मिस्र, बैबिलोनिया, जिनेवा और प्राचीन भारत की सभ्यताएँ; हिन्दोस्तान में आर्यों का आगमन; योरप और एशिया में उनका प्रसार; चीनी संस्कृति का आश्चर्यजनक विवरण; नोसास और ग्रीस; साम्राज्यवादी रोम और बिजैंटियम; दो महाद्वीपों के एक कोने से दूसरे कोने तक अरबों का विजयकारी पद-बिक्षेप; भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान और उसका ह्रास; मंगोलों की विस्तृत विजय; योरप में मध्य-कालीन युग और उसके चमत्कारी गाथिक गिरजे; भारत में इस्लाम का पदार्पण और मुगलसाम्राज्य; पश्चिमी योरप में विद्या और कला का पुनः प्रसार; अमरीका और पूर्व के समुद्री मार्गों का अन्वेषण; बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रचलन और पूँजी-पंथ का विकास; व्यवसायवाद और योरोप के आधिपत्य तथा साम्राज्यवाद का विस्तार; और आधुनिक संसार में विज्ञान के चमत्कार!

बड़े-बड़े साम्राज्य उठे और गिरे; पर मनुष्य को उनकी सुध हजारों साल से लेकर उस समय तक फिर न आई, जब तक सहिष्णु खोजियों

बालू के नीचे से उनके खँडहरों को खोद न निकाला। लेकिन बहुत भाव, बहुत-सी कल्पनाएँ इस पर भी जीती-जागती बनी रहीं। वे साम्राज्यों की अपेक्षा अधिक बलशालिनी और चिरस्थायिनी सिद्ध हुईं।

अब कहाँ मिस्र के शक्ति-साज?
चिन्तन के गहरे गर्त्तों में हैं लीन सकल ऐश्वर्य आज?
हैं कहाँ आज अवनीतल पर यूनान और वह ट्राय नगर?
वेनिस का गर्व कहाँ भू पर? है कहाँ रोम का ताज आज?
उनके शिशुओं के स्वर्ण-स्वप्न—जीवित हैं, बस, वे स्वप्न आज!
थे वृथा, थिरकते-से सपने धुँधले, छायामय, छाया-से?
चल वात-सदृश चलते-फिरते, पर जीवित हैं वे स्वप्न आज!
चिन्तन के गहरे गर्त्तों में जब लीन सकल ऐश्वर्य साज!
इस प्रकार मैरी कालरिज ने गाया है।

भूतकाल हमारे लिए बहुत-से उपहार लाता है। संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान या सत्य के कुल पहलुओं का जो कुछ भी ज्ञान आज दिन हमें प्राप्त है, वह सब वास्तव में हमें अतीत या निकट भूतकाल की देन है। यह ठीक है कि हमें भूतकाल के प्रति अपनी कृतज्ञता स्वीकार करनी चाहिए। लेकिन भूतकाल ही तक हमारे कर्तव्य या हमारी कृतज्ञता का अन्त नहीं हो जाता। भविष्य के प्रति भी हमारा कर्तव्य है; और यह कर्तव्य भूतकाल के प्रति हमारे कर्तव्य से कहीं बढ़-चढ़कर है। कारण, जो होना था वह हो चुका, और उसका खातमा हो गया। हम उसे बदल नहीं सकते। भविष्य को तो अभी आना है, और हम कदाचित् उसको किसी अंश तक सुधार-सँवार सकें। यदि भूतकाल ने हमें सत्य का कुछ अंश दिया है, तो भविष्य ने भी सत्य का बहुत बड़ा अंश छिपा रक्खा है, और उस अंश को खोज निकालने के लिए वह हमें आमन्त्रित करता है। लेकिन भूत भविष्य से प्रायः ईर्ष्या करता और अपने भीषण चंगुल

में पकड़कर हमें कैद किए रहता है। हमें उसके साथ लड़ना पड़ता है, ताकि मुक्त होकर हम भविष्य की ओर बढ़ते चले चलें।

कहा जाता है कि हमको पढ़ाने के लिए, इतिहास के पास बहुत-से पाठ हैं। एक दूसरी भी कहावत है कि इतिहास अपने को कभी दोहराता नहीं। दोनों ही ठीक हैं; क्योंकि आँख बन्दकर उसकी नकल करने से, या यह आशा करने से कि वह अपने को दोहराए या उसका प्रवाह बन्द हो जाय, हम कुछ नहीं सीख सकते। लेकिन यदि हम उसके पीछे झाँककर देखें और उसको संचालित करनेवाली शक्तियों को खोजने की चेष्टा करें तो उससे हम कुछ-न-कुछ अवश्य सीख सकते हैं। इतना करने पर भी हमें शायद ही कभी सीधा-सादा उत्तर मिलता है। कार्लमार्क्स कहता है कि "इतिहास पुराने सवालों का इस उत्तर के अतिरिक्त और कोई उत्तर नहीं देता कि वह नए सवाल उपस्थित करे। पुराना जमाना श्रद्धा—अन्धी, निश्शंक श्रद्धा—का जमाना था। गत सदियों के विस्मय-कारी मन्दिर, मस्जिदें और गिरजे कदापि न बनते, यदि उनके शिल्पियों, बनानेवालों और जन-साधारण में दुर्जेय श्रद्धा न होती। जिन पत्थरों को उन्होंने श्रद्धा के साथ एक के ऊपर एक को रक्खा, या जिनपर उन्होंने सुन्दर-सुन्दर चित्रकारी अङ्कित की, उन्हीं पत्थरों से हमें उनके निर्माताओं की इस अजेय भक्ति का पता चलता है। मन्दिरों के स्तूप, मस्जिदों की सुकुमार मीनारें, गाथिक गिरजाघर—ये सब भक्ति की विस्मयोत्पादिनी गम्भीरता से ऊपर की ओर इशारा करते हैं; मानो, पत्थर या संगमरमर ऊपर के आकाश की वन्दना कर रहे हों। वे आज दिन भी हमें पुलकित कर देते हैं; यद्यपि जिस प्राचीन श्रद्धा को वे मूर्त करते हैं, उसका हममें अभाव है। लेकिन अब उस श्रद्धा के दिन चले गए, और उन्हीं के साथ पत्थर का मोहक स्पर्श भी जाता रहा। हजारों मन्दिर, मस्जिदें और गिरिजाघर निरन्तर निर्मित होते हैं; लेकिन उनमें उस आत्मा का अभाव है, जो उन्हें मध्यकालीन युग में सजीव करता था। उसमें और आज-कल

की व्यापारी इमारतों में—जो हमारे युग की प्रतिनिधि हैं—कुछ भी अन्तर नहीं रह गया।

हमारा युग एक भिन्न युग है। यह अविश्वास, संकल्प-विकल्प और संशय का युग है। प्राचीन विश्वासों में से बहुतों को हम अब मान नहीं सकते। क्या एशिया में, क्या योरप या अमेरिका में, उन पर हमारी कुछ भी निष्ठा नहीं रह गई—अतएव, नए तरीकों को, शक्ति के उन नवीन पहलुओं को, जो हमारी परिस्थिति के अधिक अनुकूल हैं, हम खोजते हैं। हम एक दूसरे से सवाल पूछते, बहस करते और तरह-तरह के वाद और दर्शनों को गढ़ते हैं। जैसे सुकरात के जमाने में, वैसे ही आज दिन भी हम शंका के युग में भर रहे हैं। लेकिन हमारी शंका एथेंस के से नगर ही तक सीमित नहीं है, वह जगद्व्यापिनी है।

जब संसार का अन्याय, दुःख-दैन्य, क्रूरता कभी-कभी हमें सताने लगती हैं, तब हमारी आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है और उनसे छुटकारा पाने का कोई मार्ग हमें नहीं सुझाई देता। मैथ्यू आरनाल्ड के के साथ हम भी अनुभव करने लगते हैं कि इस संसार में कोई आशा नहीं है; और जो कुछ भी हम कर सकते हैं, वह केवल इतना ही है कि एक दूसरे के प्रति हमारा व्यवहार सच्चा हो—

"विविध रम्य नूतन स्वप्नों से सज्जित है आशा का लोप ?—
किन्तु कहां सुख-स्नेह स्वप्न में कहाँ अचल विश्वास ? ज्योति दृढ़ ?
कहाँ शान्ति वह, स्वप्नदेश में—हर ले जो उर-उर का शोक ?
विविध रम्य नूतन स्वप्नों से सज्जित है यद्यपि वह लोक !
हम सब हैं तम-लीन क्षेत्र में—अनियन्त्रित-से युद्ध-नाद में,
युद्ध-निरत हैं यहाँ सैन्य-दल निशि में, तम में, बिन आलोक !
विविध रम्य नूतन स्वप्नों से सज्जित है यद्यपि वह लोक !"

और इतने पर भी यदि हम निराशामूलक दृष्टिकोण का आश्रय लें तो यह समझना चाहिए कि हमने न तो जीवन के और न इतिहास के पाठ

को ठीक-ठीक पढ़ पाया; क्योंकि इतिहास ही तो विकास, प्रगति और मनुष्य के लिए अनन्त उन्नति की सम्भावनाओं का पाठ हमें पढ़ाता है। जीवन समृद्धिशाली और बहुरूपधारी है। यदि उसमें दलदल, कीचड़ और सीलन है तो बड़े-बड़े समुद्र, पहाड़, हिम, ग्लेशियर, तारागणों से जगमगाती, चमत्कारिणी, रजनी (विशेषकर जेलखाने में), परिवार और मित्रों का स्नेह, समान सङ्कल्प की सिद्धि में लगे हुए कार्य्यकर्ताओं की सहकारिता भी तो है। और हैं संगीत-पुस्तकें और भावों के साम्राज्य। इस तरह हममें से हर एक यह पद कह सकता है—"प्रभो! यद्यपि मैं पृथ्वी में था और पृथ्वी का था; परन्तु मेरा पालन-पोषण तो तारकरंजित आकाश ने किया।"

विश्व की विभूतियों की प्रशंसा करना और भाव तथा कल्पना के संसार में विचरना आसान है। लेकिन न साहस का और न सहानुभूति का यह लक्षण है कि हम दूसरों के दुःख-दैन्य से दूर भागने की चेष्टा करें, और इसकी कुछ भी चिन्ता हमें न रहे कि उन लोगों पर क्या बीत रही है। वही भाव सार्थक है, जो कर्म्म में परिणत हो जाय। हमारे मित्र रोमें रोलाँ का कहना है कि 'कर्म्म ही भाव का लक्ष्य है; जो भाव कार्य्योन्मुख नहीं हैं, वे गर्भपात-सम और विश्वास-घातक हैं। अतएव, यदि हम भावों के सेवक हैं तो हमें कर्म्म का अनुचर बनना चाहिए।"

लोग प्रायः कर्म्म से भागते हैं, क्योंकि वे उसके परिणामों से झिझकते हैं। कर्म्म का अर्थ जोखिम और खतरा है। खतरा दूर से भयानक मालूम होता है, लेकिन जब हम उसे पास से देखते हैं, तब वह उतना भयानक नहीं रह जाता। वह प्रायः सुखकारी सहचर है, जो जीवन को अधिक रसमय और आनन्दपूर्ण बनाता है। जीवन का साधारण गतिक्रम समय-समय पर नीरस हो जाता है। हम बहुत-सी बातों को जैसे-का-तैसा मानकर स्वीकार कर लेते हैं, और तब उनमें कुछ मजा नहीं रह जाता। लेकिन जीवन की इन्हीं साधारण वस्तुओं के बिना जब हमें कुछ

दिन काटने पड़ते हैं, तब उनका मोल हमारी आँखों में अधिक जँचने लगता है। बहुत से आदमी ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ते हैं; और चढ़ाई के आनंदोच्छ्वास के लिए, जो किसी कठिनता को जीतने या किसी आपत्ति पर विजयी होने पर प्राप्त होता है, अपने जीवन और अपने शरीर को जोखिम में डालते हैं। उस समय उनके चारों ओर खतरा मड़राया करता है, उनकी दृष्टि अधिक पैनी हो जाती है; क्योंकि तब उनके प्राण एक धागे के सहारे लटका करते हैं।

हममें से प्रत्येक को यह आजादी है कि चाहें तो हम नीचे की खाड़ियों में रहें, जहाँ रोगोत्पादक पाला और कुहरा है, लेकिन जान की जोखिम कम है; या, चाहें तो जोखिम और खतरे को अपना साथी बनाकर पहाड़ों के ऊपर चढ़ जाएँ, ताकि हम ऊपर की विमल वायु का पान करें, दूर-दूर के दृश्यों को देखें और उदय होते हुए सूर्य का स्वागत करें।

मैंने इस पत्र में कवियों और दूसरों के बहुत-से उद्धरण और अवतरण दिए हैं। मैं एक और अवतरण से इस पत्र को समाप्त करूँगा। यह गीताञ्जलि से है। यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता है—

चित्त जेथा भयशून्य उच्च जेथा शिर,
ज्ञान जेथा मुक्त, जेथा गृहेर प्राचीर।
आपन प्राङ्गणतले दिवसशर्व्वरी,
वसुधारे राखे नाई खण्ड क्षुद्र करि।
जेथा वाक्य हृदयेर उत्समुख ह'ते उच्छ्वसिया उठे,
जेथा निर्वारित स्रोते।
देश-देश दिशे-दिशे कर्म्म-धारा धाय
अजस्त्र सहस्रविध चरितार्थताय;
जेथा तुच्छ आचारेर मरुवालिराशि
विचारेर स्रोत-पथ फेले नाई ग्रासि,

पौरुषेरे करेनि शतधा; नित्य जेथा
तुमि सर्व्व कर्म चिन्ता आनन्देर नेता,—
निज हस्ते निर्दय आघात करि पिता;
भारतेरे सेई स्वर्गे करे जागरित ।

समाप्त कर चुका, प्यारी बेटी ! और यह अन्तिम पत्र भी खत्म हो गया । अन्तिम पत्र ! निःसंदेह नहीं ! मैं तुम्हें बहुत-से पत्र लिखूँगा, लेकिन इस पत्रमाला का अब अन्त होता है; और, अतएव—तमाम शुद

माननीय श्री श्रीप्रकाश
राजपाल मद्रास का
अपनी पुत्री को पत्र
(लेखक का सम्पादक को पत्र)

प्रिय पराड़कर जी,

आपका २५ जनवरी (बसन्त पंचमी) का पत्र मुझे मिला जिसमें आपने 'कमला' के लिए लेख माँगा है। लेखों की बड़ी माँग रहती है और अन्य कार्यों की भीड़ के कारण अब तो मैं सम्पादकों से क्षमा ही माँग लेता हूँ। अपने पत्रों—'आज', 'नेशनलहेरल्ड' आदि—के लिए भी नहीं लिख पाता। बाहर के पत्रों के लिए तो लिखना असम्भव-सा हो रहा है। पर मैं आपकी माँग को इस प्रकार टाल नहीं सकता था। आपने मुझे स्मरण किया, अतएव अनुगृहीत भी हूँ। तथापि मूल लेख लिखना मेरे लिये तत्काल सम्भव भी नहीं है। कई सार्वजनिक कार्यों की इतनी परेशानी है कि मेरे लिए इसका यत्न भी इस अवस्था में करना

अनुचित होगा। कल मैं असेंब्ली के लिये दिल्ली चला जाऊँगा। यद्यपि आपने कोई तिथि नहीं दी है, सम्भव है कि लेख की आपको जल्दी ही हो।

आपकी पत्रिका महिलाओं के लिए है। मुझे याद पड़ा कि मैंने अपनी बड़ी कन्या प्रभावती को जिला-जेल से एक पत्र लिखा था जब वह विवाह के बाद ससुराल जा रही थी। कुछ दिन हुए उस पत्र को मैंने उससे वापस माँगा था, क्योंकि मेरा विचार हो रहा था कि अपने कुछ लेखों का संग्रह प्रकाशित करूँ और उसमें इसे भी देना चाहता था।

आज मुझे यह मनमें आया कि जब पृथक् लेख नहीं लिख सक रहा हूँ और आपकी पत्रिका महिलाओं के ही लिए है तो सम्भव है वह पत्र आपको पसन्द आ जाय और उसे ही आप प्रकाशित कर दें।

मैं उस पत्र की प्रतिलिपि आपकी सेवा में भेज रहा हूँ। उसे ही मेरा लेख मान लीजिये। मेरी माता ने उस कन्या का नाम 'गुलगुल' रखा था। इसका अपभ्रंश कर विवाह तक मैं उसे 'गुलू' पुकारा करता था। इसी कारण पत्र में वही नाम है। मेरे परमप्रिय मित्र स्वर्गवासी श्री मंगलाप्रसाद जी ने उसका नाम 'प्रभावती' रखा था और अब तो सब मित्र और कुटुम्बीजन उसी नाम से उसे जानते और पुकारते हैं।

आपने छोटा लेख माँगा था, पर यह बहुत बड़ा होगा, इसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

सेवाश्रम, बनारस
२१ जनवरी, १९२९ } श्रीप्रकाश

पिता का उपदेश कन्या को।

जिला जेल, बनारस।
११ दिसम्बर, १९३२

अति प्यारी मेरी बेटी गुलू,

टालते-टालते आखिर वह दिन आ ही गया, जब तुम्हें यह घर छोड़ अपने घर जाना होगा, पिता का घर छोड़ पति के घर जाना होगा। मैं ऐसी जगह फँसा पड़ा हूँ कि तुमसे खुद कुछ कह नहीं सकता। साथ ही

फजूल की बहुत सी सलाह देने की मेरी आदत भी नहीं है, कितनी ही बातें हम सबको खुद ही सीखनी पड़ती हैं। सलाह का मूल्य भी अपने



[माननीय श्री श्रीप्रकाश जी

अनुभव पर ही निर्भर करता है। तो भी मैंने सोचा कि थोड़ी-सी बात मैं तुमको यहाँ से लिखकर भेज दूँ, जो शायद शुरू-शुरू में तुम्हारे काम की हों। पीछे तो खुद ही सब समझ में आ जायगा।

पिता की प्रतिज्ञा

बेटी, मैं तुमसे कह नहीं सकता कि तुम मेरे लिये क्या हो। तुम्हारी माता के चले जाने के बाद* तुम्हीं लोग मेरे जीवन के आधार रहे। दुनिया में कहीं भी रहा, मेरे दिल में तुम्हीं बच्चों का वास रहा। जो कुछ काम किया या नहीं किया, सब इसी कारण कि मेरे बच्चों के ऊपर दुनिया का बोझ बहुत न पड़ने पावे। अब तुम जाती हो। मैं यही चाहूँगा कि तुम जहाँ रहो सदा स्वस्थ और प्रसन्न रहो। मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि जब तक मैं जीता हूँ मेरे घर को तुम अपना ही घर मानना और मुझे पिता ही नहीं, अपना मित्र भी जानना। दुनिया बड़ी कठिन जगह है, न जाने यहाँ कब क्या अपने सिरपर पड़े। इसमें तो कड़ुए अनुभव ही ज्यादा होते हैं। पर, बेटी, तुम मुझ पर विश्वास रखना। किसी बात का संकोच मत करना। तुम मुझसे जो चाहना कहना और मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि सब हालत में मैं सहानुभूति के साथ जो कुछ मुझसे बन पड़ेगा तुम्हारे लिये करूँगा।

कन्या की ससुराल

मैंने शक्तिभर तुम्हारे लिये योग्य वर ढूँढ़ा है। पर गृहस्थी कठिन चीज है। मेरा विश्वास है कि तुम्हारे नये माता-पिता तुम्हारा आदर करेंगे और तुम्हें प्रेम से रखेंगे। मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि अगर तुम अपनी ओर से फिकर रखोगी तो तुम्हारे पति तुम्हारा सदा सम्मान करेंगे और तुमसे सदा स्नेह रखेंगे। मैं यह चाहता हूँ कि तुम

* सेठानीजी का देहान्त कोटला में सन् १९२६ में हुआ जब यह कन्या केवल दस वर्ष की थी।

हफ्ते में एक दिन मेरे यहाँ जरूर चिट्ठी लिखना और साल में एक बार जरूर आना। जब तक मैं यहाँ जेल में हूँ तब तक दादा जी को[1] ही लिखना। मैं ७ फरवरी को[2] छूटूँगा। उसके बाद तुम जरूर आना और अगर इस साल फिर इम्तिहान[3] देने का शौक हो तो ठहर जाना और इम्तिहान के बाद वापस घर जाना।

सदा प्रसन्न रहना

मनुस्मृति में मुझे उस दिन एक श्लोक मिला जो मेरी समझ में सब बातों को बहुत सुन्दर तरह बतला देता है। मैं उसी को यहाँ लिखकर यथाबुद्धि उसकी व्याख्या कर देता हूँ। मुझे आशा है कि वह तुम्हारे काम का होगा। स्त्रियों का कर्तव्य बतलाते हुए मनु जी कहते हैं—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं, गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया, व्यये चामुक्तहस्तया॥

'सदा प्रहृष्टया भाव्यं'—स्त्रियों को क्या सबको ही सदा प्रसन्न रहना चाहिये। संसार में रोना बहुत है, हँसना कम है। इसका विशेष कारण यह है कि हम सब अपने-अपने भाग्य से असन्तुष्ट हैं, दूसरों को अपने से ज्यादा सुखी समझते हैं और दूसरों का पद पाना चाहते हैं। सच्ची बात यह है कि सुख-दुःख की मात्रा सबको बराबर ही बँटी है, कोई किसी में बड़ा है तो कोई किसी में। जिसको हम अपने से ज्यादा सुखी समझते हैं वह दूसरी बातों में हमसे ज्यादा दुखी है। इसी कारण सन्तोष

---

१. श्री भगवानदास जी।

२. सख्त कैद होने के कारण छूट मिलने से मैं १२ जनवरी १९३३ को छोड़ दिया गया।

३. प्रभावती उस समय हिन्दू विश्वविद्यालय की एडमिशन परीक्षा की तैयारी कर रही थी।

रखना जरूरी है और साथ ही प्रसन्नतापूर्वक अपनी स्थिति की उन्नति की भी चिन्ता करते ही रहना चाहिये। गृहस्थी में छोटी-छोटी बातें बढ़कर बड़ी हो जाती हैं। जरा जरा बात में लड़ाई हो जाती है और घर नाश हो जाता है। थोड़ी-थोड़ी बात की दिल को चोट लग जाती है और उसी पर विचार करते-करते अपना ही चित्त मलिन होता है। इस कारण सदा प्रसन्न रहना, हर स्थिति में मुस्किराते रहना, दुनिया की दिक्कतों का सामना साहस और प्रसन्नता से करते रहना। जब तुम दुखी हो तो सारा संसार दुखी हो जाता है। एक का दुःख आस-पास सबको व्यापता है। सो, बेटी, तुम सदा प्रसन्न रहना। तुमको हँसमुख देखकर और लोग भी अपना-अपना दुःख भूल कर प्रसन्न हो जायँगे। सदा प्रहृष्टया भाव्यं।

घर का काम जानना

(सदा) गृहकार्येषु दक्षया (भाव्यं)। दूसरी बड़ी जरूरी बात हम सबके लिये यह है कि घर के काम में सदा होशियार रहें। घर के कामों की सब तफसीलों को जानें। कुछ काम पड़ जाने पर बिना हाथ-पैर के न हो जायँ। अपने नौकर-चाकर भी तभी तक ठीक काम करते हैं जब जानते हैं कि यह काम मालिक भी जानता है और अगर हम न करेंगे तो वह खुद कर लेगा। ऐसे ही आदमी की इज्जत भी है जो खुद काम को जानता और समझता है। यह खयाल बिलकुल गलत है कि अपने हाथ से काम करना ठीक नहीं है। बड़े-छोटे सबको ही अपने हाथ से गृहस्थी का सब काम सदा करने को तैयार रहना चाहिये और कर सकने की अक्ल भी होनी चाहिये। अपने काम को ठीक तरह जानना, उसमें गर्व रखना और उसे मेहनत से करना, यही कार्यकुशल व्यक्ति का चिह्न है। ऐसे व्यक्तियों की हमारे समाज में बहुत जरूरत है।

गृहस्थी की विषमता

गृहस्थी बड़ी टेढ़ी खीर है। बीसों आदमियों से रोज काम पड़ता है। सबको सम्हाले रहना पड़ता है। अपनी भी बचत किये रहना है।

मेरी समझ में सबसे मीठा बोलना, दूसरों की दिक्कतों को समझ कर उनसे सहानुभूति रखना, अपने आश्रित जनों पर दया करना और सब लोगों का उचित आदर सत्कार करना—इससे साधारण तरह से दुनिया के आदमियों का साथ निबह जाता है। अगर आदमी एक छोटी-सी बात सदा याद रखे तो वह गलती कभी नहीं कर सकता, अर्थात् जिस बात से अपने को अच्छा या बुरा लगता है उससे दूसरों को भी अच्छा या बुरा लगता है और जैसा बर्ताव हम चाहते हैं कि दूसरे हमसे करें वैसा ही बर्ताव हम दूसरों से करें। सब चीजों को ठीक तरह से रखना, सब काम ठीक समय से करना, इससे घर की रोज की दिक्कतों से बहुत बचत होती है।

आवश्यक शिक्षा

मुझे आशा है कि खाना बनाना और सीना-पिरोना तुम ने अच्छी तरह से सीखा होगा। अगर नहीं सीखा हो तो धीरे-धीरे सीख लेना। अच्छा भोजन खाने का सब को शौक है और यह ठीक मिलने से घर के लोग प्रसन्न रहते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं है कि दिन-रात रसोई में ही सनी रहो। ठीक समय से काम करने से, खेलने पढ़ने आदि का भी समय मिल जाता है। अब पुराना समय गया जब स्त्रियाँ बन्द रहती थीं। तुम्हें बाहर निकलना होगा, बाहर की दुनिया का भी काम करना होगा। तुम्हें अपने पति के घर वालों की ही फिक्र नहीं, उनके मित्रों की भी फिक्र करनी होगी। ऐसी अवस्था में सभी के साथ अच्छा व्यवहार रखना होगा, सभी की खातिर करनी होगी। साथ ही इसकी भी फिक्र रखनी होगी कि बाहर के काम में गृहस्थी का नुकसान न हो, और न किसी बाहर के आदमी के साथ अधिक परिचय हो जाय जिससे पति के दिल को किसी प्रकार से कष्ट पहुँचे। अवश्य ही तुम यह सब याद रखोगी। (सदा) गृहकार्येषु दक्षया (भाव्यं)।

घर की सफाई

(सदा) सुसंस्कृतोपस्करया (भाव्यम्)। सब चीज सदा साफ रखना चाहिये। तुम तो जानती हो कि सफाई पर मैं खुद कितना ध्यान देता हूँ। घर, कपड़ा, खाना आदि साफ रहे तो बीमारी भी दूर रहती है और दिल भी प्रसन्न रहता है। लोग कहते हैं कि ऐसा अमीर आदमी ही कर सकता है, सो बात गलत है। इसमें जितनी मिहनत आवश्यक है उतना पैसा नहीं। बहुत-सी चीजों को जब आदमी बटोर लेता है तब सबकी देखभाल मुश्किल हो जाती है। इस वास्ते अपने काम की थोड़ी ही चीज रखनी चाहिये। तभी सफाई भी रह सकती है। सब चीजों को ठीक रखने में सफाई और खूबसूरती है और साथ ही वक्त पर सब चीजें मिल भी जाती हैं।

सब वस्तुओं का समुचित स्थान

जगह से चीज निकाली जाय और काम हो जाने पर जगह पर ही रख दी जाय तो बड़ा सुभीता रहता है, नहीं तो सूई, दियासलाई ऐसी छोटी-छोटी चीजें भी इधर-उधर पड़ी रहने से बड़ा धोखा देती हैं। ठीक तरह से रखने पर चीजें बहुत दिन चलती भी हैं। खोने का भी डर कम रहता है। चीज के थोड़ा खराब होते ही ठीक कर लेने से खर्च भी बचता है और आगे की दिक्कत भी। कपड़े में चीर लगते ही सी लेने से कपड़ा बच जाता है, नहीं तो छोड़ देने से सारा कपड़ा खराब हो जाता है। ऐसे ही और बातों में भी सजग रहना चाहिये।

वस्तुओं की फिक्र

सो तुम कपड़े वगैरह को बीच-बीच में देखती रहना, उसमें कपूर वगैरः डालती रहना, बरतन वगैरः बहुत साफ रखना। पहनने का कपड़ा बिछौना वगैरह भी साबुन से साफ करते रहना चाहिये। घर के कोने-कोने और हर चीज के हर हिस्से की सफाई पर प्रति दिन ध्यान रखना। जहाँ

ऐसा प्रबन्ध है वहाँ सबका मन लगता है। पति भी घर सदा आना पसन्द करता है, नहीं तो कितने ही लोगों को घर काटता है। वे भागते रहते हैं जिससे उनकी स्त्रियाँ दुख पाती हैं पर लाचार पड़ी रहती हैं। पति का मन लिए रहना बहुत जरूरी है। उन्हें बाहर का काम बहुत रहता है। बहुत सी परेशानियाँ रहती हैं। उनके साथ सहानुभूति रखना उनके कष्टों में सम्मिलित होना, उनको ढाढ़स देते रहना, उनके काम में भाग लेना, उन पर गर्व रखना। तुमको उनके लिये आश्रय बनना होगा। जो चीजें उन्हें पसन्द है उनका ध्यान रखना, उनसे सदा प्रेम रखना। यह सब जरूरी है। पति साफ घर, पसन्द स्त्री, सुस्वादु भोजन सदा पसन्द करता है तुम यह सब अच्छी तरह खयाल रखना। (सदा) सुसंस्कृतोपस्करया (भाव्यम)।

खर्च की समस्या

(सदा) व्यये चामुक्तहस्तया (भाव्यम्)। दुनिया में खर्च की तंगी सभी को रहती है। कितना ही रुपया क्यों न हो, कम ही होता है अगर कोई खर्च करना चाहे। इस वास्ते अपनी आमदनीके भीतर ही खर्च करना चाहिये। मैंने खुद इस मामले में बड़ी गलती की है जिसका मुझे अफसोस है। आशा है, तुम शुरू से ही ख्याल रखोगी। पति पर बहुत खर्च मत लादना। जितना मिल सके उसी में गृहस्ती चलाना। दुनिया में बहुत से लोगों को रूपयों की जरूरत रहती है यह कहकर ले जाते हैं कि लौटा देंगे पर लौटा नहीं सकते। तुम अपने भरसक देना जरूर, पर यह समझकर देना कि रुपया लौटेगा नहीं। यह समझकर दोगी कि दे दिया तो अपनी औकात के अनुसार होगी और लौटने की कोई आशा न रखोगी तो आगे कोई अफसोस भी न होगा। पति यह भी आशा करता है कि स्त्री कुछ पैसा बचायेगी। जो आगे काम में आ सकेगा। तुम इसका ख्याल रखना। पिता के घर से पति के घर

पर अधिक अभिमान करना। पति की ही आमदनी के अनुसार अपना खर्च करना और उनकी विश्वासपात्री बनना तथा उन्हें अपना विश्वास-पात्र बनाना। कम खर्चा अच्छी चीज है। न कन्जूसी की जरूरत है, न व्यर्थ के आडम्बर की। अपनी आमदनी के अनुसार खर्च करना सदा उचित है। तुम इसका अवश्य खयाल रखना। (सदा) व्यये चामुक्त-हस्तया (भाव्यम्)

उपसंहार

लिखने को बहुत था। कागज खतम हो गया। जेल में कागज जल्दी नहीं मिलता। चिट्ठी भी काफी बड़ी हो गई है, सो मैं भी समाप्त करता हूँ। केवल इतना कह देना चाहता हूँ कि इस समय देशभक्ति की बड़ी पुकार है। अकसर लोगों ने इसका मतलब यह समझ रखा है कि व्याख्यान देते रहने में देशभक्ति है। वास्तव में अपना कर्तव्य छोटा बड़ा जो कुछ हो उसके पालन में ही सच्ची देशभक्ति है। मेरी समझ में तो देश की वर्तमान स्थिति में जो कोई अपनी गृहस्थी और अपने पेशे का काम ठीक तरह चलाता है, ठीक व्यवहार करता है, हर बात में विश्वसनीय होता है, वही सच्चा देशभक्त है। प्यारी बेटी, तुम सुखी रहो, तुम्हारा मार्ग सरल हो, पति-पत्नी में सदा प्रेम रहे, एक दूसरे में अपने को ही देखें, एक की दूसरे में सब शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो। मेरी यही आशा है, यही अभिलाषा है, यही प्रार्थना है, यही आशीर्वाद है।

तुम्हारा ही सदा प्रेमी
बाबू जी

पं० कमलापति त्रिपाठी का पुत्र के नाम पत्र

प्रिय पाठकों !

यह पत्र एक प्रसिद्ध पत्रकार और प्रगाढ़ साहित्यिक नेता का है। यह पत्र पवित्र संकल्पों से ओतप्रोत दाम्पत्य-स्मरण करते हुए अपने प्यारे पुत्र के नाम नैनी जेल से लिखा गया है। यह तो परिचय पत्र से ही प्रकट हो जायगा। उक्त पत्र के लेखक माननीय पं० कमलापतिजी त्रिपाठी उत्तर प्रदेशीय कृषि व सूचना-विभाग के मन्त्रीपद पद पर आसीन हैं।—सम्पादक

१

नैनी सेण्ट्रल जेल

८ नवंबर ४२

प्रिय लालजी !

कारा की एक कोठरी में बैठा हुआ हूँ। इसे यदि कोठरी न कह कर कन्दरा के नाम से सम्बोधित करूँ तो अधिक उपयुक्त होगा। इसकी लम्बाई चौड़ाई तो काफी है। ८ फुट के करीब लम्बी और उतनी ही फुट चौड़ी कोठरी को छोटी नहीं कह सकते। फर्श से सटी एक छोटी-सी खिड़की है जिसमें मोटे लोहे के छड़ों का जँगला फिट है। कोठरी का प्रवेश-द्वार भी लोहे के मोटे छड़ों से भरा है। जेलमें लोहे का ही साम्राज्य होता है। जंगले लोहे के, दरवाजे लोहे के, ताली-ताले लोहे के हथकड़ी और बेड़ियाँ लोहे की, पैर में पड़े कड़े और गले में पड़ी हँसुलियाँ लोहे की। कायदा-कानून लोहे का और अधिकारियों तथा कर्मचारियों के हृदय भी सम्भवतः लोहे के ही। जिधर देखो लोहा। अशुभ और अमंगल

वेषधारी इस पदार्थ के बीच घिरा हुआ मैं कुछ लिखने बैठ गया हूँ। प्रचण्ड क्रूर शनि का प्रतिनिधित्व करनेवाला यह लोहा ग्रहदशा की भाँति मस्तक पर सवार है। लिखने बैठा हूँ पर जानता नहीं कि क्या लिखना चाहता हूँ और क्यों लिखना चाहता हूँ। साधारण दृष्टि से कहा जा सकता



माननीय पं० कमलापति त्रिपाठी

है कि लिख रहा हूँ तुम्हे पत्र और पत्र लिखने के जो कारण होते हैं उसी कारण मैं भी लिख रहा हूँ। पर मेरी बात इतनी साधारण नहीं है। मैं हूँ राजनीतिक बन्दी जिसे पत्र लिखने की इजाजत नहीं है और न यही अनुमति है कि अपने कुशल-मङ्गल से बाहर किसीको सूचित करें। पत्र की बात छोड़ दो, कुछ भी लिखना-पढ़ना सरकार को पसंद नहीं है। न

कागज मिल सकता है और न कलम-दावात रखने का अधिकार है। यदि कभी किसी अफसर वगैरह को दर्खास्त देना हो तो नियमानुकूल कागज की माँग करनी होती है और अफसर लोग लिखने के सामान प्रस्तुत कर देते हैं। इस स्थिति में क्या लिखने बैठा हूँ, मैं स्वयं नहीं जानता।

पर मनुष्य तो बड़ा जटिल प्राणी है। न जाने कितने विरोधी द्वन्द्वात्मक तथा रहस्यमय पदार्थों से बना हुआ यह पुतला विचित्रता में अपना सानी नहीं रखता। वह अपने थोड़े से जीवन में विभिन्न प्रकार के कार्यों में सतत संलग्न रहता है, पर अधिकतर काम ऐसे हैं जिन्हें वह करता है, किन्तु क्यों करता है, यह उसे स्वयं नहीं ज्ञात होता। भले ही काम कर जाने के बाद उसका औचित्य और कारण ढूँढ़ निकाले, पर उसकी प्रेरणा आरम्भ में सहज आवेश के सिवा कुछ नहीं होती! फलतः मैं भी बाध्य हुआ लेखनी उठाने के लिए। न जाने कितने प्रयत्न के बाद लिखने के साधन एकत्र कर सका हूँ। जब बैठा तो सोचने लगा कि क्यों लिखना चाहता हूँ और क्या लिखना चाहता हूँ। दोनों प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिल सका। अपने को टटोला तो केवल इतना पाया कि लिखने की प्रबल चाह हो रही है, अतः लिखने लगा हूँ। कुछ तर्क करने की क्षमता तो प्रकृति ने प्रदान कर ही दी है। यही मानव-स्वभाव की एक विचित्रता है। सहज प्रवृत्तियाँ अकारण उसे विभिन्न दिशाओं में प्रेरित करती रहती हैं और कठपुतली की भाँति नचाया करती हैं, पर मनुष्य को इसकी अनुभूति नहीं हो पाती। उसे न अपनी इस दयनीय स्थिति का अनुभव होता है और न किसी के हाथ का खिलौना बनने में लज्जा का आभास! हो कैसे! वह तो मोहाच्छन्न है, अपने अहं के दम्भ और व्यक्तित्व के अभिमान से, जिसे प्रकृति ने न जाने क्यों उसे सहज ही प्रदान कर रखा है। फलतः वह न अपनी वास्तविक स्थिति देख पाता है और न अवास्तविकता से छुटकारा पाता

है। वह तो अपने अहंकार में तर्क करता है और मैं भी इसी कारण तर्क करने लगा, तथा अपने लिखने के अनेक उचित कारण ढूँढ़ निकाले। पर वस्तुतः कारण—अकारण कुछ नहीं है। लिखना चाहता हूँ! प्रवृत्तियों की दुर्दान्त शक्ति के वशीभूत होकर अपने हृदय का भार हलका करने के लिए? सम्भवतः तुम्हें रोग-शय्या पर गहरे ज्वर में विकल छोड़कर गया था और तब से महीनों बीत गये अन्तस्तल में अपने बच्चे के निकट होने की चाह क्यों होती है, यह कौन बता सकता है। कहीं राग का अतिरेक, कहीं घृणा की बाढ़। और इस प्रकार द्वन्द्वों का निरन्तर निवास तथा संघर्ष मानवजीवन की रहस्यमयी ग्रंथि है जिसकी अनुभूति तो होती है पर जिसके कारणों की व्याख्या में कदाचित् न विज्ञान अब तक सफल हुआ और न दर्शन। यह तो एक सत्य है, जिसके रहस्य के उद्घाटन की चेष्टा में मानव-कल्पना और बुद्धि न जाने कब से उड़ान ले रही है, पर अब तक किसी सर्वमान्य सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सकी। मुझे गहरा सन्देह है कि कभी वह पहुँच भी सकेगी या नहीं। पर इस विवाद को जाने दो। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि तुम्हें देखने के लिए हृदय में न जाने कैसी गहरी लालसा रहती है। इस लालसा में कोमल भावुकता है। और उसकी तृप्ति न होने पर विचित्र प्रकार की कसक, टीस और पीड़ा का अनुभव होता है। उस पीड़ा का उपचार सात तालों में बन्द मेरे जैसे बन्दी के लिए असम्भव है। कुछ ऐसा लगता है कि हृदय में उद्भूत भावुकता के बहाव में बहते हुए जड़ लेखनी का सहारा लेकर भौतिक नहीं तो मानसिक सम्बन्ध तो तुमसे स्थापित कर ही सकता हूँ। मेरे लिए यह भी कम न होगा। कुछ सन्तोष, कुछ शान्ति भी मिले तो वह ग्राह्य ही है। आज तो तुम्हारे योगक्षेम से भी अपरिचित हूँ।

स्वभावतः आशंका और भय तथा मोह से आकुल हृदय में अतीत की स्मृतियाँ एक के बाद दूसरी उमड़ती चली आ रही हैं और न

जाने किस प्रकार का भावोद्रेक कर रही हैं। आज से आठ वर्ष पूर्व की बात है। उस समय तुम केवल ८ साल के बच्चे थे। तुम्हारी माता सहसा बीमार हुई और केवल ७२ घण्टों में ही इस क्लेशाकीर्ण भौतिक जगत से बिदा होने के लिए सन्नद्ध हो गयीं! उनकी इच्छानुसार उन्हें बिस्तर से उठाकर भूमिशायी बना दिया था। वे आध घण्टे बाद ही इस नश्वर शरीर का परित्याग करके सदा के लिए मुक्त होना चाहती थीं। मैं उनके सर के पास बैठा हुआ था और निर्निमेष भाव से दीप निर्वाण की अद्‌भुत लीला देख रहा था। सोच रहा था कि जीवन अपने उदर में मृत्यु का बीज लेकर क्यों आता है? सृष्टि और प्रलय, जीवन और मृत्यु का नियन्ता चाहे कोई क्यों न हो पर अन्ततः इस क्रूर लीला का लक्ष्य क्या है? किसी का हरा-भरा उपवन उसकी दृष्टि के सम्मुख उजाड़ कर विनष्ट कर देने में किसी को क्या मिलता है? किसी की समस्त कोमल भावनाओं, मधुर कामनाओं तथा पवित्र साध में आग लगाकर उसके हृदय को भयावना श्मशान बना देने में कौन-सा रस मिलता है! साथ ही अनुभव कर रहा था कि इस रहस्य का उद्‌घाटन हो या न हो, जो होता है वह किसी को प्रिय हो अथवा न हो, पर जिस प्रबल और भीषण धारा में विश्व प्रवाहित हो रहा है, उसका दृश्य और मूर्तरूप यही है। ऐसे विचारों में निमग्न बैठा हुआ मैंने तुम्हारी माता को आँखें खोलते और अपनी ओर देखते हुए पाया। मुख पर उनके कुतूहल था, उत्सुकता थी और थी विकलता की आभा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वे कुछ कहना चाहती हैं! आँखों में मोह का स्पष्ट आवेग झलक रहा था। मुझे ऐसा लगा कि मानो जीव अपने शरीर-रूपी पिंजर के प्रबल आकर्षण तथा उससे दूसरे जितने उपादानों का संबंध है उनके बंधन को छोड़ने में व्याकुलता का अनुभव कर रहा है। उनकी वह स्थिति देखकर मेरे हृदय में धक्का-सा लगा। अब तक तो मैं पत्थर की भाँति अविचल बैठा हुआ था। संकट और दुःख के प्रचंड आघात से बहुधा मानव जड़

हो जाता है। वह जड़ता उसे उस समय शौर्य्य और धीरता प्रदान करती है, जब किसी क्रूर घटना का असाधारण वेग उसे पीपल के पत्ते की भाँति दोलायमान करने के लिए आगे बढ़ती है। प्रकृति इसी प्रकार अपनी तुला को संतुलित करती है।

मेरे सम्मुख ऐसी ही स्थिति थी और ऐसी ही थी जड़ता की मदिरा जिसे पीकर मैं गुमसुम हो गया था। बैठे-बैठे प्राणी के महाप्रलय की लीला देख रहा था। उस समय उनका उपर्युक्त व्याकुल भाव एक बार मेरे बाँध को तोड़ देने के लिए आगे बढ़ा पर न जाने क्यों उसका प्रभाव क्षणमात्र में जाता रहा। मैंने स्थिरतापूर्वक कहा—"कुछ कहा चाहती हो तो कहो'। एक बार उन्होंने पुनः मेरी ओर देखा और धीरे-धीरे उनके ओंठ हिले। थोड़े से शब्द मन्द स्वर में निकले—बोलीं 'मेरे बच्चों का क्या होगा।'। उनके भाव से ज्ञात हुआ कि वे उत्सुक हृदय से अपने प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा कर रही हैं। यह मेरे हाथ में था कि अपने आश्वासन से उस मातृत्व की पुनीत भावना और लोल लिप्सा का समादर करता जो उस समय उनके अन्तस्तल की एकमात्र अधिकारिणी हो रही थी। मातृत्व इस दुःखपूर्ण और क्षतविक्षत धरातल का सर्वोत्कृष्ठ वरदान है। पवित्रता, सौंदर्य, सत्य, स्नेह और कला का उच्चतम विकास संभवतः माता के मातृ-हृदय में ही हुआ है। जिसमें सीमा का बन्धन नहीं है, स्वार्थ की दुर्गन्धि नहीं है, प्रतिफलाकांक्षा की कालिमा नहीं है, माता का वह शुभ्र वात्सल्य इस अभिशापित मानव की सबसे बहुमूल्य बिभूति है। मेरे लिए उनके प्रश्न का उत्तर देने में कहीं किसी प्रकार का संकोच न था। उनकी जिज्ञासा में जो गूढ़ भाव था, वह तत्क्षण विद्युच्छटा की भाँति मेरे हृदयाकाश में चमक कर विलीन हो गया।

मैंने कहा 'तुम चिंता न करो। जाना चाहती हो तो सुख और संतोष के साथ जाओ। जब तक मैं जीवित हूँ तब तक तुम्हारे स्थान पर तुम्हारे बच्चों की चौकसी करते रहना ही मेरी एकमात्र साधना होगी। आज से

यही क्षण मेरे लिए वैवाहिक जीवन की अन्तिम घड़ी होगी।' । मेरा उत्तर क्या था मानो उनके विदग्ध हृदय को शीतल करने के लिए स्निग्ध और अमोघ आलेपन था। स्पष्ट प्रतीत हुआ कि उनके मुख पर विश्राम और शान्ति की छाया पड़ रही है। जो अन्तस्संघर्ष उन्हें उत्पीड़ित किये हुए था वह मानों सहसा छिन्न-भिन्न हुआ, और तत्काल भारी बोझ हटने से जो राहत मिलती है उसकी आभा दिखाई दी। आज जब वह घटना बैठे-बैठे यहाँ मेरे स्मृति-मंदिर में एक के बाद दूसरी श्रृंखला-बद्ध चित्रपट की भाँति आ और जा रही है तब मुझे एक प्रकार का संतोष सा हो रहा है। सन्तोष इस बात से कि मुझे तुम्हारी माता की आंतरिक पीड़ा कुछ कम करने का अवसर तो मिल गया। यही संतोष मेरी सबसे बहुमूल्य संपत्ति है।

जेल का यह एकांत जीवन जहाँ विचार-लहरियों को तीव्र बना देने में समर्थ हुआ है वहीं एकाकीपन का भारी भार हृदय पर लाद देने का साधन बना है। मैं तुम्हारी माता की उस धरोहर की पहरेदारी करना चाहता हूँ जो उन्होंने तुम लोगों के रूप में मेरे पास रखी है। मेरा संघर्षात्मक राजनीतिक जीवन कभी कभी इसमें बाधक हो जाता है। मैं इस बाधा का निराकरण करने में समर्थ नहीं हूँ। यह अनिवार्य कर्तव्य है जिसकी पूर्ति भारतीय होने के नाते मुझे करनी ही है। सामूहिक धर्म उपेक्षा की वस्तु नहीं है। यह तो मानव होने के नाते मेरे सिर चढ़ा हुआ मानवता का ऋण है कि मैं अपने देश, अपने समाज, अपनी संस्कृति और अपने इतिहास की ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति में अपनी शक्ति भर सहायता प्रदान करूँ। इससे विमुख होना तो न केवल मनुष्यता से गिरना है बल्कि मानवता के उस विकास के प्रति विश्वासघात करना है जिसका दायित्व इस युग के समाज और इस युग के प्राणियों ने प्राप्त किया है। फलतः मैं तो अपने को एक ओर अनिवार्य कर्तव्यों के पास में बँधा पाता हूँ और दूसरी ओर नियति की चक्की

में पिस रहा हूँ। तुम्हारे प्रति कर्तव्य, देश और समाज के प्रति कर्तव्य, अपने प्रति कर्तव्य और दूसरी ओर अदृष्ट काल-चक्र जो घटनाओं और परिस्थितियों को ऐसे साँचे में ढाल देता है जिसमें कर्तव्य की कड़ियाँ परस्पर आबद्ध होने के बजाय झटका खाकर टूटती और बिखरती नजर आती हैं। यही संघर्ष, यही विरोध बड़ा भारी बोझ लाद देता है ! उस बोझ से लदा आर्तप्राणी कराहकर अपनी पीड़ा कुछ कम करता है। सम्भवतः मेरा लिखना और लिखने की चाह उसी का प्रतीक है, उसी का मूर्त रूप है।

फलतः लिखना है तो लिखूँ पर सोचा, तुम्हारे प्रति पत्रों के रूप में कुछ लिखना अधिक अच्छा होगा। पर तुम्हें सम्बोधन करके कुछ लिखना मेरे लिए तो सरल होगा पर तुम्हारे काम का भी होगा या नहीं, इसमें मुझे भी बड़ा संदेह है। तुम आज जीवन की उस मंजिल में पहुँचे हो जिसे विकास का काल कहा जा सकता है। यह किशोरावस्था यौवन का प्रभात है। बचपन बीत रहा है और तुम वास्तविक जीवन में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त कर रहे हो। जीवन का यह काल बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। इस समय यद्यपि स्वतंत्र और प्रौढ़ विचार करने की शक्ति नहीं होती और न स्थिरता तथा विवेक का विकास हुआ रहता है फिर भी यही समय है जो भावी जीवन का आधार बनता है। मनुष्य के समस्त आगामी जीवन के निर्माण का बीज इसी समय बोया जाता है। किशोर का मस्तिष्क और उसका हृदय स्वच्छ जल की भाँति निर्मल होता है। इस काल में उसके हृदय और मस्तिष्क में बाह्य परिस्थितियों तथा आंतरिक भावों और दूसरे उपकरणों की जो छाया पड़ती है वह सहज ही प्रतिबिंबित हो जाती है। ये प्रतिबिंब एक प्रकार से साँचे का काम करते हैं जो उसके समस्त जीवन को एक रूप में ढाल देते हैं। अपनी सरल, विमल तथा ग्रहणशील प्रवृत्तियों के कारण आज अन्तस्तल में पड़े हुए प्रतिबिंब उसके लिए संस्कार बन जाते हैं। आज के इन

संस्कारों की छाप अमिट होती है। जो जीवनपर्यन्त मिटाये नहीं मिटती। ये संस्कार जन्मभर तुम्हारे साथी रहेंगे। ये ही तुम्हारी भावना, स्वभाव, चरित्र, प्रवृत्ति, आदतों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करते रहेंगे। अतएव सोचा कि दो काम एक साथ ही करूँ। अपना भार हलका करूँ और साथ ही साथ जीवन के अपने अनुभवों के द्वारा कुछ ऐसी छाप डालने की चेष्टा करूँ जो आगे चलकर तुम्हारे लिए कुछ सहायक हो सकें। संभव है वे तुम्हारे चरित्र-निर्माण में और भावी जीवन-संघर्ष में भी कुछ मदद दे सकें। मैं नहीं जानता कि इसमें मुझे कुछ सफलता मिलेगी या नहीं। पर मेरा भार कुछ हल्का अवश्य होगा। यहाँ पढ़ने को कुछ नहीं है, पर सबसे बड़ा ग्रंथ तो जीवन ही है जिसका अध्ययन करने की ओर कभी कोई ध्यान नहीं देता। कैसे आश्चर्य की बात है कि मनुष्य अति गुह्य रहस्यों का उद्घाटन करने का दावा करता है, पर जो उसके लिए सबसे अधिक स्पष्ट और उसके सबसे अधिक निकट है उसके बारे में कुछ नहीं जानता। करोड़ों मील दूर के सितारों, सूर्य, चन्द्र तथा ग्रहों और उपग्रहों के बारे में आज मनुष्य को काफी ज्ञान है। पृथ्वी के उदर में, महा समुद्र के अतल तल में, और गगनचुंबी हिमालय पर्वत की चोटियों का पता उसे लग जाता है। अदृश्य भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं की कल्पना और आभास प्राप्त करने में वह समर्थ होता है पर यह जीवन जो उसके इतने निकट और उसके सम्मुख इतना स्पष्ट है उसकी गुत्थियों के बारे में उसे या तो अधिक मालूम नहीं है या अधिक जानने की चेष्टा करता है तो उपेक्षाकृत सब से कम जान पाता है। मैं जानता हूँ कि इस प्रकार की बहुत सी बातें तुम्हारे लिए व्यर्थ होंगी क्योंकि तुम आज उन्हें समझ नहीं सकोगे। पर आज भले ही वे व्यर्थ हों पर कल संभव है तुम्हारे विचार-क्षेत्र के लिए एक विषय बन सकें। आज जो बात तुम्हारी समझ में आये और काम की मालूम हो उससे लाभ उठाना और जो न समझ में आये उसे छोड़कर आगे बढ़ जाना।

लिखने का तो मेरा पेशा ही रहा है! सम्भव है कि रोज की वह आदत ही लिखने के लिए बाध्य कर रही हो। पर बाहर लिखता था रोज-रोज की घटनाओं पर। घटनाएँ आज की दुनिया में जिस तेजी से घटती थीं, उसी तेजी से लिखना पड़ता था। बीसवीं शताब्दी में दैनिक अखबार के सम्पादक को इतना अवकाश कहाँ रहता है कि वह आराम से बैठ कर एक-एक बात को तौलकर, शान्ति और धैर्य के साथ लिखे। वह तो लिखता है मशीन की तरह और लिखी हुई पंक्तियों की स्याही सूख भी नहीं पाती कि दूसरी परिस्थिति, बिलकुल उससे भिन्न और कभी-कभी उसके विपरीत आ खड़ी होती है। पर जहाँ बाहर लिखने का इतना मसाला था वहाँ यहाँ जीवित ही समाधि की प्राप्ति हो गयी है। यहाँ तो जीवित रहते हुए भी शव हो गया हूँ, यद्यपि जीवन की चेतना चैतन्य है। वह चेतना अपनी लहर में जैसे-जैसे लहरायेगी वैसे-वैसे लहराता रहूँगा। तुम यौवन के प्रथम सोपान पर पहुँच गये हो। शास्त्र कहते हैं कि इस उमर के किशोर को मित्र समझना चाहिए और तद्वत् उसके साथ व्यवहार करना चाहिए। फलतः जो लिख रहा हूँ अथवा लिखूँगा वह एक मित्र के नाते उसी रूप में लिखूँगा। तुम भी उसे वैसा ही समझना। पत्रों में न कोई क्रम होगा और न व्यवस्था। जब जो मन में रहेगा अथवा उठेगा—असंबद्ध, अनर्गल अथवा अव्यवस्थित—जो आवेगा, उसे ही यदि लिखने की इच्छा होगी तो लिख डालूँगा। क्या लिखूँगा और भावों की कौन-सी श्रृङ्खला होगी—यह कुछ नहीं जानता।

आज तो एक कड़ी यहीं समाप्त हो रही है, अतः उसके साथ-साथ यह पत्र भी।

तुम्हारा

कमलापति

पिय की पाती

[श्री स्वर्गीय पद्मसिंह जी शर्मा]

कर लै चूमि चढ़ाय सिर, उर लगाय भुज भेटि।
लहि पाती पिय को लखति, बाँचति, धरति समेटि॥

× × ×

नैन नीर बरसत देखिबे को तरसत
लागे कामसर सत पीर उर अति की।
पाये न संदेसे ताते अधिक अंदेसे बढ़े
सोचे सुकुमारि पै न कहै मन गति की॥
ताही समै औचक ही काहू आनि चीठी दीनी
देखत ही 'सेनापति' पाई प्रीति रति की।
माथे लै चढ़ाई; दोऊ दृगनि लगाई चूमि
छाती लपटाय राखी पाती प्रानपति की॥

× × ×

सेनापति जी ने पाती पाने की भूमिका खूब बढ़ाकर बाँधी है। प्राणपति का संदेसा न पाने से सुकुमारी को अँदेसा (चिन्ता) बढ़ रही थी, उसकी आँखों से नीर बरसाता था और देखने को जी तरसता था, इत्यादि। प्राणपति के पत्र पाने पर इस प्रकार की हर्षोत्पत्ति का कारण खूब खोल कर कह दिया है, जिससे देखने वाला समझ जाय कि इस चिट्ठी को यह इतना महत्त्व क्यों दिया जा रहा है। माथे पर चढ़ाना, दोनों आँखों से लगाना, चूमकर छाती से लिपटाना, यह सब क्यों हो रहा है! बहुत दिनों में काले कोसों से कुशल-पत्र आया है इसलिए ऐसा हो रहा है।



पति वियोगिनी नायिका को पति-प्रेषित-पत्र देकर डाकिया
इनाम पा प्रसन्न हो रहा है ।

कर लै, चूमि चढ़ाइ सिर, उर लगाइ भुज भेंटि ।
लहि पाती पियकी लखति, बाँचति, धरति समेटि ॥

पर विहारीलाल ने लम्बे उपाख्यान की कुछ आवश्यकता नहीं समझी। यह सारी कथा, 'पियकी पाती' यह शब्द अपनी ध्वनि द्वारा स्वयं कह रहा है। प्रिय पास न होगा, दूर होगा, तभी पाती भेजेगा। इसकी भी जरूरत नहीं है कि वह इतनी दूर बैठा हो जिससे यथासमय संदेसे न पहुँच सकते हों और तभी चिट्ठी का इस प्रकार आदर किया जाय। प्रिय की प्रेम-पत्रिका कहीं से किसी दशा में आवे, हर हालत में वह इसी बरताव की मुस्तहिक है कि हाथ में लेकर होठों से चूमी जाय, सिर चढ़ायी जाय, छाती से लगायी जाय। भुजाओं से भेंटी जाय, आदर से देखी जाय, उत्सुकता से बाँची जाय और एहतियात से गैरों की नजर से बचाने को, लपेट कर रक्खी जाय। आखिर अन्तरंग सखी द्वारा प्राप्त प्रिय की "प्रेम-पत्रिका है", कुछ डाकद्वारा पहुँची 'समाचार-पत्रिका' नहीं है। सेनापति के 'कुशल-पत्र' और बिहारी के 'प्रेम-पत्र में' बहुत भेद है। बिहारी की बन्दिश कितनी चुस्त है! पेच में कसी हुई रुई की गाँठ है। इसके मुकाबले में सेनापति का कवित्त ढीलमढाला फूला हुआ घास का गट्ठर है!

'तोष' कवि ने भी पिय की पाती का वर्णन अपने खास ढंग में खासा किया है—

"पढ़ि न सिराति पाती भूलि-भूलि जाती नेकु (देख)
सखियाँ न पावैं निज अँखियाँ दिये रहै॥
रूसती रिसाती हँसि-हँसि बतराती चूमि
चाहि-मुसकाती—प्रेम आसव पिये रहै।
कहै कवि 'तोष' जिय जानि दुख काती ताते
छाती की तबीज पिय-पाती को किये रहै,
नेकु न पत्याती दिन राति इहि भाँति प्यारी
विरह अपाती ताकी काती सी लिये रहै।"
—तोष

विरहिणी के पत्र

[कुछ प्राचीन कवियों की अनोखी सूझ]

पाती लिखि सुमुखि सुजान पिय गोबिन्द को,
श्रीयुत सलोने स्याम सुखनि सने रहौ।
कहैं पद्माकर तिहारी छेम छिन-छिन,
चाहियतु प्यारे मन मुदिति घने रहौ॥
विनती इतै है कै हमेस हू मुहैं तौ निज,
पाइनकी पूरी परिचारिका गने रहौ।
याही मैं मगन मन मोहन हमारो मन
लगनि लगाय लग मगन बने रहौ॥१॥

× × ×

बाँचत न कोऊ अब बैसियै रहति खाम,
युवती सकल जानि गई गति याकी है।
झूठ लिखिबे की उन्हैं उपजे न लाज कछु,
जाय कुबजा के बसे निलज तिया की है॥
दूसरी अवधि 'द्विजदेव' राधिका के आगे
बाँचै कौन नारि जौन पोढ़ छतिया की है।
ऐसे ही मुखागर कहो सो कहो ऊधो इहाँ,
उठि गई ब्रज में प्रतीत पतिया की है॥२॥

× × ×

आहि कै कराहि काँपि कुशतन बैठी आइ,
चाहति सखीसों कहिबे को पै न कहि जाय।
फेर मसि-भाजन मँगायो लिखिबे को कछू,
चाहत कलम गहिबे को पै न गहि जाय॥

एते में उमगि अँसुवान को प्रवाह आयो,
चाहति है थाह लहिबे को पै न लहि जाय।
दहि जाय गात बात बूझेतें न गहि जाय,
बहि जाय कागज कलम हाथ रहि जाय ॥३॥

\+ \+ \+

ऊबत हो डूबत हो डगत हो डोलत हो,
बोलत न काहे प्रीत रीति न रितै चले ॥
कहैं पद्माकर त्यों उससि उसासनि सों,
आँसू हैं अपार आय आँखिन इतै चले ॥
औधिही के आगम लौं रहते बने तो रहो,
बीच ही क्यों बैरी वाद बेदना बितै चले।
एरे मेरे प्रान प्रान-प्यारे की चलाचल में,
तब तो चले न अब चाहत कितै चले ॥४॥
आवति चली हो यह विषम बयारी देखि,
दबे-दबे पाँयन किवारन लरजि दै।
कैलिया कलंकिनी को देरी समुझाय मधु-
माती मधुपालिनी कुचालिनि तरजि दै ॥
आजु ब्रजरानी के वियोग को दिवस तातें,
हरैं-हरैं कीर बकवादिन हरजि दै ॥
पी-पी के पुकारिबे की खोलैं ज्यों न जीह न त्यों,
जूहन पपीहन को बावरी बरजि दै ॥५॥

❀ ❀ ❀

कियहु न मैं कबहूँ कलह, गह्यो न कबहूँ मौन।
पिय अब लौं आयो न कत, भयो सुकारण कौन ॥

× × ×

वायस राहु भुजंग हर, लिखति तिया तत्काल।
लिखि-लिखि मेटति फिरि लिखति, कारण कौन जमाल॥

❀ ❀ ❀

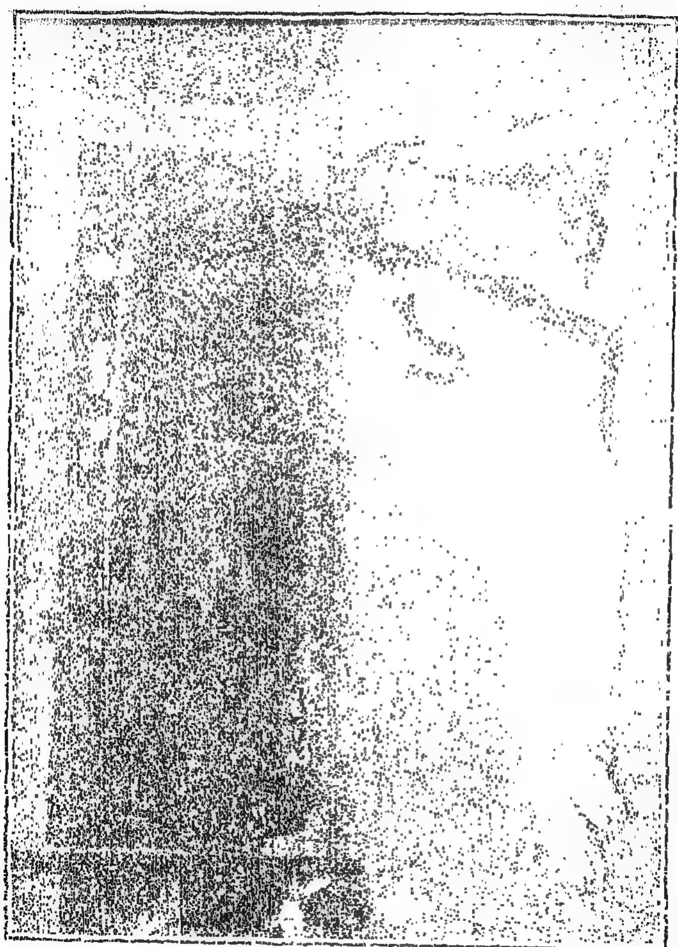
पाती लिखी अपने करसों दई है रघुनाथ बोलाइ के धावन।
और कहो मुख पाठ यों बेग कृपाकर आइये आवत सावन॥
भाँति अनेकनि के सनमान कै दै बकसीस पठायो बुलावन।
पायो न पौरिलौं जान कहा कहौं बीच ही आयगयो मनभावन॥

× × ×

लावति न अञ्जन मँगावति न मृग-मद,
कालिन्दी के कूल ना तमाल तरे जाति है।
हेरति न घन बन गहन बनक बेनी,
बाँधई रहति नीली सारी ना सोहाति है॥
गोकुल तिहारी यह पाती बाँचि है गो कौन,
याहू में तो कारे अखरानही की पाँति है।
जा दिन तें मिले बाग में री! गूजरी सों कान्ह,
ता दिन तें कारो रंग हेरे अनखाति है॥

× × ×

लिखन चहौं मसि बोरि जब, अरुनाई तुव पाँय।
तब लेखनि के शीश को, ईंगुर रँग ह्वै जाय॥



कर कांपै लेखनि छिपै, अंग अंग अकुलाय !
सुधि आय छाती जरै, पाती लिखी न जाय ॥

पगली का पत्र

[ले० कविवर श्री० अयोध्यासिंह जी उपाध्याय 'हरिऔध']

प्रियतम !

सुना है, तुम मुझे पगली कहते हो। हाँ, मैं पगली हूँ। तुम्हारे सुन्दर मुखड़े की पगली हूँ; तुम्हारे घुँघराले अलकों की पगली हूँ; तुम्हारी जादू-भरी आँखों की पगली हूँ, तुम्हारी सुधा-भरी मुस्कान की पगली हूँ; तुम्हारी उस मुरलिका की पगली हूँ, जो संसार को पागल बना देती है, और पगली हूँ उस पत्थर की मूर्ति की, जो वास्तव में अनिर्वचनीय है; आज दिन जो हमारा जीवन-सर्वस्व है; जो पत्थर होकर भी मुझ पर पसीजती है; जो अकरुण होकर भी मुझ पर उस करुण-रस की वृष्टि करती है, जिसका स्वाद वही जान सकता है, जिसने उस रस को चखा है !

तुम कहोगे, छिः इतनी स्वार्थ-परायणता ! पर प्यारे, यह स्वार्थ-परायणता नहीं है, यह सच्चे हृदय का उद्गार है, फफोलों से भरे हृदय का आश्वासन है, व्यथित-हृदय की शान्ति है, आकुलता भरे प्राण का आह्वान है, संसार-वंचिता की करुण-कथा है, मरु-भूमि की मन्दाकिनी है; और है सर्वस्व-त्यक्ता की चिर-तृप्ति। मैं उन पागलों की बात नहीं कहना चाहती, जो बड़े-बड़े विवाद करेंगे, तर्कों की झड़ी लगा देंगे, ग्रन्थ पर ग्रन्थ लिख जावेंगे; किन्तु तत्त्व की बात आने पर कहेंगे, तुम बतलाए ही नहीं जा सकते, तुम्हारे विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता। मैं तो प्यारे ! तुमको सब जगह पाती हूँ; तुमसे हँसती-बोलती हूँ; तुमसे अपना दुखड़ा कहती हूँ; तुम रीझते हो तो रिझाती हूँ; रूठते हो तो मनाती हूँ। आज तुम्हें पत्र लिखने बैठी हूँ। तुम कहोगे यह पागलपन ही है। तो क्या हुआ, पागलपन ही सही, पगली तो मैं हुई हूँ, अपना जी कैसे हलका करूँ, कोई बहाना चाहिए—

भरे हैं उसमें जितने भाव !
मलिन हैं या वे हैं अभिराम
फूल-सम हैं या कुलिश-समान !
बताऊँ क्या मैं तुमको श्याम ?
हृदय मेरा है तेरा धाम !!

एक दिन सखियों ने आकर कहा—आज राणा महलों में आएँगे, बहुत दिन बाद यह सुधा कानों में पड़ी, मैं उछल पड़ी, फूली न समाई। महल में पहुँची, फूलों से सेज सजाई, तरह-तरह के सामान किये। कहीं गुलाब छिड़का, कहीं फूलों के गुच्छे लटकाए, कहीं पाँवड़े डाले, कहीं पानदान रक्खा, कहीं इत्रदान। सखियों ने कहा—'यह क्या करती हो, हम सब किस लिए हैं ?' मैंने कहा—'तुम सब हमारे लिए हो—राणा के लिए नहीं। राणा के लिए मैं हूँ, ऐसा भाग्य कहाँ कि मैं उनकी कुछ टहल कर सकूँ।' एक दिन राणा के पाँव में कंकड़ी गड़ गई, उस दिन जी में हुआ था कि मैंने अपना कलेजा वहाँ क्यों नहीं बिछा दिया, आज मैं ऐसा अवसर न आने दूँगी। धीरे-धीरे समय बीतने लगा, बहुत देर हो गई, राणा न आए। मैं घबराई, उठ-उठ कर राह देखने लगी। जब बहुत उकताई, वीणा लेकर बजाने लगी; फिर गाया:—

गए तुम मुझको कैसे भूल !
किस लिए लूँ न कलेजा थाम ?
न बिछुड़ो तुम जीवन-सर्वस्व !
चाहिए मुझे नहीं धन-धाम !
तुम्हीं मेरे हो लोक-ललाम !!

गाना समाप्त होते ही राणा आए ! मेरा राम आया; जो मेरे रोम-रोम में समाया है, वह आया ! उनको देख, मैं अपने को भूल गई। उस समय मैंने क्या किया-क्या नहीं, कुछ याद नहीं। वे बोले—'मीरा !' मैंने कहा—'नाथ !' उन्होंने कहा—'आजकल तुमको क्या हो गया है !' मैंने कहा—'क्या हो

गया है ?' उन्होंने कहा—'तुम पगली हो गई हो, लोक-लाज धो बहाई है; कभी गाती हो, कभी नाचती हो, कभी साधुओं के संग फिरती हो, कभी ऐसा काम करती हो, जो राज-मर्यादा के अनुकूल नहीं। मीरा ! सँभलो, हमारा मुँह देखो।' इस समय मैं उन्हीं का मुँह देख रही थी, सोच रही थी—यही तो मेरे गिरधर गोपाल हैं, यही तो मेरे वंशीवाले हैं। उनके कण्ठ में मुरली-सी माधुरी पाकर मुझको उन्माद हो रहा था, उनके स्वरूप में प्यारे मुरली मनोहर का सौंदर्य देखकर मैं आनन्द-समुद्र में निमग्न हो रही थी। उनकी बात समाप्त होते ही मैंने कहा—'मैं आपका ही मुँह तो देख रही हूँ ! क्या आपका गुणानुवाद गाने का मेरा अधिकार नहीं ? आपका गुण गाते-गाते जब मेरा मन नाच उठता है, तब मैं नाचने लगती हूँ। आप जो नाच नचाते हैं, वही नाच तो मैं नाचती हूँ, इसमें मेरा अपराध ? लोक-लाज किसे कहते हैं, मैं नहीं जानती। जो कार्य आपके प्रेम में बाधा डाले, उससे मैं नाता नहीं रखना चाहती। साधुसन्त आपके ही रूप तो हैं, उनमें भी तो आप ही बसते हैं, उनकी सेवा-सुश्रूषा करना आप ही को तो रिझाना है, फिर मैं आपको क्यों न रिझाऊँ ? मेरे राजा-महराजा आप ही तो हैं—आपकी मर्यादा करनी ही तो राज-मर्यादा है। मैं जो कुछ कर रही हूँ, आपकी मर्यादा का महत्व समझकर ही कर रही हूँ, फिर वह अनुकूल क्यों नहीं ?' यह कहते-कहते मैं प्रियतम के मुखचन्द्र की चकोरी बन गई, उनके ध्यान में मग्न हो गई। जब आँखें खुलीं तो उस समय महल में राणा नहीं थे। हृत्तन्त्री में यह ध्वनि हुई :—

रँग सका मुझे एक ही रंग !
दूसरों से क्या मुझको काम ?
भली या बुरी मुझे लो मान !
भले ही लोग करें बदनाम !
रमा है रोम-रोम में राम !!

कुछ दिन बीत गए। एक दिन कुछ सखियाँ आईं। उनका मुख सूखा हुआ था, आँखों में जल था, बात मुँह से सीधे नहीं निकलती थी, उसके कलेजे पर पत्थर रक्खा हुआ था। उनके हाथ में एक सोने का कटोरा था। उसमें कुछ था। मैंने पूछा—'क्या है?' वे बोल न सकीं, उनकी घिग्घी बँध गई, शरीर काँपने लगा। मैंने कहा—'डर की बात क्या है, लाओ कटोरा मुझको दो। क्या इसे राणा ने भेजा है?' एक ने कहा—'हाँ!' मैंने कहा—इसमें सुधा है, मेरे लिए मेरे मनमोहन ने जो भेजा है, वह दूसरी वस्तु होगी, तो भी वह जीवन-धन के कर-कमलों का स्पर्श करके संजीवनी बन गई होगी। मैंने उसको उनके हाथों से लेकर पान किया। उसमें अलौकिक स्वाद था। सुधा मैंने आज तक पी नहीं थी, उसकी माधुरी का वर्णन सुना था। उसे पीकर मुझे ज्ञान हुआ कि सुधा कैसी अलौकिक वस्तु है! मैं उसे जितना ही पीती थी, मेरा हृदय उतना ही उत्फुल्ल हो रहा था। मैं सब पी गई, फिर भी चाह बनी रह गई कि और होती तो पीती। इस सुधा-पान करने के बाद ज्ञान हुआ कि वह मद कौन-सा है जिसको पानकर आत्मा कुछ और से कुछ और हो जाती है। जिस दिन मैंने उसे पान किया, उस दिन से तुम मेरी आँखों में और अधिक समा गए, यह मिट्टी का संसार सोने का बन गया और मेरा जीवन सार्थक हो गया। उसी दिन से मैं वास्तव में पगली हुई, और प्रायः मेरे कण्ठ से यह गान होता रहता है:—

गरल होवेगा सुधा-समान!
सुशीतल, प्रबल-अनल की दाह!
बनेगी सुमन-सजोई सेज!
विपुल-कण्टक-परिपूरित राह!
हृदय में उमड़े प्रेम-प्रवाह!!

संसार बुरी जगह है, बहुत कुछ निर्लेप रहने पर भी उसके पचड़े कुछ सता ही देते हैं। एक दिन कुछ कारणोंसे से मैं खिन्न हो गई, बड़ी

आत्मग्लानि हुई, भाव-परिवर्त्तन के लिए गृहोद्यान में आई। सन्ध्या-समय था, हरे-भरे वृक्ष लहरा रहे थे, फूल फूले हुए थे, चिड़ियाँ गा रही, तितलियाँ नाच रही थीं और भौंरे गूँज रहे थे। वायु मन्द-मन्द चलकर तरु-दलोंसे खेल रहा था, तितिलियों को प्यार कर रहा था और लताओं को गोद में लेकर खेल रहा था। वृक्षों का हरा-भरा और आनन्दित भाव देखकर मुझको बड़ा हर्ष हुआ। वे पृथ्वी में गड़े हुए थे, फिर भी प्रसन्न-वदन थे। जो दल चाहता उसे दल देते, जो फल चाहता उसे फल देते, जो उनकी छाया में जा बैठता उसे आराम देते। नाना पक्षी उनकी गोद में बैठे हुए चहक रहे थे। वे उनको सहारा दे रहे थे, उनके खोतों की रक्षा कर रहे थे। कोई ढेला मार जाता, तो भी उनसे कुछ न बोलते; सम्भव होता तो एकाध सुन्दर फल उसको भी दे देते। मैं ने जी ही जी में कहा—धन्य है इनका जीवन! क्या मनुष्य में इतनी सहिष्णुता और उदारता भी नहीं? फूलों की ओर दृष्टि गई तो देखा, वे काँटों में रहकर भी विकसित थे। जो रसकी कामना करके उनके पास जाता, वे उसीको थोड़ा-बहुत रस दे देते फिर भी निष्काम रहते। हवा पास होकर निकलती तो उसको सुरभित कर देते, झड़ पड़ते तो पास की मिट्टी को सुगन्धित बना देते। सब ओर इस प्रकार आनन्द का प्रवाह और औदार्य का विकास देखकर मैं कुछ और से और हो गई। मन-ही-मन कुछ लज्जित भी हुई। इतने में चन्द्रदेव निकले, धीरे-धीरे ऊपर आए। उनकी चाँदनी से रात्रि का मुख उज्ज्वल हो गया, वसुधा धुल गई और उसपर बड़ी सुन्दर सफेद चादर बिछ गई। चन्द्रदेव हँस रहे थे और सब ओर सुधा की वर्षा कर रहे थे। उनके इस औदार्य की सीमा नहीं थी। सब ओर उनकी निराली ज्योति जग रही थी। सब उनके सुधा-वर्षण से तृप्त थे। चन्द्रदेव सबको एक आँख से देख रहे थे। उनके लिए फूल-काँटे, जल-थल, तृण-तरु, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग समान थे वे तुम्हारे ही अङ्ग तो हैं, तुम्हारी ही एक आँख तो है, दो आँख से किसी

को कैसे देखते ? मैं देरतक इन दृश्यों को देखती रही। जितना ही उनको देखती, जितना ही उनके विषय में विचार करती, उतना ही विमुग्ध होती, उतना ही अपने को भूलती, उतनी ही पगली बनती। जिधर मैं आँख उठाती हूँ, उधर ही नाना विभूतियों के रूप में तुमको देखकर मुख से यही निकलता है—"इन आँखिन प्यारे, तिहारे बिना जग दूसरो कोऊ दिखातो नहीं।" मैं पगली कही गई हूँ, तो पगली ही रहूँगी और यही कहती फिरूँगी :—

बताता है खग-वृन्द-कलोल !
सरस-तरु-पुञ्ज प्रसून-मरन्द !
वायु-सञ्चार प्रफुल्ल-मयंक।
हमारा व्रज-जीवन-नभ-चन्द !
सत्य है, चित है, है आनन्द !!

तुम्हारी,
—पगली मीरा

परलोक-विद्या

[ले० श्री० रामदास गौड़, एम० ए०]

लखनऊ,
१३ पौष, १९८४

प्रियवादिनी विद्यावती,

सादर नमस्ते !

तुम अचरज करती होगी कि मैं चुप क्यों हूँ। परन्तु जानती हो कि जो वज्रपात हमारे ऊपर हुआ है, उसके बाद मैं जीती ही क्यों हूँ ? अब-तक निर्लज्ज जीवन बना हुआ है, यही अचरज की बात है।

अभी कल सोना की माँ आई थी। उससे पता लगा कि तुमने एक नई विद्या सीखी है, जिससे मुझे जीवन-दान मिलने की आशा हो गई। वह कहती थी कि तुम प्रेतात्माओं को बुलाती हो, उनसे बातें करती हो। क्यों बहिन, यह कहाँ तक सच है, मुझे तुरत लिखो। क्या तुम उनकी प्रेतात्माओं को बुला सकती हो? क्या प्रेत देखते भी हैं, या केवल बातें होती हैं? अगर बुला सको तो मैं बन्दोबस्त करके दस-पाँच दिनों के लिए तुम्हारे पास आ जाऊँ।

एक बात की मुझे भारी शङ्का होती है। मैंने अबतक यही समझा था कि मरनेवाले का कहीं जन्म हो गया होगा। स्वामीजी तो प्रेत-योनि मानते नहीं। फिर क्या प्रेत-योनि भी होती है? क्या श्राद्ध भी ठीक है? बहिन, बुरा न मानना। मेरी शङ्का है, तुम समझा सको तो विस्तार से लिखो।

लल्लू अच्छा है। तुम्हें नमस्ते कहता है। उत्तर शीघ्र देना।

तुम्हारी सहेली,

—चम्पा

---

(२)

काशी,

१५ पौष, १९८४

बहिन चम्पा,

नमस्ते!

मैंने तुम्हें तब से छः पत्र भेजे थे। उन सब के उत्तर में तुम्हारा पत्र आज ही मिला है। मैं तुम्हारी मानसिक अवस्था जानती हूँ। तुम्हारी पीड़ा का कोई इलाज नहीं। वह रोना तो जीवन भर का है। किसी का उसमें अधिकार नहीं। भगवान् तुम्हारे चित्त को शान्ति दें।

सोना की माँ ने ठीक कहा था। मैं एक नई विद्या का अभ्यास कर रही हूँ। दो महीने की बात है, एक दिन जीजी जी एक यन्त्र लाए। उसे वह प्लाञ्चेट कहते थे। पान के आकार की एक तख्ती है, जिसमें दो ताँबे के पहिये हैं, और सिरे के पास एक पेन्सिल है। मैंने उस यन्त्र पर ज्यों ही हाथ रक्खा, त्यों ही चलने लगा। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। अपने आप कुछ देर उसने सीधी रेखाएँ खींचीं, फिर नाम लिखा—"रामनाथ"। जीजाजी मौजूद थे, उन्होंने कहा कि यह कोई प्रेत है। फिर तो इससे वह प्रश्न करने लगे और यों उत्तर लिखा जाने लगा। थोड़े से प्रश्नोत्तर तुम्हारे मनोरञ्जन के लिए देती हूँ।

प्र०—आप कौन हैं!

उ०—मैं खत्री हूँ।

प्र०—कहाँ के रहनेवाले हैं?

उ०—काशी का।

प्र०—किस मुहल्ले में?

उ०—करणघण्टा।

प्र०—मृत्यु कब हुई?

उ०—दो बरस हुए।

प्र०—तब आप क्या करते थे?

उ०—एक यन्त्रालयका मैनेजर था।

प्र०—इस समय आप क्या करते हैं?

उ०—दूत-कर्म करता हूँ।

प्र०—किस योनि में हैं?

उ०—प्रेत-योनि में।

प्र०—क्या आप कृपाकर सदैव मेरे यहाँ रहा करेंगे और मेरे लिए दूत-कर्म करेंगे?

उ०—सदा तो नहीं रह सकता, पर जब आप बुलाएँगे तब आऊँगा। जो हो सकेगा, कर दूँगा।

प्र०—क्या आप कृपा कर तिलक महाराज को बुला देंगे ?

उ०—तिलक महाराज बैकुण्ठ में हैं। मेरी पहुँच से बाहर हैं, मैं उन्हें बुला नहीं सकता।

प्र०—क्या सचमुच वैकुण्ठ-लोक भी कोई लोक है ?

उ०—अवश्य है।

प्र०—क्या आप वहाँ गए हैं ? आप कैसे जानते हैं ?

उ०—मेरे भाग कहाँ ? मैं बैकुण्ठ को उसी तरह जानता हूँ, जैसे आप लन्दन को जानते हैं, पर वहाँ गए नहीं हैं।

प्र०—आप तो दूत हैं, क्या वहाँ तक सन्देश पहुँचा सकते हैं ?

उ०—नहीं।

प्र०—आपकी पहुँच कहाँ-कहाँ तक है ?

उ०—भूलोक मात्र।

प्र०—आपको और कौन लोक मालूम हैं ?

उ०—पितृ-लोक से सीधा सम्बन्ध है। इसके सिवा और भी लोक हैं—पितृ-लोक भुवर्लोक है; स्वर्लोक स्वर्ग या देवलोक है; महर्लोक में ही विष्णु, शिव, ब्रह्मा, बैकुण्ठ, गोलोक, साकेतलोक आदि अनेक लोक हैं। इनके सिवा जन, तप और सत्यलोक भी हैं।

प्र०—पितृलोक से कैसा सम्बन्ध है ?

उ०—महाशक्ति के द्वारा उनसे हमलोग उसी तरह बातचीत कर लेते हैं, जिस तरह आप लोग नवशक्ति द्वारा हम से बातचीत करते हैं।

प्र०—नवशक्ति क्या है ?

उ०—यही लिखने की रीति।

प्र०—क्या आप लोग भी लिख-पढ़कर काम लेते हैं ?

उ०—हाँ हम भी यन्त्र से काम लेते हैं ?

प्र०—आपका यन्त्र किस आकार-प्रकार का है ?

उ०—समझाना मुश्किल है। हमारे देशकाल का परिणाम कुछ भिन्न है।

प्र०—महाशक्ति द्वारा कौन लोग सूचना-विनियम करते हैं ?

उ०—देवदूत !

प्र०—क्या आप पितरों को देख सकते हैं ?

उ०—नहीं।

प्र०—क्या पितृगण आप को देखते हैं।

उ०—हाँ।

प्र०—क्या पितृ-योनि प्रेत-योनि से अच्छी है ?

उ०—हाँ, प्रेत-योनि कड़ी कैद है, पितृ-योनि सादी कैद।

प्र०—तो क्या प्रेत-शरीर या पितृ-शरीर एक प्रकार का दंड है ?

उ०—अवश्य दंड है। बंदी की दशा है, मुक्त की दशा नहीं है !

इस तरह के प्रश्न पहले रामनाथ जी से किए गए, फिर और-और प्रेतों से भी किए गए। पीछे पितरों से भी यही बातें पूछी गईं। सब के उत्तर एक से ही मिले।

दो महीने से नित्य सैकड़ों बातें पूछीं और लिख ली गईं। मैं कहाँ तक लिखूँ। जब आओगी, तब दिखाऊँगी।

हाँ, यह तो मुझे निश्चय हो गया कि मरने के बाद तुरन्त ही जन्म लेना आवश्यक नहीं है। मरने पर अक्सर लोग प्रेत होते हैं। प्रेत-योनि छूटती है, तो पितृ-योनि मिलती है। निश्चित काल तक पितृ-योनि में रह कर तब फिर मनुष्य-योनि में जन्म होता है। कभी-कभी मरते ही दूसरे गर्भ में जाना पड़ता है। अपने-अपने कर्मों के अनुसार मरने वाले को चाहे हजारों बरस बाद जन्म लेना पड़े, और चाहे नव ही महीने बाद जन्म लेना पड़े, एक ही लाठी से सब नहीं हाँके जाते।

किसी के मानने न मानने से सचाई पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मुझे तो दो मास के अनुभव में सैकड़ों जाँचें ऐसी करने में आईं, जिनसे प्रेतका होना पक्की, पोढ़ी तौर से सिद्ध हो जाता है। अनेक बातों से बिना प्रेत माने बनता ही नहीं। और कोई माने या न माने, देखे या न देखे, बहिन !

मैंने तो अनेक बार प्रत्यक्ष देखा है और डर गई हूँ। मैं तो एक स्त्रीका रूप एक महीना हुआ नित्य सन्ध्या को देखती थी, सबलोग मौजूद रहते थे, पर मेरे सिवा और किसी को रूप नहीं दीखता था। उसके लिए उपाय करने पड़े। मेरे घर तो पुरानी रीतियाँ बरती जाती हैं। पूजा-पाठ, होम-जाप, मन्त्र जन्त्र, टोटका, श्राद्ध, पिण्डदान—सब कुछ किया जाता है। मैंने तो इन सबसे प्रत्यक्ष लाभ देखा है। बहस दलील से चाहे कोई एक के दो या बारह या तीन सौ पैंसठ सूर्य सिद्ध करे, पर सूर्य निकलता ही है और हमें गरमी का अनुभव होता ही है। अनुभव की कसौटी पर मैंने जो बात कस रक्खी है, उसमें दलील की जरूरत मैं नहीं समझती।

मैंने आपके पूज्य पतिदेव को आरम्भ में ही बुलवाया, पर उन्हें आनेकी आज्ञा नहीं थी। छः मास बाद आज्ञा मिल सकेगी। इसलिए उनसे बातचीत करने को चार महीने और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, मुझे आप ही उनसे बहुत कुछ पूछने का कुतूहल है। वह कट्टर आर्य-समाजी थे। अब मरने के बाद के अनुभवों से उनके विचार किस तरह के रहे, यह जानना बड़े महत्व की बात है।

सच मानना बहिन, तुम्हारी चिट्ठी पाकर बड़ा आनन्द आया। मैं आप ऊपर की सब बातें कहने को अकुला रही थी, परन्तु सङ्कोच यह होता था कि शायद तुम मुझे झूठी और ढोंगी समझो। छातीपर से एक भारी बोझ हट गया—शंका मिट गई। तुम जितनी बातें चाहो, पूछो। मालूम होगा तो बताने में आनाकानी न करूँगी।

लल्लू को मेरी ओर से प्यार कर देना। यहाँ सब अच्छे हैं?

तुम्हारी,

—विद्यावती।

(३)

लखनऊ,
१८ पौष, १९८४

प्रियवादिनी विद्यावती,

सादर नमस्ते !

तुम्हारा उत्तर मुझे आज ही मिला। मेरी मुरझाई आशालता हरी हो गई। उनसे बातचीत चार महीने बाद भी होगी, तो यह थोड़ी बात नहीं है ! तुम मुझे कट्टर समझती रही हो, परन्तु बहिन, मैं अब वह नहीं रही। तुम्हारी कट्टर चम्पा तो उनके साथ ही चली गई ! विवाह के पहले तो मैंने बहुत कुछ पढ़ा-लिखा न था ! जिसने चम्पा को दलील सिखाई, जिनसे उसे संसार में मार्ग दिखाया, वह परम गुरु तो चम्पा के प्राण अपने साथ लेता चला गया ! मैं तो जैसी मूढ़ा ब्याह से पहले थी, वैसी ही—बल्कि उससे भी अधिक—अब हूँ। मैंने बड़ी भूल की, जो उनके लिए श्राद्ध-दान आदि कुछ न किए ! अब चार महीने बाद उनसे पूछकर सब कुछ करूँगी।

एक बात की मुझे शङ्का होती है। जब सब कोई प्रेत देख नहीं सकते, तब तो कोई दूसरा प्रेत झूठ नाम-पता देकर ठग सकता है। यह निश्चय कैसे होता है कि कहनेवाला सच ही कह रहा है ! मैंने यह भी बचपन से सुन रक्खा है कि प्रेत भाँति-भाँति के रूप धर सकता है। फिर अगर दीखे तो यह कैसे निश्चय किया जाय कि वही है, या सच कह रहा है—किसी ने ठगने का रूप नहीं बनाया है ? फिर आज्ञा न मिलने वाली बात समझ में न आई। अगर प्रेत है तो उसका जेल-दारोगा कौन है ? उसे किसकी आज्ञा लेनी पड़ती है ? क्या प्रेतों का भी कोई हाकिम होता है ? यदि हाकिम है तो प्रेतों का संसार भी अलग होगा, उनके कारबार अलग होंगे। बहिन, तुम्हें ये बातें मालूम हों तो शीघ्र लिखो। मैंने तो आने का बन्दोबस्त आरम्भ कर दिया था, परन्तु इस चार महीने की

प्रतीक्षा ने रोक दिया। क्या तुम कोई ऐसी युक्ति नहीं पूछ सकती, जिससे चार महीने पहले उनसे बातचीत हो सके? वह बन्दी हैं, तो क्या कोई उपाय उनकी मुक्ति का नहीं हो सकता? मैं तो अर्द्धांगिनी हूँ। हो सके तो मुझे बताया जाय, करूँ! उत्तर भरसक जल्दी देना। सबको यथायोग्य।

तुम्हारी सहेली,
—चम्पा

---

(४)

बनारस,
२१ पौष, १९८४

बहिन चम्पा,

नमस्ते!

जब तुमने पहला पत्र लिखा, तभी मेरे जी में आया कि उनके कष्टों की बात तुमको लिख दूँ, परन्तु मैं डरी कि तुम्हें व्यर्थ मानसिक कष्ट होगा। तुम्हारे विचार और तरह के हैं, शायद परिणाम और भी अनिष्ट न हो जाय। परन्तु तुम्हारे अतरसों के पत्र से मुझे आशा हो गई कि तुम अवश्य ही उनके उद्धार का यत्न करोगी। परन्तु उसकी बातचीत मैं पीछे करूँगी, पहले मैं तुम्हारे प्रश्नों का क्रम से उत्तर दूँगी।

यह सच है कि जैसे भले-बुरे, खोटे-खरे आदमी होते हैं, वैसे ही प्रेत भी एक-से-एक धूर्त और एक-से-एक साधु होते हैं। जब नवशक्ति पर किसी प्रेत को अपना दूत नियुक्त करना होता है, तो उसकी भलमनसाहत उसकी सच्चरित्रता, उसका सौजन्य परख की कसौटी पर कस लिया जाता है। फिर कई-कई ऐसे दूतों में विविध वर्णनों को सुनकर जो बातें समान-रूप से ठीक पाई जाती हैं, उनकी जाँच करके निश्चय किया जाता है

फिर भी बताई हुई या निश्चय की हुई बातों में पीछे जो त्रुटियाँ मिलती हैं, वह उसी तरह सुधार ली जाती हैं, जिस तरह इतिहास का खोजी सुधार लेता है। जहाँ बोलने या लिखने वाले का रूप नहीं दीखता, वहाँ उसके बोलने और लिखने की विशेषताओं से व्यक्ति की पहचान की जाती है। यह भी सच है कि प्रेत भाँति-भाँति के रूप धर सकता है, परन्तु व्यक्ति के विशेष चिन्हों से इसमें भी छली की पोल खुल जाती है। विशेष अंगों की बनावट, दाग, बोलने का ढंग आदि प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग होता है। जिनसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह धूर्तों के धोखे में नहीं आ सकते।

इस मर्त्य-लोक में जिसे कैद की सजा मिलती है, उससे मिलना कठिन हो जाता है। साधारण कैद में तीन-तीन मास पर कैदी किसी एक स्वजन से मिल सकता है। परन्तु जिसे काल-कोठरी मिलती है, उससे कोई मिल नहीं सकता। काल-कोठरी ही सरीखी, बल्कि उससे भी अधिक दारुण दुख वाली यातनाएँ किसी-किसी प्रेत को मिलती हैं। ऐसे प्रेतों को फुरसत नहीं दी जाती। उनके कष्टों का पता भी नहीं लगता। वह बतला नहीं सकते। जब दारुण यातना के पीछे वह सादी कैद में आते हैं, तब उन्हें वह यातना अधिकांश भूल जाती है। सब याद भी रहे तो उसकी कोई उपयोगिता नहीं। प्रेतों से नित-नित की बातचीत और बहस से यह बातें मालूम हुई हैं। जैसे इस दुनिया में ज्वर आदि रोगों से सभी पीड़ित होते हैं, परन्तु पीड़ा का अनुभव सबको अलग-अलग परिमाण में होता है, हर रोगी का विस्तृत विवरण भी भिन्नता और अपनी-अपनी विशेषता अलग-अलग रखता है, ठीक उसी तरह प्रेतावस्था के कष्टों में भेद है। बहिन, मैंने नरक के सम्बन्ध में बहुत पूछ-ताछ की है। जान पड़ा है कि जो यातनाएँ मिलती हैं, वह अपार हैं। उनकी तुलना इस संसार की यातनाओं से नहीं हो सकती। भिन्न देश-काल और वस्तु का वर्णन करने में कहने वाला अपने जगत् के ही देश-काल, वस्तु की यत्कि-

चित् समानताओं से काम लेता है। इसीलिए पुराणों में नरकों का जो कुछ वर्णन है, वह मर्त्य-लोक से मिलता-जुलता है।। वास्तव में उन दारुण दुःखों का इन वर्णनों से ठीक अन्दाजा नहीं मिलता।

मर्त्य-लोक में ही देखते हैं कि हम मनचाहा पाप और पुण्य कर सकते हैं; परन्तु अनेक पाप ऐसे हैं कि हाकिमों के डर से या समाज की लाज से करने में हम हिचकिचाते हैं। बहुत सुन्दर इन्द्रायण का फल भी विष होने के भय से हम नहीं खाते। सद्यःप्राप्त दुःख का भय तो सब के लिए निवारक है। प्रेतों को समाज की लाज नहीं है, क्योंकि वह अपना रूप बहुत छोटा और बहुत भिन्न बना लेते हैं। मनुष्य के बदले पशु, कीट, पतंगे भी बना सकते हैं। उन्हें हाकिम का डर नहीं है, क्योंकि हाकिमों के लिए भी उनकी माया का पता लगाना कठिन हो जाता है। परन्तु हाकिम लोग भी प्रेतों को दिखाई नहीं देते। उनके प्रेत-दूत भी तरह-तरह के रूप बदलकर, प्रेतों के मित्र बनकर पता लगाते रहते हैं। जिस तरह अपराधी भारी धूर्त हैं, उसी तरह प्रेत-लोक के हाकिमों के गुप्तचर उनसे कहीं बड़े-बड़े धूर्त्त होते हैं। सब लोकों के सबसे बड़े हाकिम, संहार करनेवाले भूतेश्वर भगवान् शङ्कर परमात्मा के सगुण रूप हैं और उनके गणों में और सेना में देवताओं की, ऋषियों की, गन्धर्वों की, यक्षों की, किन्नरों की, पितरों की और प्रेतों की अलग-अलग सेनाएँ हैं। प्रेत अपने से सूक्ष्म प्राणियों को नहीं देख सकते, परन्तु सूक्ष्म प्राणी अपने से स्थूल प्राणियों को देख सकते हैं। अब जेल के दारोगा का हाल सुनिए। जेल के दारोगा हैं भगवान् यमराज। यह भगवान् शङ्कर के नायब और नरक-लोक, पितृ-लोक तथा प्रेत-लोक के हाकिम हैं। मृत्यु के वही अधिकारी और कर्म के खाते के वही रक्षक हैं। जब किसी के शरीर छूटने का कारण उपस्थित हो जाता है, तब उनके अदृश्य दूत मनुष्य के लिङ्ग-शरीर या प्रेत-शरीर को उसके स्थूल-शरीर में से अलग करके उनके सामने ले जाते हैं। तेरह दिन तक हवालात में

रखकर प्रेत का पूरा हिसाब-किताब किया जाता है। इस बीच प्रेत को जो कुछ दिया जाता है, उसे मिल सकता है। तेरह दिन पीछे निश्चय किया हुआ दण्ड मिलता है। जब इस दण्ड का आरम्भ होता है, तब कारागार के बाहरवालों से सम्बन्ध बिलकुल नहीं रहता। यह आवश्यक नहीं कि सभी तेरह दिन हवालात में रहें। किसी-किसी के लिए तो यह तुरन्त तय हो जाता है कि वह जन्म ले। वह प्रेत-शरीर भी तुरन्त ही छोड़ देते हैं और पितृ-शरीर ही नए गर्भ में प्रवेश करता है।

बहिन चम्पा, मैं भी पहले समझती थी कि पुराणों की कहानियाँ जी बहलाने की सामग्री हैं, परन्तु अब मालूम पड़ा कि वह सच्ची बातों के आधार पर लिखी गई हैं।

मनुष्य के लिए यह समझ लेना कि बस जितने संसार को मैं जानता हूँ, उसके सिवा सृष्टि है ही नहीं, परमात्मा की मर्यादा और शक्ति को घटा देना है। सच्ची बात यह है कि हमारा संसार कुआँ है और हम उसके मेढक हैं। भगवान् की सृष्टि अपार है, अनन्त है, यह जगत् उसमें एक कण की भी हैसियत नहीं रखता। प्रेत-जगत् इस मर्त्य-जगत् से कहीं बड़ा और विस्तीर्ण है। पितृ-लोक उससे भी अधिक विस्तार में है। यह सब इसी पृथ्वी पर हमारे जगत् में ही हैं, पर उनके देश-काल और वस्तु तीनों उपादान हमारे उपादानों से भिन्न हैं। इसीलिए हमारे हाथ के पास ही पितृ-लोक है, परन्तु लाखों मील दूर है। उसके दिन-रात हमसे भिन्न हैं।

मैंने तुम्हारे पूज्य प्राणेश्वर से बात करने की कोशिश की, तो पहले उसी नाम के कई प्रेत आए। जब उनके पिता का नाम, पत्नी का नाम, कुल का विवरण आदि पूछा, तब पता लगा कि उसी नाम के और सज्जन आए हैं। मेरे प्रेत-दूत ने अन्त में कहा कि पता नहीं लगता उनका जन्म हो गया है। मैंने कहा—जन्म के सिवा और भी कहीं हो सकते हैं? पितृ-लोक में तो नहीं हैं? स्वर्ग में तो नहीं हैं? जरा महाशक्ति के सहारे पता लगाना चाहिए।

मेरे दूतों ने कई घण्टों के बाद बताया कि वह ऐसी जगह में हैं, जहाँ से आने की आज्ञा नहीं है।

प्र०—वह कैसी जगह में हैं ?

उ०—अच्छी जगह में नहीं हैं।

प्र०—उसमें क्या बुराई है ?

उ०—कष्ट की जगह है।

प्र०—तो क्या वह कष्ट में हैं ?

उ०—हाँ।

प्र०—क्या उन्हें मदद दी जा सकती है ?

उ०—नहीं।

प्र०—उन्हें श्राद्ध, पिण्ड-दान आदि पहुँच सकता है ?

उ०—नहीं।

प्र०—तो श्राद्ध करने वाले भूल करते हैं ?

उ०—नहीं, वह तो ठीक करते हैं। पहले तेरह दिन तक पहुँच सकता है, परन्तु वह तो बीत गए।

प्र०—फिर उन्हें क्या मदद दी जा सकती है ?

उ०—मेरी समझ में कोई मदद नहीं दी जा सकती।

प्र०—क्या उनकी पतिव्रता धर्मपत्नी भी कुछ नहीं कर सकतीं ?

उ०—पहले शायद कुछ कर सकतीं, अब न कर सकेंगी।

मेरे मन में भी शङ्का थी कि बहिन तो प्रेतलोक मानतीं ही नहीं, फिर उनसे क्या कहूँ। मैंने सुना था कि श्रीमद्भागवत की कथा सुनने से धुन्धकारी नाम का प्रेत मुक्त हो गया। जिन पण्डित जी से वह कहानी मैंने छात्रावस्था में सुनी थी, वह पण्डित जी भी मर गए, आज पाँच बरस हुए। बस, यह बात ध्यान में आते ही मैंने सोचा कि मैं पण्डित जी को क्यों न बुला कर उपाय पूछूँ।

मैंने दूसरी बार की बैठक में पण्डित जी को बुलवाया। वह बहुत

जल्दी आए। उनकी पहचान भी मैंने कर ली। ठीक वही थे। अब मैंने पूछना आरम्भ किया :—

प्र०—पण्डित जी, आप किस योनि में हैं ?

उ०—बेटी, मैं तो प्रेत हूँ।

प्र०—क्या आप को भी कोई दण्ड मिला है ?

उ०—हाँ, मैं भी भुगत रहा हूँ।

प्र०—किस पाप का, आप को क्या दण्ड मिला है ?

उ०—मैंने झगड़ा करके घर तीन दिन का उपवास किया था, इससे अपनी आत्मा को सताने का दोषी ठहरा। मुझे छः बरस प्रेतावस्था मिली है। भूख लगती है, पर भोजन नहीं कर सकता, यह दशा एक बरस और रहेगी, तब मैं पितृलोक में चला जाऊँगा।

प्र०—पण्डित जी आप तो पूजा-पाठ करते थे। आप को सीधे स्वर्ग जाना चाहिए था ?

उ०—स्वर्ग के लिए बहुत पुण्य चाहिए। हाँ, यदि तीन दिन का यह अविहित उपवास मेरे खाते में न होता तो मैं सीधे पितृलोक जाता। मेरे शेष कर्म अच्छे थे।

प्र०—क्या नरक भी होता है ?

उ०—क्यों नहीं ! परन्तु मुझे उसका अनुभव नहीं है।

प्र०—क्या भागवत में लिखी बातें सब सच हैं ?

उ०—मुझे विश्वास है कि सब सच हैं; परन्तु अनुभव केवल प्रेत-शरीर है ! जो कुछ थोड़ा प्रेत-वर्णन है सो सच है; परन्तु वह अत्यन्त थोड़ा है।

प्र०—क्या श्रीमद्भागवत सुनने से प्रेत मुक्त हो जाता है ?

उ०—जरूर ! परन्तु प्रेत को सुनाने का सामर्थ्य भी चाहिए। सभी प्रेत श्रीमद्भागवत नहीं सुन सकते। राम-राम नहीं कर सकते। गोकर्ण और धुन्धकारी की बात न्यारी थी।

प्र०—क्या आपकी सजा घट सकती है, अथवा कोई ऐसा उपाय हो सकता है कि आप मुक्त हो जायँ।

उ०—अब कुछ नहीं हो सकता। पत्नी और पुत्र दोनों मेरे पहले ही मर चुके थे। वह जीते भी होते तो उन्हें उपाय कौन बतलाता?

प्र०—अब मैं कुछ कर सकती हूँ?

उ०—नहीं, पुत्र, पत्नी या गुरु के सिवा कोई उद्धार नहीं कर सकता।

प्र०—अच्छा, यह लोग मौजूद होते और मैं आपसे पूछकर उन्हें बता सकती तो क्या बताती?

उ०—जानकर क्या करोगी?

प्र०—उपकार।

उ०—अच्छा उपकार करोगी तो मैं बताऊँगा। घोर-से-घोर यम-यातना भोगनेवाले प्राणी की पतिव्रता पत्नी या परमात्मा का भक्त पुत्र उसको वैकुण्ठ पहुँचा सकते हैं।

प्र०—कैसे! श्राद्धादि से?

उ०—नहीं! श्राद्ध तो भोजन-मात्र है। मुझे भूखों मरने का दण्ड है। पुत्र लाख श्राद्ध करता; मुझे भोजन मिल ही नहीं सकता। मेरा सुई जैसा गला निगल नहीं सकता। श्राद्ध से मुझे कोई लाभ नहीं पहुँचा, यद्यपि मेरे भाई ने सब कुछ किया। मेरी पत्नी मौजूद होती और श्रद्धा से एक लाख राम-नाम भगवान रामेश्वर को अर्पण करती कि मैं मुक्त हो जाऊँ, तो मैं कभी का वैकुण्ठ चला गया होता। पतिव्रता पत्नी अर्द्धाङ्गिनी है। उसका पुण्य मरे पीछे भी पति को अच्छी गति देता है। शर्त यही है कि पति से उसे सच्ची भक्ति हो, वह पतिपर निछावर हो; और पति को सद्गति दिलाने की उसकी उत्कट इच्छा हो।

प्र०—क्या यह उपाय सबके लिए है?

उ०—हाँ, हिन्दूमात्र के लिए राम-राम का जाप और दूसरे लोगों के लिए उसके मतानुसार भगवन्नाम। यह उपाय सबके लिए है।

मैंने पण्डितजी से सैकड़ों बातें पूछ-समझ डालीं, परन्तु उनका यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं है। तुम्हारे पति की मुक्ति के सम्बन्ध में ऊपर की बातें काम आ सकती हैं। बहिन, तुम कर सको तो एक भारी बात की परीक्षा हो जाय—यदि सत्यार्थ-प्रकाश बाधक न हो।

लल्लू को प्यार।

तुम्हारी सहेली,

—विद्यावती

---

(५)

बनारस,

२७ पौष, १९८४

बहिन चम्पा,

जय रामजी की !

लो, बधाइयाँ लो ! आनन्द मनाओ। तुम्हारे प्राणेश्वर आज वैकुंठ से नवशक्ति पर पधारे। धन्य तेरे भाग्य !

तुमने मेरे पिछले पत्र का उत्तर डाक से न भेजा, परन्तु उत्तर में अपने प्राणेश्वर को ही भेज दिया। पतिभक्ता हो तो तुमसी। तुमने तीन लाख राम-नाम कह डाले और तीन दिन में ही पति को नरक से उबारकर वैकुंठ पहुँचाया। मुझे बतलाया नहीं। जान पड़ता है कि नाम के जापके पीछे समय न मिला।

उन्हें तुमसे बात करने की बड़ी अभिलाषा है। बुलाया है। जल्दी आओ।

आगमनाभिलाषिणी,

—विद्यावती

---

(६)
ॐ रामाय नमः

लखनऊ,
२६ पौष, ८४

प्यारी विद्यावती,

जय राम-नाम की !

तुमको मेरे चुप रहने से शंका हुई होगी कि चम्पा को विश्वास न आया, चुप बैठ गई।

मैंने तुम्हारी चिट्ठी पढ़ कर तुरन्त पड़ोस के राममन्दिर के पुजारी को बुलवाया। उससे कहा कि मैं अपने पति की सद्गति के लिए तीन लाख राम-नाम का जाप करूँगी और उसे भगवान् रामेश्वर को अर्पण करूँगी। तुम संकल्प करा दो। मैंने संकल्प लिया। परसों, कल और आज, तीन दिन दूध और फल खाकर रही। प्रातःकाल ६ बजे से बारह बजे तक राम-राम कहती रही। फिर कुछ विश्राम करके रामचरित-मानस पढ़ती रही। आज सायंकाल में बैठ कर लिख रही हूँ। आज दोपहर को तीन लाख पूरे हो गये। अब मुझे विश्वास है कि वह अवश्य नरक से छूट गए होंगे। अब उनसे बातचीत करने का अवसर मिलेगा। जल्दी पूछ कर उत्तर दो।

तुम्हारी,
—चम्पा

---

(७)
ॐ रामाय नमः

लखनऊ,
२९ पौष, ८४

प्रियम्वदा विद्यावती,

श्री राम-नाम की जय हो !

मैंने २६ को पत्र लिखा, तुमने २७ को। दोनों राह काट गए ! तुम्हारा मुझे अभी मिला। मैं परसों शाम की डाकगाड़ी से चलूँगी। बहिन,

तेरा एहसान जन्म भर न भूलूँगी। तुमने वह काम किया, जो बहुत से महात्माओं से भी न बन पड़ेगा।

तुम तो यों ही विद्यावती थीं, पर अब तुम्हारा नाम सार्थक हो गया। मैं आकर एक महीना तुम्हारे पास रहूँगी, परलोक-विद्या मैं भी सीखूँगी।

तुम्हारी प्रेमवती सहेली,

—चम्पा

फिर

[ले० आयुर्वेदाचार्य, प्रोफेसर चतुरसेनजी शास्त्री]

[१]

सू......

यह मदमाती चार दिन से आई है, पर मिली आज है। ओह! देखने में नशा; छूने में नशा; बातों में नशा; आँख, कान और नस-नस में नशा! मूर्तिमदिरा है। भयानक, अति भयानक, किन्तु महा मायामयी! प्यारे, मैं तो विमूढ़ हो गया हूँ। जगत् में जो कभी न देखा था, न चखा था—अरे कल्पना और आशा से बिलकुल दुर्लभ—दुर्घट! छलिया, तू कब से पी रहा था, चुपचाप और नीरव! न कभी कहा, न भेद खुलने दिया। यही आश्चर्य है कि अबतक मैं इसके बिना कैसे जीवित रहा! यह जगत् ही कैसे जी रहा है? वाह रे बसन्त? कैसी वायु बह रही है—वह लज्जावती कुसुम-कलियों के घूँघट को चीरती हुई, उन्हें खिलखिलाकर हँसाती हुई, उनके हृदय का सारा रस एक ही साँस में पीकर मेरे घर में घुस पड़ी है। यह कैसी सुन्दर है! अरे कितना आलस्य इसने बखेरा है। तुम क्या जाग्रत रहते हो, इस बसन्त में?

यह असम्भव है—आँख तो खुलती ही नहीं। मैंने कह दिया है, समझा दिया है—

आ प्यारी नयनों बसो, पलक ढाँप तोहे लूँ!
ना मैं देखूँ और को, ना तोहें देखन दूँ!!

वाह रे स्वाद! लाख प्राणों को देकर मैं इसकी एक बूँद लूँगा। और, और, और, अरे! हाय! हाय!! सब, सब, सब। क्या इतना ही है—और एक बूँद भी नहीं रहा, मैं नहीं मानूँगा—इससे न चलेगा। मैं स्वयं घड़े का मुँह खोलूँगा, मैं स्वयं पीऊँगा। हाँ, जोर-जुल्म, छल-बल, सब तरह छककर, तृप्त होकर और फिर इसमें एक गोता लगा लूँगा—मैं डूबूँगा, चाहे लाख बार मरना पड़े!

हे प्यारे तुम आओ तो, इस वसन्त में कैसा स्वाद है, कैसा रस है, तुम देखो तो! मेरी शपथ—मेरे प्राणों की शपथ, आओ, आओ, आओ!

तुम्हारा,
—प०

---

[२]

प्रिय!

पोस्टमैन ने धीरे से द्वार खटखटाया। मैं धीरे से उठा और तुम्हारा वासन्ती पत्र ले लिया! यह अभी जरा सोई है, रातभर...... ! हाय रे दुख पर ईश्वर को धन्यवाद है, रात कट गई है। पत्र में इतनी महक किस इत्र की है? मैं नहीं पहचान सका, इस समय मेरी बुद्धि कुण्ठित हो रही है! शायद आजकल में यह सदा को जा रही है........फिर पता नहीं, कितनी फुर्सत मिलेगी! क्या तुम्हारे घर में वसन्त इतने जोर-शोर से आया है! मैंने तो द्वार-खिड़कियाँ बन्द कर रक्खा है। इसमें वसन्त की उस उन्मादिनी वायु के झोंकों को सहने की शक्ति कहाँ है?

उससे इसकी अवशिष्ट हड्डियाँ खड़खड़ा उठती हैं। उसके रूखे, मैले और उलझे हुए बाल और भी उलझ जाते हैं। परन्तु वाह, देखो कैसा अद्भुत योग है। तुम्हारा पत्र फूट-फूट कर हँस रहा है। सामने यह मानों तटस्थ समाधिलीन सी हम दोनों मायाग्रस्त मूर्खों को चुपचाप देख रही है। ये उन्मीलित नेत्र, शुष्क ओष्ठ और प्रत्येक श्वास में सूखे पत्ते की तरह काँपता हुआ हृदय कितने कष्ट, कितने संयम, कितने दुस्संमय का द्योतक है। तुम सोचोगे, यह बड़ा दारुण दुःख है, पर मैं सोचता हूँ—यह गनीमत है। यह भी अब इस भाग्य में कै घड़ी और है!

यह पत्र, मस्ताना पत्र, तुम्हारी हृत्तन्त्री की गति में लय मिलाकर कैसा मोहक अनन्त संगीत गा रहा है, पर कैसे कुसमय? चुप—अरे चुप, उसकी नींद खुल जायगी, वह विकल हो उठेगी, वह कराहेगी, वह तड़-पेगी, वह जल, एक बूँद जल माँगेगी। वह दाह, वेदना और अदृष्ट दर्शन से छटपटा जायगी। यह इतना उन्माद, इतना रस, इतना मद! अरे प्रिय! अब इस कुसमय में और नहीं, तुम इन सबको उस आनन्दालोक में बैठ कर अकेले पियो, पर मुझे अभी माफ करो!

तुम देखने भर का (?) मुझे न्योता देते हो और धिक्कार के योग्य बात तो यह है कि मैं उसके लिए लालायित भी हूँ पर भाई, तुम्हीं पियो—छको। मैं छक तो नहीं, पर चख जरूर चुका हूँ। केवल चखना या छकना तो भाग्याधीन है। मुझे तुम पर डाह नहीं, वसन्त के प्रति भी नहीं। पुराने पत्ते झाड़ना और नई कोंपल खिलाना उसका स्वभाव है। परन्तु प्यारे! इस समय तो यह मद मेरे लिए सिरके के सामान है। समय ही तो है। प्रति वर्ष वसन्त आता है, पत्तों को बिखेरता और फूलों को खिलाता है और न जाने क्या-क्या उत्पात करता है। तुम खिले फूलों का रस छककर पियो। मैं तब तक बिखरे पत्तों को बटोरने का प्रयत्न कर देखूँ।

तुम्हारा,

—सू०

पुनश्च—

देखो, सम्भव है, पत्र से प्रथम तार ही पा बैठो।

—सू०

[३]

सू... ,

हाय! अकेले रह गए? तार और पत्र एक के बाद दूसरे वज्र की तरह टूट पड़े। क्या करूँ, क्या करूँ? तुमने मुझे लिखा भी नहीं, कहा भी नहीं। वे पद-चिह्न मेरे बिना देखे ही अनन्त में विलीन हो गए? ओस की बूँद की तरह? इतनी जल्दी! हाय रे भाग्य! और मैं क्या कर रहा था? प्रिय! प्रिय! मुझे लज्जा आ रही है। मेरी छाती फटी जा रही है! अब कैसे रहोगे? कैसे सहोगे? मैं ही वहाँ कहाँ आऊँगा? किस मार्ग से वे गईं? बता सकोगे? बताना पड़ेगा! मैं आऊँगा। उन्हें फिरा लाऊँगा! न होगा, देख ही आऊँगा। क्या इतना भी अशक्य है? जीजी! जीजी! क्या तुम सुन रही हो? मुझे आशा थी, हम लोग आकर फूल-से बच्चे को गोद में लेकर चूमेंगे और तुम्हारा आशीर्वाद ग्रहण करेंगे! भाई! अरे मेरे बन्धु! माता ने अन्तिम बार अपने हृदय के समस्त स्नेह से पाली हुई यह जीवित कुसुमकलिका मुझे सौंपी थी। वह मैंने तुम्हें सँभाल दी थी—जैसे चिड़िया अपने बच्चे को वृक्ष के खोखले में रखती है। बता, कहाँ है बन्धु! मित्र की धरोहर की रक्षा करना तुम्हारा धर्म है। प्यारे! तुमने अवश्य ही उस रत्नको सँभालकर रक्खा होगा। मेरे विश्वासी! विश्वासघात न करना! मैं आता हूँ!

—प०

[४]

प्रिय!

बड़ा सुख है, अब मैं रात-दिन चाहे जब निस्सङ्कोच रो लेता हूँ। कोई सुननेवाला नहीं, देखनेवाला भी नहीं! सन्नाटे की रात में नितान्त

दूर टिमटिमाते तारों के नीचे, स्तब्ध खड़े काले-काले वृक्षों के नीचे घूम-घूमकर मैं रातभर रोता हूँ। यह मेरा अत्यन्त सुखकर कार्य है। इसमें मेरा बड़ा मन लगता है। और इस पवित्र रुदन के लिए ये स्थान उपयुक्त भी हैं। निकट ही गीदड़ रो रहे हैं। कुत्ते भी कभी-कभी रो पड़ते हैं। घुग्घू बीच-बीच में रोने का प्रयत्न करता है, परन्तु मेरे रुदन का स्वर तो कुछ और ही है, वह अन्तस्तल की प्राचीर-भित्ति को विदीर्ण करके एक नीरव लहर उत्पन्न करता हुआ नीरव लय में लीन हो जाता है। उसे देखने की सामर्थ्य किसमें है? नींद अब नहीं आती है। दो महीने रात-दिन सोता रहा हूँ। अब नींद से हिसाब साफ है। हाँ, चटाई पर औंधा पड़ जाता हूँ और आँख बन्दकर चुपचाप कुछ सुनने की चेष्टा करता हूँ तब रात्रि के गम्भीर अन्धकार को विदीर्ण करके एक अस्फुट ध्वनि सुनाई देती है और मैं विवश हो कर उसमें स्वर मिलाकर विहाग या मालकोश की रागिनी में रुदन-गान करने लगता हूँ। आँसूओं के प्रवाह में रात्रि भी गलने लगती है। तब हठात् वह उसी विमल परिधान में आती है और पहले वह जैसे बलपूर्वक मेरे कागज-पत्र उठाकर मुझे सोने पर विवश करती थी, उसी तरह मेरे तरह उस सङ्गीत को उठाकर रख देती है। पर हाय! अब मैं सो नहीं सकता! आँख फाड़ कर देखता हूँ तो अकेला रह जाता हूँ। मैं शेष रात्रि इस वृक्ष से उस वृक्ष के नीचे घूम-घूम कर काट देता हूँ।

सू०—

---

[५]

सू०......,

न कहने योग्य बात को कैसे कहूँ? परन्तु नस-नस में रमी हुई बात को बिना कहे कैसे रहूँ? तुम्हारा यह सुख देखने-सुनने की वस्तु नहीं। इसका अन्त हो, यह भस्म हो। युक्ति और तर्क बहुत हैं, भावनाओं की नदी उमड़ रही है, स्मृतियाँ हिलोरें ले रही हैं, परन्तु सबके

ऊपर तुम तैर रहे हो ! मैंने तुम्हें छोड़ और कब किसे देखा है ? मेरे प्यारे बन्धु, मुझे आज भी सब तरफ से अन्धा बनकर तुम्हीं को देखने दो। अतीत के महा गर्त में तो विश्व की समस्त विभूतियाँ हैं, पर वर्तमान क्षणभंगुर जन्तु वहाँ जाने से प्रथम वहाँ की सत्ता ही क्या रखता है ? उधर का ध्यान छोड़ो। उस दिन तुमने मेरा अनुरोध माना था, आज मेरी इस विद्युल्लहरीको मानो। वह चम्पे की कली के समान कोमल और कच्चे दुग्ध के समान स्वच्छ बालिका भाग्य-बल से तुम्हारे लिए प्रस्तुत है। वह इसकी सगी बहिन है। प्यारे ! परम प्यारे बन्धु ! तिनके का आसरा रहते इच्छापूर्वक मत डूबो। जीवन का मध्य युवावस्था है, वह क्षण-भर के लिए अधम प्राणी को स्वर्ग के अक्षय भण्डार से दी गई है। उसे यों नष्ट न करो। मैं क्या कहूँ ? मुझे भय है, मैं निष्ठुरता कर रहा हूँ; परन्तु मैं इस बात को जानता हूँ। बोलो—क्या तुम इसका अनुरोध रक्खोगे ?

तुम्हारा,

—प०

---

[६]

प्रिय !

तुम्हारे पत्र का प्रत्येक अक्षर मूर्तिमान काल की तरह सिर पर मँडरा रहा है। इससे कैसे रक्षा होगी, कब वज्र-प्रहार होगा ? कौन जानता है। भावना की बरसात में लालसा की क्षुद्र नदी उमड़ चली है। संयम का अपूर्व पुल टूटकर बहा चाहता है ! बहाव की दूसरी ओर पर वह एक चट्टान की काली-काली कूट-शिखा दीख रही है। वहाँ से लोक-लाज मुझे पुकारकर सावधान कर रही है। पर आत्म-वेदना से अङ्ग-सञ्चालन तक मेरे लिए अशक्य है, पर, पर—हे भगवन् ! क्या यह

सम्भव है? ओफ! कैसी तेजी से वह कृष्ण कूट निकट आ रहा है। इस भीषण प्रवाह में अब एक ही धक्के में सब समाप्त है।

जीवन अभी है, बहुत है। हृदय-दीप में भी अभी काफी स्नेह है—सब नहीं जल पाया है, परन्तु......परन्तु—हे मित्र! मुझ दीन को पतित न करो—तरसाओ मत! ठहरो, मैं मृत्यु या जीवन, दो में से एक वस्तु को चुन लेता हूँ!

सू०

---

[७]

सू......,

खेद है, सम्मिलित न हो सका; मेरी पत्नी ने सब कुछ वर्णन किया। मेरी अभिलाषा मन ही में रही, परन्तु अब बहुत शान्ति मिली! क्यों? क्या तुम्हें कुछ भी सुख मिला? देखो जगत् का काल-चक्र। दिनके बाद रात, रात के बाद दिन। परन्तु धन्य है वह शक्तिमान् प्रभु, जिसके महाराज्य में सब रोगों की औषधि, सब दुखों का प्रतिकार, सब वेदनाओं की शान्ति है। वस्त्र फटता है, उसे सीए बिना तो नहीं चलता। जीवन में ठोकरें लगती हैं—उठना और फिर चलना मर्द का काम है! फिर ग्लानि क्यों? फिर गुप्त पाप से प्रकट पाप उत्तम है। इन्द्रियाँ कब धोखा दें, कब प्रबल हों, क्या ठिकाना है? उद्वेग की शान्ति शरीर-धर्म है। शोक-सन्ताप, सुख-दुःख, शरीर और जगत् के साथ है। सहो और आगे बढ़ो। जगत् के युद्ध में साथ वाले आत्मीय योद्धा गिरते हैं, पर शेष योद्धा आगे बढ़ते हैं। तुम भी बढ़ो। प्रारब्ध के चक्र में जो क्षणभर भी खड़ा रह कर सोच विचार में पड़ेगा-पिस जायगा। इस चक्र के निस्तार की गति तो चले ही जाना है।

—प०

---

[८]

प्रिय,

उसकी स्मृति बलपूर्वक हृदय से निकाल फेंकी। बड़ी कसक है, जैसे एक पसली छाती से उखाड़ फेंकी हो। ग्लानि और अनुताप की हिलोरें हाहाकार करती उठती हैं, पर यह निरपराधिनी है! यह अनाथा, असहाया, दीन-हीन दुखिया अपनी स्वाभाविक सरलता और नैसर्गिक विश्वास को लेकर मेरे पास आई। उस दिन जब शीत-तुषार से कम्पित पल्लव की तरह उसने अपना कण्टकित हाथ बढ़ाया, मैं कुछ सोच ही न सका— मैंने उसे पकड़ लिया!

क्षमा? ओ स्वर्गवासिनी! क्षमा! अधम, निरीह, नर-पशुपर क्षमा!! शोक-समुद्र में एक बूँद स्वाति-जल की पड़ी। दूध में मिश्री की तरह यह मुझमें घुल गई। सब घाव सूख गए, सब कसक मिट गई! इस संजीवन स्पर्श को पाकर बहुत दिन बाद आज फिर सुख निंदिया आई है!!!

—सू०

[९]

सू.....

कब से तुमने नहीं लिखा! जीते हो या मरे। क्या नवीन रस में जगत् को भुला बैठे? उस अवसर पर मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन न कर सका, इसके लिए बारम्बार क्षमा-प्रार्थी हूँ। अवसर ही ऐसा था। तुम्हें देखने की बड़ी लालसा है। एक ही रस चाहे जैसा हो, मुँह फेर देता है। 'मीठे भावै लौन पै, सीठे हूँ पै लौन।' अब कुछ क्षण इस लता से पिण्ड छूटे और खुली हवा लगे! पर यह तो ऐसी लिपटी है कि हड्डियों तक घुस गई है। मद है तो मद—परन्तु पेट भरे पर, इधर पेट का प्रश्न कुछ विकट हो चुका है। तुम्हारी कैसी गुजरती है! लिखो? पिछली बात के लिए नाराज न होना। शीघ्र ही मिलूँगा।

—प०

[१०]

प्रिय !

मैं अच्छा हूँ, पर मुझे यह सहन नहीं होता कि तुम मुझे मनाओ। इससे मैं बहुत बेचैन हो उठता हूँ। जैसे जङ्गली पशु अपने घावों को चाट-चूटकर आराम कर लेते हैं, वैसे ही मैं भी अपने हृदय के सब घावों को आराम कर लेता हूँ। मुझे उसकी आदत पड़ गई है। फिर मेरे पास एक ऐसी तेज शराब है, जो हर वक्त मुझे गर्क रखती है। कसक तो कभी मुझे मालूम ही नहीं होती। तुमने मुझे ठगा। खैर, मैं तुम्हारे लिए अपनी आशा के कच्चे डोरे को इतना मजबूत समझता था कि इतराता था, पर तुमने उसे तोड़ दिया। अगर मैं औरत होता तो तुम्हारे मर्दपन पर धिक्कारता; क्या मर्दों की कुदरती शक्ति ऐसी होनी चाहिए ? साँस के झटके से टूट जाने वाले प्यार की आशा का अभागा तार तो सिर्फ प्यार के ही घमण्ड पर बाँधा जाता है। कोमलता का तो यह स्वाभाविक ही घमण्ड है कि वह अपने को कठोरता से सदा जबरदस्त समझती है। कोई सजीव कठोरता तो उनके सम्मुख तन कर खड़ी रह ही नहीं सकती।

मैं तुम्हें प्यार के पत्र अब इसलिए नहीं लिखता कि अब मैं अपने प्यार के बचे-खुचे रस को बहुत ही किफायत से खर्च करना चाहता हूँ। मैंने उसे बुरी तरह लुटाया है। वह किसी के पल्ले कम पड़ा है—पर बिखरा बहुत है। अभी तो मरने में देर है। इन सब को खर्च कर दूँगा तो जीऊँगा कैसे ? युग बीत गए—उसे तो कभी लिखा ही नहीं। वहाँ तक डाक जाती ही नहीं। पर जब भी वह आती है, मानों कहीं गई ही न थी। बातचीत और प्यार का जो प्रसंग चलता है, वह आरम्भ और समाप्ति से रहित, सिर्फ मध्य भाग से समझो ! मध्य भाग से ! हाय, तुम नहीं समझोगे, उधर गए हुओं से तुम्हारी मुलाकात ही नहीं है। तभी तो तुम ऐसी तुच्छ बातें जबान पर ले आते हो ! मुझे जरा उधर जाने दो, मैं प्रमाणित कर दूँगा कि मैं तुम्हारे लिए कितना उदार हूँ !

—सू०

[११]

सू०......,

किस लोक की तरफ तुम्हारा लक्ष्य है? और तुम सर्वथा प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष ज्ञान की अपेक्षा किस कल्पित लोक को देख रहे हो? तुम अमर, अविनाशी, अलिङ्ग और लीन आत्मा के विषय में कौन-सी भ्रान्ति धारण कर रहे हो? सुख से आँख मूँदे रहे हो—दुखवाद में पड़े हो, वह न अनुरक्ति है, न विरक्ति। तुम्हारा विज्ञानवाद क्या यही है? रूप-सुधा पियो, ज्ञान को लात मारो, उन्मत्त रहो, अवशिष्ट दिन यों व्यतीत करो। देखो, कैसा वह रूप है, इसे हवा में खुला छोड़, तुम किस भावना में डूबे बैठे हो। वह ठण्डा और बर्बाद हुआ जाता है!

—पृ०

---

[१२]

प्रिय!

यह उन्मत्त हास्य तो मुझे मार डालेगा! बिजली चमकती है और बादल रोते हैं! किसी भी तरह मैं इसके साथ नहीं हँस सकता। हास्य मेरे लिए हास्यास्पद है। वह समाप्त हो चुका। इतने घाव? इतनी वेदनाएँ? इतना भार लेकर किससे हँसा जाता है? जब मैं हँसता था, तब किसकी मजाल थी कि उसे रोक सके! मास्टर के हजार डाँटने पर भी हँसी नहीं रुकती थी। पिता बार-बार कहते थे—अरे बेट, इतना नहीं हँसा करते! हाय! वे दिन गए! वे दगाबाज दिन इस गड्ढे में ढकेल गए, अब क्या होगा? मेरा हृदय रो रहा है, मानो उसमें नासूर हो गया है, जिसमें से रुदन का अटूट झरना बह रहा है। जागरण की अपेक्षा स्वप्न में सुख मिल रहा है। वास्तविक वस्तु की अपेक्षा कल्पना मीठी दीखती है। आह! उस अनन्त में इतनी दूर—वह क्या चमक रहा है। अवश्य ही वही है—पर इस अधम पार्थिव शरीर को लेकर मैं वहाँ जा कैसे सकता

हूँ ! वह स्वर, जो प्रति क्षण सुनाई देता है, कैसे इन चर्मचक्षुओं से देखा जाय ! इस आत्मा का शरीर से विच्छेद कब होगा ! कब ज्ञान की धाराएँ जगत् भर से अपने ध्येयको ढूँढ़ लावेंगी—कब, कब, कब ?

चमकती हुई बिजली के बीच से झर-झर बरसते बादल तो बड़े सुन्दर दीख पड़ते हैं; किन्तु जब वह हँसती है, तब मैं रोता हुआ क्यों नहीं अच्छा लगता ? फिर भी उसमें इतना सुख मिलता है। उस दिन इसे देखते ही हर्ष के मारे लोहू नाच उठा था। देखते-देखते पेट ही नहीं भरता था। पर आज इससे डरता हूँ। इसकी वे कटोरी-सी आँखें शेर की तरह मेरी ओर घूरा करती हैं। हाय! इतनी प्यास इसे किस रस की है ? मैं भी तो जवान हुआ था। शायद इतनी प्यास मैंने कभी नहीं देखी थी। मेरे पास सदा ही रसका टोटा रहा, पर अब तो दिवाला है। लोग कहते हैं कि मैं अघा रहा हूँ, पर मैं रेत फाँककर जी रहा हूँ। तुम कहते हो रूप ! अरे, यह रूप तो धूप है। धूप क्या सदा शरीर को सुहाती है ? उसके लिए समय चाहिए, ऋतु चाहिए, और शरीर चाहिए। ग्रीष्म की यह धूप क्या मेरे-जैसे घायल के तापने की वस्तु है ? मैं मानता हूँ स्नेह है, बहुत है। पर मानो वह किसी अछूत का छुआ जल है; पीने की तरफ प्रवृत्ति ही नहीं होती। या कोई दारुण रोग-पुञ्ज नहीं बुझने देता। कहीं मन नहीं लगता, कुछ अच्छा नहीं लगता।

—सू०

---

[१३]

सू०......,

पत्र पढ़ कर इच्छा हुई कि सीधा आऊँ और फिर हम दोनों उस प्राचीन बाल्यकाल की तरह गंगा-स्नान करने चलें, किन्तु लौटें नहीं, वहीं रह जायँ।

तुम्हारे दुख का यह दुर्धर्ष विषय मेरे समझने का विषय शायद नहीं। तुममें रूप है, गुण हैं, धन है, ऐश्वर्य है, परी-सी सुन्दर स्त्री है...! हाय! यह पाकर तुम मृत्यु-कामना की ओर इतनी तीव्रता से बढ़ रहे हो कि भय लगता है! क्या मृत्यु ऐसी सुखकर वस्तु है? जगद् को देखा कि जो कुछ तुम्हारे पास है, उसी की प्राप्ति में असफल हो, लोग मृत्यु-कामना करते हैं; पर तुम उन्हें पाकर भी मृत्यु-कामना करते हो यह क्या बात है? यह मृत्यु-सुन्दरी कौन है? किस प्यारी की यह दूती है? यह किस अभिसारिका से मिलाएगी? बोलो, फिर हम तुम दोनों ही चलें! चलो!

—प०

---

[१४]

प्रिय!

मेरे दुःख का कोई खास कारण नहीं है, पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दुख मेरे शरीर और आत्मा में नहीं है। मैं उसके प्रवाह में किसी अतर्क्य शक्ति से गिर गया हूँ और बहा चला जा रहा हूँ! कहाँ जाकर इस प्रवाह का अन्त होगा, अब विधाता ही जान सकता है! मुझे कुछ प्रिय नहीं; मेरे मन का कहीं ध्रुव नहीं; किसी बात, किसी कार्य में उत्साह नहीं; किसी वस्तु में रस नहीं; ऐसा मालूम होता है, मेरा कहीं कोई नहीं है! और जीवन तेजी से समाप्त हो रहा है! पता नहीं एक ही घटना ने क्या जादू कर दिया। शरीर के स्थान पर शरीर, आत्मा के स्थान पर आत्मा हाजिर है; वैसा ही माधुर्य, वैसा ही इन्द्रिय-जाल और उनकी साधना सामग्री, किन्तु मानो जीवन-तत्व नहीं रहा है। तब अनायास ही जो प्रवाह प्राप्त था—वह इतनी चेष्टा, सावधानी और अभिलाषा होने पर भी छिन्न-भिन्न ही दीखता है। सच पूछो तो मैं वासना का पशु, वासना की नदी में, वैतरणी में, बीच धार में पड़ा उस पार जाने का घोर प्रयत्न कर रहा हूँ, यह जानते हुए भी कि उधर, उस पार नरक ही है।

हाय ! कहाँ गई वह पवित्रात्मा—मेरे दुख, दरिद्रता और जीवन के कठिन संग्राम की संगिनी, विपत्ति की ढाल, मेरे शरीर और हृदय की स्वामिनी ! छाया की भाँति उसकी स्मृति मन-मन्दिर में बैठी है—अभी बैठी है। सोचा था निकालने को, परन्तु वह भूल थी ! कहाँ है वह ? क्या वहाँ जाना और उसे बुलाना दोनों ही शक्ति से बाहर—असम्भव है ? पर मैं आशा न छोड़ूँगा। मैं उस घड़ी की प्रतीक्षा में हूँ ! सच कहो, क्या ऐसा कोई लोक है, जहाँ कोई किसी की प्रतीक्षा करता रहता है ? वहाँ क्या निष्ठुर, निर्मम, वज्र-पुरुष भी जा सकते हैं ! कहो मित्र ! तुम्हारा ज्ञान, अनुभव और विचार-शक्ति क्या कहती है ? आशा दिलाओ तो मैं कुछ और भी जल्दी करूँ।

—प०

---

[१५]

प्रिय !

दुपहरी के सूर्य की तरह इस ज्वलन्त रूप को एक क्षण भी देखना मेरे लिए अशक्य है। उसे मैंने उसके पिता के पास भेज दिया है। वह हँसती हुई गई है, उसी तरह, बल्कि उससे भी अधिक जोर से ! मुझे मोह लेने की सफलता का गर्व उसके होठों और नेत्रों में मस्ती कर रहा था; और यौवन का गर्व उसकी छाती से फूटा पड़ता था। अब कहाँ इसके सम्मुख तनकर सीधा खड़ा होता ! वह देखो, पीत निष्प्रभ मुख, उन्मीलित नेत्र, प्रकम्पित प्रच्छ्वास और समाप्त जीवन—प्रिय बन्धु, अब मुझे यही जी भरकर देखने दो ! मैं आनन्दालोक में जा रहा हूँ, जिसकी न परिधि और न रूप-रेखा है। धीरे-धीरे चारों ओर एक ज्योति फैल रही है। मन इन्द्रिय अब भार से जँचते हैं। मैं इस अलक्ष्य भावना में लहरी की तरह विलीन होना चाहता हूँ। मेरी परिचित कण्ठ-ध्वनि ही निकट ही निकट सुनाई दे रही है ! निश्चय ही कहीं निकट है ! मुझे

उसकी खोज करने दो, और किसी से मेरी पटेगी ! मुझे रूप नहीं यौवन नहीं, प्यार नहीं, रस नहीं—यह कुछ नहीं चाहिए—मुझे चाहिये मेरी वही श्री, वही महाकल्याणी, मेरी सहधर्मिणी और मेरे दुःख, दरिद्रता, रहस्य और भीतर-बाहर की संगिनी !

कल मेरा उसकी खोज में प्रस्थान है, क्षमा करना। हमारे बचपन से अब तक का सब हिसाब-किताब बेबाक। उस लोक में अवश्य ही मिलेंगे। ओम् शान्तिः !

—सू०

विशेष—

अपनी समस्त सम्पत्ति मैंने उसके नाम कर दी है और उसकी अभिभाविका तुम्हारी पत्नी है। कागजात रजिस्ट्री से तुम्हारे पास जा रहे हैं। कृपा कर उसके प्रति दया और क्षमा का व्यवहार रखना। मेरे अनुरोध अपनी पत्नी से भी कह देना।

—सू०

विवाह के बाद

[ले०—डॉक्टर धनीराम प्रेम]

पत्र १

माई डियर रमेश !

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने जो कुछ सुना है, वह ठीक है, अक्षरशः ठीक है। मैंने करुणा के साथ सिविल मैरिज कर ली है। तुमको खबर भी नहीं दी, इसकी शिकायत करने का तुम्हें अवश्य अधिकार है ! क्योंकि तुम जैसे गहरे मित्र दो एक ही हैं। लेकिन भाई, कई ऐसे कारण थे, जिनसे विवश होकर हमने विवाह को कुछ समय तक प्रकट करना न

चाहा। कभी समय पड़ने पर मिलोगे तो तुम्हें सारी कथा सुनाऊँगा। परन्तु एक बात का उल्लेख इस पत्र में अवश्य करूँगा। तुम कहते हो, मैं हमेशा स्वप्न देखनेवाला रहा हूँ, विवाह के विषय में बड़े भारी आदर्शों के स्वप्न देखनेवाला, फिर मैंने करुणा से शादी कैसे कर ली। इन सब बातों से तुम्हें आश्चर्य हुआ है। ठीक है, आश्चर्य होगा ही। परन्तु बात यों हुई :—

मेरा विचार अगर ठीक है तो तुमने करुणा को पाँच बरस पहले अलीगढ़ में देखा था, जब हम धर्मसमाज हाईस्कूल में पढ़ते थे। हमारे और तुम्हारे मकान के सामने ही तो करुणा के पिता रहते थे। करुणा को हम अच्छी तरह जानते थे और कभी-कभी बातचीत भी हो जाया करती थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि तुम करुणा को उस समय नीरस और पत्नी—आधुनिक पत्नी होने के अयोग्य कहा करते थे। और यही मेरा ख्याल था। यह ठीक था कि वह पढ़ने में चतुर थी और उन दिनों आठवीं क्लास में पढ़ती थी। लेकिन उसके रहन-सहन, वेषभूषा, बोलचाल, व्यवहार आदि सब दकियानूसी ही थे। और इसी कारण जैसा तुम अब भी समझते हो, यह असम्भव था कि मैं उसे चाहूँ या उसके साथ प्रेम करूँ और सबसे अधिक, उसके साथ विवाह बन्धन में बँध जाऊँ।

परन्तु भाई, संसार अजीब है। आदमी में जैसा परिवर्तन हो सकता है, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। कोई कसम खाकर कह सकता है कि जिस बच्चे को हम सिधाई की प्रतिमूर्ति समझते हैं, वह बड़ा होकर अपराधी न बन जायगा ? या एक पिछड़ा हुआ बच्चा बड़ा होकर एक महान् विद्वान् न समझा जायगा ? यही हाल करुणा का हुआ। तुमने तो उसे तबसे देखा भी नहीं है। उसके पिता की बदली तभी यहाँ को हो गई थी।

जब मैंने आगरा से इण्टर पास करके बी० ए० में यहाँ नाम लिखाया, तब मुझे मालूम पड़ा कि करुणा भी इसी कालेज में फर्स्ट इयर में दाखिल

हुई है। वास्तव में हम दोनों एक ही साथ दाखिले के लिए दफ्तर में पहुँचे थे। उस समय मैंने देखा कि करुणा दो बरस में ही बिलकुल बदल गई है। कह नहीं सकता क्यों, उसी समय से करुणा मेरे हृदय में बस गई।

फिर तो करुणा को नित्य देखना, नित्य मिलना-जुलना और नित्य उसके गुणों पर मुग्ध होना। तुम ठीक ही कहते हो कि मैं स्वप्न देखनेवाला रहा हूँ। हाँ, मैं स्वप्न देखा करता था, सर्वगुणसम्पन्ना युवती का, जिसे मैं प्यार कर सकूँ और जो मुझे प्यार कर सके। ऐसी युवती का, जो संसार को मेरे लिए और अपने लिए स्वर्ग बना दे। किसी जगह, किसी समय भी उसे देखकर मैं गर्व से यह कह सकूँ कि हाँ यह मेरे स्वप्न की युवती है और मेरा स्वप्न वास्तविक था। मैं जानता हूँ रमेश, हमारे समाज में प्रेम-विवाह न होने के कारण लगभग सौ फीसदी दम्पति दुखमय अवस्था में हैं। यों क्या हुआ कि वे बिना समझे, बिना देखे या बिना अनुभव किये मशीनों जैसे चलते रहे और मंजिलपर लग गए। परन्तु उसे जीवन नहीं कह सकते। मैं यह जानते हुए विवाह से काँपता था। एक छोटी-सी भूल और सारा जीवन नष्ट।

परन्तु जितना ही मैं करुणा को जानता जाता था, उतना ही वह मेरे आदर्श के समीप आती जाती थी। वह अब दकियानूसी नहीं थी, अप-टू-डेट थी। लजीली नहीं थी, सबसे मिलती-जुलती थी। पहनाव-उढ़ाव, बातचीत, व्यवहार सभी में आधुनिक। गाना वह जाने, वाद-विवाद में वह भाग ले, पढ़ने में सबसे तेज। और फिर मुझे प्रेम करे हृदय से। मैं तो समझता हूँ, ईश्वर ने सोच-समझ कर करुणा को मेरे लिए ही बनाया था, तभी तो वही अकेली मेरे आदर्श के अनुसार मिली।

अब तुम समझ गये होगे कि क्यों मैंने यह विवाह किया। मैं तो समझता हूँ कि हमलोग आदर्श सुखी दाम्पत्य जीवन व्यतीत करके औरों के सामने एक आदर्श रख देंगे।

हाँ, मिठाई जरूर मिलेगी खाने को। लेकिन तार से मिठाई कैसे भेजता, यार ! इस पत्र के साथ पेड़े का चूरा रख रहा हूँ। मुँह मीठा कर लेना। जब यहाँ आओगे तो बाकायदा मिठाई मिलेगी। पत्र डालते रहा करो।

तुम्हारा ही—
विनय

पत्र २

प्यारी सुधा,

पंद्रह दिन पहले मैंने तुम्हें विवाह के बाद जो पहला पत्र डाला था, उसका उत्तर आज मिला। तुमने पत्र बधाइयों से और शुभाकांक्षाओं से भर डाला है। शायद किसी और को यह पत्र मिलता या शायद मुझे ही यह एक सप्ताह पहले मिलता, तो हृदय इसे पढ़कर हर्ष से फूला न समाता। लेकिन आज इसे पढ़कर मुझे रोना आ रहा है।

तुम शायद समझोगी कि मैं पागल हो गई हूँ, जो ऐसी बातें लिख रही हूँ। सौभाग्य के समय रोना; और उस स्त्री के लिए, जो अपने को संसार की सबसे अधिक सौभाग्यशालिनी पत्नी समझती थी ! तुम यदि मेरी बातें पढ़ोगी और मेरे हृदय की दशा को भलीभाँति समझोगी, तो तुम सारा रहस्य जान जाओगी। तब तुम मुझे पागल नहीं, बल्कि दया और सहानुभूति की पात्री समझोगी।

विवाह के पहले विनय को मैं प्रेम का देवता समझती थी। वह भी मुझे बहुत प्रेम करता था। जिस दिन हम दोनों ने विवाह का निश्चय किया था, उस दिन को मैं भूली नहीं हूँ। अपने जीवन में उस दिन को मैंने स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य समझा था। विनय को मैं बहुत चाहती थी। देखने में सुन्दर, व्यवहार में सुशील, कालेज में प्रथम श्रेणी का छात्र और प्रेम करने में रोमियो के समान। फिर कमी किस बात की थी, ऐसा

पुरुष जिस किसी स्त्रीसे भी विवाह का प्रस्ताव करे, वह अपने को भला कैसे भाग्यशालिनी न समझे। जिस समय विनय ने कहा था—

'करुणा, तुमसे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। तुम जानती हो कि हमारे हृदयों में प्रेमकी दो धारें अलग-अलग बह रही हैं। क्यों न उन्हें मिलाकर हम एक कर देवें। संसार में अभी कितनी ही मंजिलें पड़ी हैं, क्यों न उन्हें हम साथ-साथ पार करें एक विश्वास के साथ, एक ध्येय के साथ और एक निष्ठा के साथ ?'

उस समय मैं विस्मित-सी रह गई थी। कानों ने चाहा कि बार-बार विनय उन्हीं मधुर शब्दों को सुनाता रहे।

इन सब शब्दों, इन सब भावों और भावुकताओं के बीच हमारा विवाह हुआ। परन्तु विवाह हमारे प्रेम का अन्त तो न था, जो उतना ही सुन्दर होता जितना हमारा प्रेम था। वह तो एक दूसरे जीवन में प्रवेश करने का द्वार था। क्या हम उस जीवन को जानते थे ? नहीं ! क्या हमने कभी यह सोचा था कि वह जीवन हमारे प्रेम-जीवन से भिन्न होगा और कितना भिन्न होगा ? नहीं। और हमने ही क्यों ? जितने भी प्रेमी विवाह करते हैं, वे प्रेम से परे क्या है, इसका विचार नहीं करते, और इसीलिए विवाह के बाद विवाहित जीवन से सामना करना होता है, तो प्रेम की वे बातें वे भावनाएँ, उल्लास और आकांक्षाओं की लहरें नष्ट हो जाती हैं। दुर्भाग्यवश यही मेरा अनुभव हुआ !

विवाह के एक सप्ताह बाद विनय ने किराये पर एक घर ले लिया। हम साथ-साथ रहने के लिए वहाँ पहुँच गये। और पहले दिन से ही विवाहित जीवन की कटुता का अनुभव होने लगा। उस दिन बात-की-बात में विनय ने मेरा अपमान कर दिया। घर को अन्दर से सजाने की बात थी। मैं कह रही थी कि आसमानी रङ्ग अच्छा रहता है। विनय की राय थी कि हरा रङ्ग अधिक खिलेगा। कुछ बड़ी बात भी नहीं थी।

अगर हरा पसन्द था तो हरा ही सही। मैं चुप हो जाती। लेकिन दो-चार बातें मैंने पूछीं और कहीं तो मुझे टका-सा जवाब दे डाला—तुम्हारे घर में कभी अच्छे रंग हुए भी थे।

इस पर मुझे क्रोध आ गया और मैंने कह दिया—तुम यह मत समझना कि मुझे स्त्री समझ कर हुक्म चला लोगे। मैं कोई सीता-सावित्री नहीं हूँ कि रात कही तो रात और दिन कहा तो दिन।

तुम्हीं बताओ सुधा, मैंने कुछ बुरा कहा। तुम क्या मेरी जगह पर होती तो ऐसा न कहती? क्या और कोई शिक्षित नारी अपना ही नहीं, बल्कि समस्त स्त्री-जाति का इस तरह का अपमान सह सकती थी? इस घटना से कोई मुझे क्रोधालु समझ ले भले ही, परन्तु इसमें क्रोध और शान्ति का सवाल ही क्या है? यहाँ तो सिद्धान्त की बात है। असल में सुधा, मेरा अनुभव यह कहता है कि विनय इतने शिक्षित और आधुनिक होते हुए भी स्त्रियों के विषय में अभी तक पुराने विचार ही रखता है। उसकी समझ में एक स्त्री का स्थान पुरुष से नीचा ही रहेगा, वह चाहे जितनी उन्नति कर ले, संसार में वह चाहे पुरुष से हर बात में बाजी भी मार ले जाय। जब उसके ऐसे विचार हैं तो निर्वाह कैसे होगा, यह समझ में नहीं आता! यह ठीक है कि प्रेम में इन छोटी बातों के लिए स्थान नहीं। लेकिन जीवन में सिर्फ घण्टे भर रोज प्रेम की बातें करके अलग हो जाना ही तो नहीं। वहाँ तो अन्य सभी बातों का, छोटी-छोटी बातों का भी विचार करना पड़ता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि मैं गर्विता हूँ या मानिनी हूँ। मैं विनय की सेवा एक दासी की तरह करने के लिए तैयार हूँ। लेकिन जब वह मेरी स्त्री होने के कारण ही तिरस्कार करे या मुझ से अधिकार के रूप में सेवा कराना चाहे, तो यह मुझ से बर्दाश्त नहीं हो सकता।

अगर मैं विवाह के पहले ही यह जान जाती कि विनय के ऐसे विचार हैं, तो शायद यह विवाह कभी न होता। परन्तु हाय, इस प्रेम

विवाह का यह फल होता है कि हम प्रेम में इतने रँग जाते हैं कि वास्तविकताओं की ओर ध्यान भी नहीं देते।

मैं समझती हूँ कि मैंने तुम्हें बहुत कुछ लिख दिया है। अब फिर कभी लिखूँगी। पत्र शीघ्र देती रहा करो। इससे बड़ी सान्त्वना मिलती है।

तुम्हारी ही—करुणा

पत्र ३

माई डियर विनय,

विवाहित दुःखी जीवन के विषय में तुम्हारे कई पत्र मिले। परन्तु सबसे अधिक दुःखद तुम्हारा पिछला पत्र है, जिसे मैं अपने सामने रखकर इन पंक्तियों को लिख रहा हूँ।

इस पत्र में तुमने लिखा है कि करुणा तुम से रूठ कर अपने पिता के यहाँ चली गई है। मुझे केवल इसमें रूठना ही नहीं दीखता। अन्तर्दशा रूठने से भी अधिक भयङ्कर दीख पड़ती है। रूठना तो पति-पत्नी के साथ लगा ही रहता है। लेकिन करुणा के जाने के समय की सारी बातें तुमने जिस ढंग से लिखी हैं, उनसे पता चलता है कि करुणा का जाना रूठना नहीं, एक प्रकार से विवाह-विच्छेद का प्राक्कथन है। सच जानना, विनय, मुझे इससे बड़ा दुःख हुआ है।

उस दुःख के दो कारण हैं। एक तो यह कि तुम मेरे अभ्यतम सुहृदय हो, बिलकुल भाई की तरह हो। दूसरा यह कि विवाह के सम्बन्ध में मेरे विचार भिन्न हैं।

विवाह केवल इसी का नाम नहीं है कि दो मनुष्य जो एक-दूसरे को प्यार करते हैं, कानून या जनता के समक्ष एक हो जायँ। यह एकत्व स्थायी नहीं हो सकता, यदि हम भूल जाएँ कि उस एकत्व को स्थायित्व देना ही विवाह और विशेषकर उसके बाद के जीवन का उद्देश्य है।

हम विवाहित जीवन को उसी समय सुखी बना सकते हैं, जब हम त्याग का और दूसरे के हृदय को समझने का भाव अपने अन्दर पैदा कर लें और मैं जहाँतक समझता हूँ तुमने और कदाचित् करुणा ने भी इन भावों को अभी तक पैदा नहीं किया। तुम अपना आधिपत्य जमाना चाहते हो और वह अपना आधिपत्य जमाना चाहती है। ऐसी दशा में एकता कैसे हो सकती है। दोनों मिलकर एक हो सकें इसके लिए दोनों को एकरस होना चाहिए। मुझे विश्वास है, तुम दोनों अब भी एक-दूसरे को उतना ही प्रेम करते हो। परन्तु प्रेम के परे एक दूसरे को कोई भी नहीं समझ सका। दोनों किसी-न-किसी प्रकार की भूल में पड़े हैं और यही कारण है कि आपस में झगड़े हो रहे हैं।

मेरी सलाह तो यह है कि तुम दोनों एक दूसरे को समझो और सुलह कर लो। पहले तुम्हीं थोड़ा झुको, फिर करुणा तुमसे अधिक झुक जायगी। व्यर्थ का अभिमान किधर भी न रहना चाहिए। बोलो, तुम उसे लेने और मनाने जाओगे ?

शीघ्र उत्तर देना। मेरी तो यही कामना है कि तुम दोनों फिर जल्दी एक हो जाओ, ताकि मैं उस दिन हर्ष के अवसर पर वहाँ आकर अपनी चढ़ी हुई मिठाई वसूल कर सकूँ।

तुम्हारा—रमेश

पत्र ४

प्यारी सुधा,

अन्त में जो होना था, सो हो गया, मैं विनय को छोड़कर चली आई हूँ। तुम इस समाचार को पढ़कर चकित होओगी और तुम यह न कह सकोगी कि मैंने ऐसा एकबारगी ही कर डाला है। क्योंकि मैं तुम्हें कई बार इस बात का संकेत कर चुकी हूँ। सम्भव है कि यदि जीवन उसी प्रकार चलता रहता तो यह अवसर न आता। परन्तु विनय

का व्यवहार ही बुरा हो, यहीं तक बात न रही। उसका चरित्र भी बिगड़ने लगा।

जबसे हममें झगड़ा और मनोमालिन्य रहने लगा था, तब से हममें बोलचाल न रही थी और कभी कोई बात करनी होती तो नौकर हमारा माध्यम बनता था। जीवन दुःखी और अशान्तिमय था सही, परन्तु वह असह्य नहीं था। सम्भव है, कभी उसमें परिवर्तन हो जाता। परन्तु एक दिन की घटना ने उसे असह्य बना दिया।

मुझे वह दिन अच्छी तरह याद है। रात के एक बज गये थे, विनय उस दिन सुबह से घर से निकला था तो तबतक आया न था। मैं कभी उससे इस विषय में पूछती न थी, न यही ध्यान रखती थी कि वह कब जाता है, कहाँ जाता है, क्या करता है, कब आता है आदि। लेकिन उस रात को न जानें क्यों मेरे मन में यह भाव उठा कि कहीं विनय पर कोई आफत तो नहीं आ गई। इस विचार के दिल में आते ही मेरी आँखों में आँसू आ गये। मुझे मालूम हो गया कि मैं अब भी विनय को बहुत चाहती हूँ।

मैं पिछले दिनों की सारी घटनाओं पर विचार करने लगी। यह स्पष्ट था कि विनय का ही सारा दोष था। परन्तु फिर भी मैंने सोचा कि मैं सब कुछ भूल जाऊँगी और उसे क्षमा कर दूँगी। उसके उच्च विचारों से एक बार अपील करूँगी और सम्भव है कि मैं कुछ नीचे उतर जाऊँ और वह कुछ ऊँचा चढ़ आवे और हम दोनों एकबार भूमि पर मिल सकें—बिना किसी खतरे के।

विनय आया। उसने मेरी ओर देखा नहीं। उसकी भावभंगी बदली हुई थी। उसकी चाल बदली हुई थी। वह सीधा अपने कमरे की ओर चला गया। मैं उठी और धीरे-धीरे उसके कमरे की ओर चली। द्वार खुला था और विनय बेतरतीबी से अपने पलँग पर पड़ा था।

'विनय डियर !'—मैंने पुकारा।

'यू गेट आउट करुणा, गेट आउट ऑफ हियर ! आई हैव गॉट एनदर, मोर ब्यूटीफुल, मोर लाइवली।' (करुणा तुम इस कमरे से बाहर निकल जाओ ! मुझे दूसरी मिल गई है – अधिक सुन्दर अधिक सहृदय)—वह लड़खड़ाती हुई जबान से बोला !

मुझे मानों काठ मार गया हो ! मैं पुतला की भाँति वहाँ कुछ देर खड़ी रही। देखा उसे, समझा उसे। वह शराब पिये था और अवश्य ही किसी के यहाँ गया होगा। किसी अधिक सुन्दर और अधिक सहृदय के यहाँ, और यह वही विनय था, जिसे मैं क्षमा करने की बातें सोच रही थी, जिसके लिए कुछ देर पहले ही मेरे आँखों में आँसू निकले थे ! उफ, मानव-हृदय !

'मैं सदा के लिये तुम्हें छोड़कर जा रही हूँ विनय, तुमने मेरा भारी अपमान किया है !''—मैंने जोर से कहा।

"सचमुच तुम जा रही हो ? ऑल राइट, गुडलक !'' उसने बस यही कहा और मैंने बस यही सुना, क्योंकि मैं अपनी बात समाप्त होते ही उसके कमरे से निकल आई थी।

बस दूसरे दिन सुबह ही मैं अपने पिता के घर चली आई। कुछ दिन हुये, मैंने सुना था कि विनय बीमार था। तबियत हो आई कि एक बार देख आऊँ, सम्भव है फिर मिलन हो जाय। पर उसके एक मित्र से सुना कि वह मेरा मुख भी नहीं देखना चाहता। बस उसने अन्त ला दिया। क्या तुम समझती हो कि मैं उसकी खुशामद करती फिरूँ, और ऐसे पतित व्यक्ति की ? कभी नहीं ! इससे तो मर जाना अच्छा है। अगर उसको सेरभर अभिमान है तो मुझे सवा सेर अभिमान है !

जीवन शायद इसी प्रकार रोने के लिए बना था। सोचो तो, मैं ऐसा कह रही हूँ जो 'प्रेम-विवाह' को आदर्श समझती थी।

पत्रोत्तर शीघ्र देना !

तुम्हारी ही—करुणा

पत्र ५

माई डियर रमेश,

तुम्हारा पत्र मिला तुम्हारी बातें बिलकुल ठीक हैं। मैंने पिछली सारी परिस्थितियों पर विचार करके यही निश्चय किया है कि हमने अभी तक विवाहित जीवन का अर्थ ही न समझा था। अपने-अपने अभिमान में हमने जरा-जरा-सी बातों को बढ़े हुए रूप में देखा है। जब मन की स्थिति इस प्रकार की होती है, तो साधारण घटनाएँ भी विष से भरी हुई मालूम होती हैं।

करुणा के यहाँ से जाने में मेरा ही सबसे बड़ा अपराध था, यह मैं मानने को तैयार हूँ। लेकिन इतना अवश्य ही कहूँगा कि यदि वह कुछ समझदार—यानी मुझसे अधिक समझदार—होती तो ऐसी विकट परिस्थिति उपस्थित न होती। बात यह थी कि हम दोनों ही झूठे अहंकार के कारण एक दूसरे से खिंचे हुए थे। और विवाह के बाद के दिन ही ऐसे होते हैं, जब मनुष्य साथी चाहता है, बोलने बतलाने के लिए, विचार-विनिमय के लिए, न कि झगड़े के लिए। और यदि ऐसा साथ घर में नहीं मिलता तो मनुष्य बाहर के प्रलोभनों का शिकार हो जाता है।

यही दशा मेरी हुई। मुझे घर में करुणा की ओर से घृणा, द्वेष और कटाक्ष मिले, पर बाहर मिला प्रलोभन उन चीजों का, उन भावों का, जिनके लिए मैं उन दिनों तरस रहा था। करुणा ने अपनी मूर्खता से मुझे उन प्रलोभनों की ओर ढकेल दिया, मैं अपनी मूर्खता से उन प्रलोभनों का शिकार हो गया और इस प्रकार एक दिन मेरा पतन हो गया।

उसी रात को करुणा से कहा सुनी हो गई और वह चली गई। मुझे पीछे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। जी में आया कि करुणा सामने हो तो उसके चरणों पर सिर रखकर उससे क्षमा माँगू। परन्तु अहंकार ने रोक रक्खा। पता नहीं करुणा के मनोभाव इस समय कैसे हैं। अगर उसके हृदय में

भी क्षमा करने और भूल जाने के भाव विद्यमान हैं, तो सम्भव है किसी दिन हम फिर नये सिरे से विवाहित जीवन शुरू कर सकें !

तुम्हारा ही—विनय

पत्र ६

माई डियर विनय,

तुम्हारा लिफाफा घर पर पन्द्रह दिन तक रक्खा रहा था, क्योंकि मैं कार्यवश बाहर चला गया था। आज सुबह लौट कर उसे खोला और पत्र हाथ में लेते ही मैं सन्न रह गया। यह क्या? 'माई डियर रमेश' की जगह 'डियर फादर-इन-लॉ' यह कैसी गुस्ताखी? समझ गया कि या तो पागल हो गए हो और या बहुत ज्यादा पीना सीख गए हो। मैंने पत्र को आगे नहीं पढ़ा। मुझे क्रोध ने लाल कर दिया था। आखिर करुणा से हट कर अपने मित्रों का अपमान भी करने लगे। लिखने में कुछ गलती तो हो ही नहीं सकती थी क्योंकि लिफाफे पर मेरा ही पता था। लैटर पेपर तुम्हारा ही था और अक्षर भी तुम्हारे ही हाथों के थे। क्रोध में आकर पत्र को टुकड़े-टुकड़े करके आग के हवाले कर दिया।

परन्तु पीछे खयाल हुआ कि पत्र को पढ़ तो लेना था। सम्भव है, कोई रहस्य हो! तुम्हीं लिखकर बताओ कि क्या बात थी? अगर तुम्हारा उत्तर शीघ्र न मिला, तो मैं स्वयं वहाँ आकर सब कुछ देखूँगा।

तुम्हारा ही—रमेश

पत्र ७

माई डियर रमेश,

तुम्हारा क्रोध से भरा हुआ पत्र मिला।

बात वास्तव में बड़ी मजेदार हुई, जिसे यहाँ लिखता हूँ। लेकिन इसके पहले तुम्हें यह बता देना चाहता हूँ कि मेरे होश हवास बिलकुल

दुरुस्त हैं ! न तो मैं पागल हुआ हूँ और न ज्यादा पीना ही सीखा हूँ ।

बात यों हुई । मैंने उस दिन दो पत्र लिखे थे, एक तुम्हारे लिए और दूसरा अपने ससुर के लिए । लेकिन भूल से तुम्हारा पत्र उनके लिफाफे में रख दिया और उनका पत्र तुम्हारे लिफाफे में ।

इस भूल का नतीजा बड़ा अच्छा हुआ । तीन दिन हुए, अचानक करुणा को साथ लिए हुए आ पहुँचे । मैं तो विस्मित रह गया । मानिनी इस प्रकार अपने आप कैसे आई ? मुझे क्या मालूम था कि मेरी छोटी-सी भूल इतना बड़ा काम कर जायगी । वह पत्र करुणा ने ही खोलकर पढ़ा था और वह समझी कि मैंने जान बूझकर वह पत्र ससुर जी के पास भेजा था, ताकि करुणा उसे क्षमा-पत्र समझ कर यहाँ आ जाय । बस वह अपने पिता के साथ आ गई और हमारा पुनर्मिलन हो गया । जब मैंने उसे तुम्हारा पत्र दिखाया तो वह भी खूब हँसी । इतना जरूर है कि वह समझती है कि मैं ही पहले झुका । मैं भी चुप हूँ । क्योंकि मैं समझता हूँ कि वह पहले झुकी !

हाँ, तुमने अनेकों लिखा है । सो तुमको फौरन ही आना पड़ेगा । करुणा भी निमन्त्रण दे रही है । तुम्हारी मिठाई भी चढ़ रही है । एक कारण और है । करुणा ने अपनी सखी सुधा को भी बुलाया है । तुम जानते हो, कौन-सी सुधा ? वही जो तुम्हारे साथ कुछ दिनों बाद बँधने को है । अच्छा तुम दोनों हमारे अनुभवों से भविष्य के लिए कुछ सीख जाओगे ।

तुम्हारा ही—
विनय



जाने लगे जब छोड़ मुझको, क्यों न तब मैं मर गई।
निर्लज्जता का अन्त है, जो पत्र लिखती हूँ तुम्हें॥

शकुन्तला-पत्र-लेखन

[दुष्यन्त के प्रति]

[रचयिता—कविवर श्री रामचरितजी उपाध्याय]

(१)

जाने लगे जब छोड़ मुझको, क्यों न तब मैं मर गई ?
निर्लज्जता का अन्त है, जो पत्र लिखती हूँ तुम्हें !!

(२)

तुमने प्रणय-प्रण को तजा, धोखा दिया, आए नहीं !
तो प्राण का पालन मुझे—होगा उचित किस न्याय से ?

(३)

दोषी न हो तुम, मैं न हूँ, विधि निन्द्य है, मतिमन्द है !
तुमको निठुर चंचल रचा, विश्वासिनी भोली मुझे !!

(४)

"नर स्वार्थ-लोलुप हैं सभी" मुझसे किसीने था कहा !
मैंने न माना सत्य था, विश्वास पर अब क्यों न हो ?

(५)

मेरे हृदय को ले भगे, अपने हृदय के साथ में !
दिन गिन रही हूँ मैं यहाँ, क्या नय प्रणयका है यही ?

(६)

मैंने हृदञ्जलि के सहित, स्वागत किया था आपका !
चञ्चल ! इसीसे क्या कभी, हटते दृगञ्चल से नहीं ?

(७)

जो कुछ कहा तुमने उसे—सोचे बिना मैंने किया !
अपराधिनी क्या मैं इसीसे, हो गई ? लिख भेजना !!

(८)

हटना रहा तो क्यों मिले? मिलकर न हटना चाहिए!
प्रण कीजिए पूरा, नहीं—कहकर मुकरना चाहिए!!

(९)

मिलकर बिछुड़ता जो कभी, मिलता बिछुड़ करके वही!
ऐसा न यदि होता नियम, तो मैं न रहती विश्व में!!

(१०)

तुम हट गए, मैं जी रही हूँ, कौन-सा यह प्रेम है?
बस, दम्भ मेरा है निरा, तुम हो वहाँ, मैं हूँ यहाँ!!

(११)

झटपट चले आओ यहाँ; बैठी हूँ दर्शन के लिए!
जीवन तुम्हारे हाथ है, प्रभुता दिखाती हूँ नहीं!!

(१२)

मैं सेविका, तुम नाथ हो, दुखभागिनी मैं, तुम सुखी!
"चाहती, तुम ऐंठते" यों, क्यों लिखूँ साहस नहीं!!

(१३)

तुम चल पड़े, मैं रो पड़ी, तुमने तुरत तब यों कहा—
"सत्वर मिलन होगा प्रिये!" क्या है स्मरण कुछ या नहीं?

(१४)

हे नाथ! मैं तो थी अनाथा, साथ जब रहना न था—
फिर हाथ क्यों पकड़ा वृथा? शालीनता क्या है यही?

(१५)

जाने न देती मैं कभी, यदि जानती तुम हो छली!
हा! चूक कैसी हो गई, अब हाथ मलना हाथ है!!

(१६)

आखेट करने जन्तुओंका, तुम यहाँ आए रहे!
आखेट पर मेरे हृदयका—कर गये हो! क्या कहूँ?

(१७)

बेहाथ हो मन-साथ में, तो आपके था ही गया!
पर आपके पीछे लगी, निद्रा निगोड़ी भी गई!!

(१८)

तन सूखता ज्यों-ज्यों अधिक, अनुराग त्यों-त्यों बढ़ रहा!
तो भी न तुमको दोष देकर, नित्य हूँ गुण गा रही!!

(१९)

तबतक सुधाकर-रश्मियोंके, स्पर्श से तन क्यों जले?
जबतक स्मरण प्रिय आपका, मन में हिलोरें ले रहा!!

(२०)

जो बात छूटी हो उसे, मेरे हृदय से पूछना!
इस पत्र लिखने के बहुत—पहले हृदय है जा चुका!!

श्रीरुक्मिणीका श्रीकृष्णको प्रेम-पत्र

[श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे कृत 'श्रीकृष्ण-चरित्र']

इस समय श्रीकृष्ण भगवान्की अवस्था २५ वर्ष की थी। यौवन का पूर्ण विकास हो चला था। उन्होंने अपने लिये एक स्वतन्त्र घर भी बनवा लिया था, पर यह गृह गृहणी के बिना सूना ही मालूम होता था। बलराम का विवाह मथुरा में ही हो चुका था। उन्हें आनर्त देश की राज-कन्या रेवती ब्याही थी और इसी सम्बन्ध के सुभीते से, श्रीकृष्ण और यादवों ने आनर्त-देश के समीप समुद्र तट पर अपना नगर बसाया था! श्रीकृष्ण

का विवाह देखने के लिये सब लोग उत्सुक हो रहे थे। श्रीकृष्ण को भार्या भी ऐसी मिलनी चाहिये थी, जो श्रीकृष्ण के सौन्दर्य, पराक्रम, बुद्धि और सौजन्य को शोभा देती। ऐसी तो एक रुक्मिणी ही थी। पर रुक्मिणी के साथ विवाह कैसे हो? क्षत्रिय-कन्या का विवाह तीन प्रकार से ही हो सकता था, स्वयंवर से, दान से अथवा हरण से। स्वयंवर तो रुक ही गया था। दान की बात सम्भव नहीं थी; क्योंकि भीष्मक और उसका पुत्र रुक्मी दोनों ही जरासन्ध के पक्ष में थे। रह गया हरण— सो इसमें किस समय क्या अनर्थ हो जायगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। इसमें भी एक बात का विचार था। वह यह कि यदि कन्या ने मन-ही-मन किसी को पति मान लिया हो, तो ऐसी भार्या सम्भावित के काम की नहीं हो सकती। इस प्रकार एक नहीं, हजारों ऐसी बातें थीं, जिनसे यादवों का मन उथल-पुथल हो रहा था। इतने में यह समाचार आया कि, जरासन्ध के कहने से रुक्मिणी को शिशुपाल के साथ ब्याह देने का निश्चय किया गया है और कुण्डिनपुर में रुक्मिणी के विवाहोत्सव की तैयारी बड़े जोरों से हो रही है।

शिशुपाल और रुक्मिणी के विवाह का मुहूर्त भी निश्चित हो चुका और जरासन्ध आदि राजा-महाराजा भी कुण्डिनपुर में आ एकत्र हुए। शिशुपाल के पिता, राजा दमघोष ने विवाह का निमन्त्रण श्रीकृष्ण तथा अन्य यादवों के पास भेजा। यह सब देख-सुनकर श्रीकृष्ण को यह न सूझा कि, अब क्या करें और क्या न करें?

श्रीकृष्ण ने पहली बार के स्वयंवर के ही दिन, रुक्मिणी को अपना मन दे दिया था। वह मन फिर वहाँ से हटाये हट नहीं सकता था। रुक्मिणी ने भी श्रीकृष्ण को अपना पति मान लिया था, यह पहले कहा ही जा चुका है। अतएव रुक्मिणी अहर्निश कृष्ण के ही ध्यान में मग्न रहती थी। उसने लज्जा त्याग कर अपने माता-पिता से स्पष्ट ही कह दिया कि, मैं कमलनयन, मदन-मोहन को छोड़ और किसी से विवाह न करूँगी; पर उसके बड़े भाई रुक्मी की हठ बड़ी भारी थी। वह श्रीकृष्ण

को अपना शत्रु कहता और तरह-तरह से उनकी निन्दा करता था। इससे रुक्मिणी का कृष्ण के प्रति प्रेम कम न होकर बढ़ने लगा। प्रेम ऐसी ही वस्तु है। इसे रोकने का जितने जोरों के साथ प्रयत्न कीजिये, उतने ही जोरों से यह सारे प्रतिबन्धों को तोड़ कर प्रवाहित होने लगता है।

ज्यों-ज्यों विवाह का दिन समीप आने लगा, त्यों-त्यों रुक्मिणी के प्राणों की व्यथा बढ़ने लगी। उसने माता को सावधान कर दिया कि यदि कृष्ण को छोड़ और किसी के साथ जबर्दस्ती मेरा विवाह किया गया, तो मेरे प्राण न बचेंगे, पर उसकी सुनता कौन था? रुक्मी के कठोर भाषण से रुक्मिणी के नेत्र अश्रुधारा से उत्तर देकर बन्द हो जाते थे। अन्त में उसे एक उपाय सूझा। उसने सोचा कि भाई, बहन और माता-पिता से बढ़कर भी स्त्री के लिये पति ही है। उसी की शरण में जाना चाहिये। यही सोच कर, रुक्मिणी ने भक्ति, विनय और अनन्य भाव से भरा हुआ यह पत्र कृष्णको लिखाः—

श्री महारानी रुक्मिणी का भगवान् श्री कृष्णचंद्र को प्रेम-पत्र

द्विज पाती दै कहियो स्यामहिं।
कुंडिनपुर की कुँअरि रुकमिनी जपति तिहारे नामहिं॥
पालागौं तुम जाहु द्वारिका, नदनंदन के धामहिं।
कञ्चन, चीर पटंबर देहौं, कर-कंकन जुइनामहिं॥
यह सिसुपाल असुचि अज्ञानी, हरत पराई बामहिं।
सूरश्याम-प्रभु तुम्हरौ भरोसौ, लाज करौ किन नामहिं॥

पाती दीजौ स्याम सुजानहिं।
मुँख-संदेस सुनाइ दीजियौ, मोहिं दीन करि जानहिं॥
श्री हरिजोग रुकमिनी लिखित, बिनै सुनो प्रभु कानहिं।
आँचल बेगि आइयौ माधौ, धरौ, जात मेरे प्रानहिं॥

असुझत नाहिं दीन-दुख कोऊ, हरि भख जंबुक पानिहिं।
अलि अम्कट कौं देत सूक्मति, मृगमद एजामें सानहिं॥
कबलौं दुःख सहौं दरसन बिनु, भई मीन बिनु पानिहिं।
सूरदास प्रभु अधर सुधाधर, बरषि देहु जिय दानहिं॥

प्रेम-पत्र

श्रुत्वा गुणान्भुवनसुन्दर शृण्वतां ते निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताऽऽविशति चित्तमपत्रपं मे॥
का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूपविद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम्।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या काले नृसिंह नरलोकमनोभिरामम्॥
तन्मे भवान्खलु वृतः पतिरंग जायामात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि।
मा वीर भागमभिमर्शतु चैद्य आराद् गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष॥
पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्रगुर्वर्चनादिभिरलं भगवान्परेशः।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये॥
श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान् गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम्॥
अन्तःपुरान्तरचरीमनिहत्य बन्धूंस्त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम्।
पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवयात्रा यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात्॥
यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोपहत्यै।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्यामसून्व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात्॥
ब्राह्मण उवाच—इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाऽऽहृताः।
विमृश्य कर्तुं यच्चात्र क्रियतां तदनन्तरम्॥

—श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध उत्तरार्ध अ० ५२।

"हे त्रिभुवनसुन्दर, सुननेवालों का शरीर-सन्ताप हरण करनेवाले तुम्हारे गुण और देखनेवालों को सफल करनेवाले तुम्हारे रूप की कीर्ति

सुनकर ही मेरा निर्लज्ज मन तुम्हारे चरणारविन्दमें लिपट गया है। अब वह वहाँ से हटाता ही नहीं। कुल, शील, रूप, विद्या, धन और तेज इन गुणोंमें तुम्हारे सदृश तुम ही हो, ऐसे तुम्हारे ऊपर कौन उच्चकुलदुहिता बलि न जायगी? इसी लिये, प्रभो! मैंने तुम्हें अपना पति माना है, अपनी आत्मा तुम्हें अर्पण की है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। अब जो उचित है, उसे करने में विलम्ब न करो। नहीं तो; सिंह का शिकार जिस प्रकार शृगाल ले जाय, उसी प्रकार यह दुष्ट शिशुपाल मुझे ले जायगा। यदि मैंने भक्ति-भाव से देवताओं, ऋषियों, गुरुजनों और परमात्माकी पूजा की होगी, तो तुम इस समय मेरी उपेक्षा न करोगे। यदि यह सोचो कि रुक्मिणी को ले जाने से उसके भाई-बन्धुओं को मारना पड़ेगा, तो विवाह के एक दिन पहले, हमारे कुल में वधू को गिरिजा के दर्शन के निमित्त ले जाते हैं, उसी अवसर पर आकर तुम मुझे ले जाओ। हे पद्मनयन श्रीकृष्ण! यदि तुम मुझपर कृपा न करोगे, तो मैं मर जाऊँगी और जन्म-जन्म तुम्हारा ध्यान और व्रत करके तुम्हें प्रसन्न करूँगी।"

रुक्मिणी ने एक विश्वास-पात्र आदमी के हाथ यह चिट्ठी देकर उसे द्वारका में श्रीकृष्ण के पास भेजा। श्रीकृष्ण रुक्मिणी का ही ध्यान कर रहे थे। रुक्मिणी के लिये उनके प्राण तरस रहे थे पर कोई उपाय सूझता नहीं था। इतने में सेवक ने आकर खबर दी कि कुण्डिनपुर से एक ब्राह्मण-देवता आये हैं। कृष्ण ने उन्हें सादर बुला, स्वयं सिंहासन से नीचे उतरकर उनका सत्कार किया और उन्हें उच्च आसन पर बैठाकर समाचार पूछा। उत्तर में ब्राह्मण ने श्रीकृष्ण के हाथ में वह चिट्ठी दे दी। रुक्मिणी का वह प्रेम-प्रत्र पढ़कर श्रीकृष्ण का अन्तःकरण उमड आया। उनके नेत्रों से आँसू गिरने लगे। रुक्मिणी की अनन्य भक्ति देखकर आनन्द से उनके रोंगटे खड़े हो गये। उन्होंने पत्र पढ़ते ही निश्चय किया और ब्राह्मण से कहा कि मैं रुक्मिणी को इस दुःख से अवश्य छुड़ाऊँगा।

वन्दीका पत्र-व्यवहार

[रचयिता—श्री जगन्नाथजी मिश्र, गौड़ 'कमल']

प्रेमिका की ओर से

इष्टदेव !

""""थी चाह—तुम्हारी चरण-धूलि मिल जाती !
निस्सन्देह यह नीरव यात्रा, आज सफल हो जाती !!
कभी मिलोगे यही सोचते, गया समय जीवन का !
चली अन्त में बिखराकर, मैं प्रणय हृदय-मधुधनका !!
शून्य प्रेम-मन्दिर है मुझको, सता रहीं बेकलियाँ !
नाच रही हैं तरल तरंगों—सी ये अन्तिम घड़ियाँ !!
रख देती हूँ स्मृति-निकुञ्जमें, लिग्ध हृद्गत अभिलाषा !
रहकर हाय करूँ अब क्या मैं, दलित हुई सब आशा !!
आते क्या न जहाज आदि, इस ओर कभी हे प्यारे !
मेरी आतुरता के साक्षी, हैं नभतल के तारे !!
मुझसे तुम्हें विलग कर क्यों, ले गए क्रूर निर्मोही ?
ये अभागिनी मुझ अबला के, वे वैभव-विद्रोही !!
जो कुछ मैं लिखती हूँ, पढ़ते जाते धवल सुधाकर !
मिले न यदि यह पत्र उन्हीं से, लेना पूछ दयाकर !!
किन्तु न होती आशा मुझे, तुम पुनः यहाँ आओगे !
आओगे भी तो न प्रेमिका—को जगमें पाओगे !!
देश छुड़ाना आह ! किसीका, है निष्ठुरता भारी !
कैसे फूले और फलेंगे, ऐसे अत्याचारी !!
चली—चली अब हे असह्य, वेदना अहा अनुरागी !
अन्तिम पत्र समाप्त कर रही""",

दासी,
—अधम अभागी

बन्दीकी ओरसे

प्रिय जीवनकी संगिनि !

……… आज दिलाता हूँ, उस दिन की याद !
जब हथकड़ियाँ पड़ीं हाय ! अपराधी कहलाने के बाद !
खिड़की खोल देखती थीं तुम, सजल दृगोंसे मेरी ओर !
मैं बन्दी था मुझे मिला था, कारागृहका दण्ड कठोर ॥
संकेतों से कभी-कभी मैं, देता था तुमको सन्तोष ।
किन्तु अश्रु में तुम डूबी थीं, हृदय तुम्हारा था बेहोश ॥
खींच ले चले मुझे दूत, मैं चला तुम्हारा ध्यान बिसार ।
सोचा बन्दी आज बनूँ, छेड़ूँगा फिर स्वतन्त्रता-तार ॥
है प्रभात का समय आ रहा, छिद्रोंसे शुचि मन्द-समीर ।
प्रिये ! तुम्हारी स्मृतिकी किरनें उतरी हैं जीवनके तीर ॥
बन्द यहाँ कारागृह में मैं, रहा यन्त्रणाओं को भोग ।
बिछी प्रतीक्षा-पथपर आँखें, कब आता सुखका संयोग ॥
प्रेम-देवि ! देखा निशीथ में, स्वप्न तुम्हारा मैं अभिराम ।
तुम योगिनी-सा वेश बनाकर, जपती हो नित मेरा नाम ॥
'तुम हो रमणी-रत्न' गूँजती, ध्वनि मानस में बारम्बार !
सम्बोधन योगिनि कह कैसे, करूँ हो रहा दुःख अपार ॥
अपराधी था उनके सम्मुख, करना चाहा मुझे हताश ।
कैद किया इससे क्या ? क्या न, हृदय पाएगा कभी विकाश ॥
तुम्हें ज्ञात है मेरे इस जीवनका, ललित लक्ष है दूर ।
वहीं पहुँचना है मुझको, चाहे शरीर हो चकनाचूर ॥
तुम न कभी अपराधी कहना, होगा मुझे आन्तरिक क्लेश ।
जिससे जीवन हो उत्फुल्लित, समझो वही सत्य उद्देश ॥
बनो पुजारिन स्वतन्त्रता-मन्दिरकी, कर भविष्यका ध्यान ।
बेड़ा होगा पार दिखाई, देगा सभी ओर कल्यान ।

सतियोंकी है शक्ति अनोखी, उन्हें विजय-कौशल है ज्ञात ।
करो यत्न खिल जाय जगमें, मृदु भावोंका रम्य प्रभात ॥
मेरी चिन्ता करो न मैं हूँ, पुण्य-तपश्चर्या में लीन ।
कारागार तपोवन है मैं बन्दी हूँ, तो भी—'स्वाधीन' ॥
होगा मिलन भरोसा रखना, अब न करेगा समय विलम्ब ।
मैं हूँ पास न इससे क्या? सतियोंका है सतीत्व अवलम्ब ॥
हृदय भरा उद्‌गारोंसे, लिखनी हैं बातें अभी अनेक ।
कितना लिखता जाऊँ ! बस,.....................

सर्वस्व तुम्हारा,
—बन्दी एक

मीठी चुटकी

[श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़, एम० ए०
उर्फ 'बेढब' बनारसी]

......

१७–८–२८

प्राणाधार,

पत्र मिला, हृदय शीतल हुआ । जिसकी बाट देखने में आँखें ज्योतिहीन हो चली थीं, वह कागज का टुकड़ा मिल गया । इसके लिए किसे धन्यवाद दूँ, आपको या ईश्वर को । सम्भवतः एम० ए० की तैयारी में जहाँ कविता-कानन के फूलों की सुगन्धि में हृदय रात-दिन भीना रहता है, हमारी सुधि रह भी नहीं सकती थी । फिर वहाँ घर पर जो शेक्सपियर और शेली में पढ़ते होंगे, कालेज में उसे प्रत्यक्ष रूप से देखने का अवसर भी मिलता होगा । ऐसे आनन्द की लहरों पर जो झूला झूलता हो उसे

एक सीधी-सादी स्त्री का ध्यान कैसे आ सकता है; जिसमें शृङ्गार की कला नहीं, बनाव के लिए बुद्धि नहीं।......किताबें तो आपने बहुत-सी भेज दी हैं, इतनी कि यहाँ एक लाइब्रेरी बन सकती है। उसी को पढ़ रही हूँ। यदि यही याददाश्त है तब तो ईश्वर ही कुशल करे। अभी पत्र की बातें भूल गये, कल मुझे भी भूल जायँगे। मैं तो पहले से जानती थी कि न तो आप पुस्तकें भेजेंगे, न पत्रिका के लिए आपने लिखा होगा। मेरा अनुमान ठीक ही निकला। इसलिए उस सम्बन्ध में अब और कुछ लिखना मैं बेकार समझती हूँ। × × किशोरी को भाई पैदा हुआ है। देखने में बड़ा सुन्दर, गोल-मटोल-सा है। अभी सात आठ दिन का तो है मगर बड़े भाव से मुस्कराता है। उसका मुस्क्याना बड़ा सुन्दर लगता है। दसहरा की छुट्टी में दर्शन देने की कृपा कीजिएगा। सिनेमा और संगिनियों के स्नेह में दो-एक दिन गँवा मत दीजिएगा।

दासी

......ती

काशी

२-९-३८

प्रिये,

जिस प्रकार से नेत्रों के कटाक्ष से हृदय का जख्म भी मीठा मालूम होता है, उसी प्रकार से तुम्हारे पत्र के व्यंग भी शैम्पेन के समुन्दर में मुझे छोड़ देते हैं। तुम्हारी चिट्ठी पढ़कर मुझे नशा हो जाता है। आबकारी विभागवाले यदि कहीं सुन पाएँगे तो तुम्हारे पत्रों पर भी लैसंस बैठा देंगे, ऐसा मुझे भय है। आरम्भ से लेकर अंत तक प्रत्येक शब्द मादक है। फिर उसका उत्तर देने के लिए होश कहाँ। बहक जाना स्वाभाविक है। हमें तो शेक्सपियर और शैली पढ़ने से अधिक तुम्हारे पत्रों को पढ़ने में ही आनन्द आता है। रह गयी कालेज में किसी को देखने की बात वह

तुम्हें बता दूँ। हमारे कालेज में और दर्जों की बात तो नहीं जानता, हमारे एम० ए० क्लास में एक रमणी पढ़ती हैं। उन्होंने भी अंग्रेजी ही ले रक्खी है मेरे दुर्भाग्य से। जहाँतक रंग की बात है, वह खराब नहीं है। काश्मीर के साबुन में सनलाइट साबुन का असर है। जो वहाँ पैदा होता है, वह सफेद हो जाता है। यह महिला भी काश्मीरी हैं, इसलिए सफेद हैं। उनकी नाक ऐसी है जो उनके चेहरे पर बेकार है, यदि कहीं और होती तो आसानी से खूँटी का काम दे सकती। कपोलों से अधपकी पाव-रोटी का धोखा मुझे अकसर हो जाता है जब चशमा उतार देता हूँ। कमर का घेरा सम्भवतः उतना ही होगा जितनी इनकी लम्बाई। सारा शरीर ऐसा मालूम होता है मानों दो पैरों पर जूसी का पोपा खड़ा है। यदि थोड़ा-सा मैं और लम्बा होता तो वह मेरी कमरतक पहुँच जाती। अभी जहाँ तक मैंने पढ़ा है, न तो शेक्सपियर ने न मिल्टन ने न शैली ने न कीट्स ने किसी ऐसी सुन्दरी का वर्णन किया है और न मैं ऐसा कलाकार हूँ कि ऐसी देवी पर मुग्ध हो जाऊँ। और फिर जब तुमसे तुलना करता हूँ, तब तो ऐसा मालूम पड़ता है कि यदि तुम सुन्दरता में कंचन-जंघा हो तो वह गोबर की ढेरी।

किताबें मैंने नहीं भेजीं। मैं स्वयं सेवा में लेकर देवी को अर्पण करूँगा। उसमें तो कुछ आनन्द का अनुभव होगा। डाक विभाग का पियन अपने हाथों से तुम्हें ले जा करके पुस्तकें दे यह मैं कब सहन कर सकता हूँ। पत्रिकाओं में मुझे 'सरस्वती' ही प्रिय है। उसी के लिये लिख भेजा है। वह तुम्हारी अपनी पत्रिका होगी। किशोरी के भाई का हाल सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई।

तुम्हारे लिये मैंने एक जारजेट की साड़ी खरीद रखी है, वह स्वयं लाऊँगा और पहनाकर तस्वीर उतारूँगा। एक-दो दिन खराब करने की तो बात क्या मैं एक दिन पहले ही वहाँ पहुँच जाऊँगा। जब से तुम्हारा पत्र मिला है तबसे हर जगह तुम्हारे ही पत्र के अक्षर तुम्हारी

चंचल आँखों की तरह नाचते रहते हैं। ऐसी अवस्था में सिनेमा देखने के लिए दिल कहाँ से आएगा।

तुम्हारा केवल

लॉर्ड क्लाइव के प्रेम-पत्र

अनुवादक—श्री विश्वम्भरनाथजी कौशिक

[बंगाल के सबसे पहले अंगरेज-गवर्नर लॉर्ड क्लाइव के घृणित व्यक्तिगत चरित्र का परिचय इतिहास के अनेक विद्यार्थियों को नहीं है। नीचे के दो पत्र हम क्लाइव की एक अंगरेजी जीवनी से अक्षरशः अनुवाद करके दे रहे हैं। इन पत्रों से कई बातों का परिचय मिलता है। एक यह कि क्लाइव व्यक्तिगत आचरण में भी कितना भ्रष्ट एवं पतित था। दूसरा यह कि उस समय भारत में इस तरह के अंगरेज भी मौजूद थे, जो क्लाइव के राजनीतिक कृत्यों को अन्याय और अत्याचार समझते थे। तीसरे यह कि भले घरों की अंगरेज-स्त्रियों में भी सतीत्व-रक्षा का भाव इतना ही प्रबल होता है, जितना कि संसार के किसी भी देश की स्त्रियों में। चौथे यह कि वर्षों भारत में रहने और नवाबों के दरबारों में बैठने के बाद भी क्लाइव को भारतीय भाषाओं का ज्ञान इतना अद्भुत था कि वह 'जादी' को पुरुष-वाचक और 'मिरजा' को स्त्री-वाचक समझता था। पाँचवें यह कि क्लाइव के इस तरह के पाप प्रयत्नों की यह केवल एक छोटीसी मिसाल थी, इत्यादि। उस पत्र को क्लाइव ने रूपक के रूप में लिखा था, जिसमें अपना नाम जादी और पत्र पाने वाली महिला का नाम मिरजा रक्खा था।

—अनुवादक]

फैरेकियाली कृत "लाइफ आफ क्लाइव" भाग एक, पृष्ठ ४४७ पर लिखा है—

"एक अत्यन्त सुन्दर अंगरेज-महिला की ओर, जो अपने चरित्र के लिए प्रसिद्ध थी और जो आजकल इंगलिस्तान में रहती है, क्लाइवका चित्त आकर्षित हुआ। उस महिला को देखकर क्लाइव की काम-वासना जाग्रत हुई। क्लाइव जानता था कि वह महिला अपने निष्कलंक चरित्र के लिए विख्यात् थी। स्वयं क्लाइव प्रतिष्ठित समझा जाता था और एक सम्माननीय ढङ्ग से रहता था, इसलिए वह जानता था कि उस महिला तक अपने हृदय के भावों की खबर पहुँचाने के लिए अत्यन्त सावधानी और गुप्त उपायों की आवश्यकता है। कम्पनी के मुलाजिमों में एक नौजवान अङ्गरेज था, जो सदा इस तरह के प्रेम-पत्रों के पहुँचाने में वफादारी के साथ लार्ड क्लाइव की सहायता किया करता था। उस महिला के साथ पत्र-व्यवहार करना भी इस अङ्गरेज मुलाजिम को ही सौंपा गया। वह महिला बहुत समझदार और हाजिर-जवाब थी। ज्यों ही उसे इस बात का पता लगा कि लॉर्ड क्लाइव मेरे गुणों के लिए कितना अधिक आदर रखता है और मुझे कितना अधिक प्यार करता है, उसने क्लाइव के प्रेम-प्रदर्शन और उसकी इच्छाओं को उपहास के साथ ठुकरा दिया।

एक दिन प्रातःकाल उस महिला ने देखा कि उसके शृङ्गार की मेज पर पूर्वीय शैली में लिखा हुआ निम्नलिखित पत्र पड़ा हुआ था। मालूम होता है कि क्लाइव के चतुर दलाल ने उस महिला के किसी चाकर को अपनी ओर कर लिया था और उस चाकर द्वारा वह पत्र उस मेजपर रखवा दिया गया था। इस पत्र में लॉर्ड क्लाइव ने रूपक बाँधकर अपने वीर-कृत्यों को और साथ ही उस महिला की ओर अपने प्रबल प्रेम को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है :—

"जादी को आरम्भ में व्यापार के काम में नियुक्त किया गया था। उस काम में अत्यन्त धन-वैभव प्राप्त किया जा सकता था; किन्तु जादी में युद्ध के लिए स्वाभाविक योग्यता और असाधारण प्रवृत्ति मौजूद थी। इसलिए एक वीर के सदृश धन-वैभव का तिरस्कार करते हुए जादी ने

अपनी भीतरी प्रेरणा से उन वीरों और मनुष्य-जाति के उपकारकों के यशस्वी जीवन में प्रवेश किया, जो कि बादशाहों और कौमों को विजय करके अपने पराजितों को सुख और शान्ति प्रदान करते हैं। युद्ध के मैदान में जादी की सबसे पहली सफलता का परिणाम यह हुआ कि उसने एक धन-सम्पन्न प्रान्त विजय कर लिया। इसके बाद उसने एक युद्ध-प्रेमी और बलवान शत्रु के हाथों से एक महत्वपूर्ण दुर्ग विजय किया, जिसके द्वारा उसने अपने विजित प्रान्त को सुरक्षित कर लिया। यह दुर्ग एक तुच्छ अन्यायी नरेश का प्रबल दुर्ग था, जिसके जङ्गी जहाजी बेड़ों ने योरोप और एशिया के व्यापार को आपत्ति में डाल रक्खा था। यह दुर्ग जादी की विजयी सेना के सामने न ठहर सका। जादी ने शीघ्र ही उस स्थान को, जहाँ पर कि एक निर्दय असभ्य और विश्वासघातक नरेश ने भयङ्कर हत्याकाण्ड मचाया था, फिर से प्राप्त करके अपने देश-वासियों की निर्दय हत्या का बदला लिया। जादी ने उस स्वेच्छाचारी, अन्यायी नरेश की प्रबल सेना को परास्त कर उसे तख्त से उतार दिया। जादी के चित्त में अपने लिए बादशाहतें प्राप्त करने की कोई इच्छा न थी, इसलिए इसके बाद उसने बादशाहतें प्रदान कीं। इस प्रकार वह एशिया का भाग्य-विधाता बन गया। जादी की विजय की कीर्ति गङ्गा के तटों से लेकर योरोप की पश्चिमी सीमा तक फैल गई। जादी फिर अपनी जन्म-भूमि को लौटा। वहाँ पर जादी को यह देखकर सन्तोष हुआ कि उन लोगों ने, जिन्हें कि जादी ने एक धन-सम्पन्न प्रायद्वीप का स्वामी बना दिया था, खुले-तौर पर जादी की सेवाओं का आदर किया, और वहाँ के अनुग्रहशील बादशाह ने जादी को इनाम दिया। इस पर जादी ने उदारता के साथ उस विशाल धन के समस्त सुखों को तिलांजलि देकर, जो कि उसने अपने व्यवहार और अपनी वीरता से उपार्जन किया था, फिर भारत लौट कर अभागे देशी नरेशों को उनके पैतृक राज्य वापस दिलाने और इन पूर्वीय प्रदेशों में, जहाँ पर कि जादी इतनी बार

विजय प्राप्त कर चुका था, स्थायी और गौरवान्वित शान्ति स्थापित करने का निश्चय किया। किन्तु इन समस्त स्मरणीय वीर-कृत्यों के बाद और उनके कारण जादी के महान यश प्राप्त करने के बाद, उच्च आत्माओं की सर्वोच्च भावना अर्थात् प्रेम ने जादी की समस्त महत्वाकांक्षाओं पर पानी फेर दिया। जादी ने मिरजा को देखा है, और जब से जादी ने मिरजा का दिव्य मुखड़ा देखा है, तब से जादी को एक क्षण के लिए भी सुख अथवा चैन नसीब नहीं हुआ। यद्यपि जादी के पास धन और उसका यश इतना अधिक है कि शायद योरोप तथा एशिया के अन्दर अनेक सुन्दर स्त्रियाँ उससे प्रगाढ़ प्रेम दर्शाने को तैयार हो जातीं, तथापि जादी के हृदय में किसी दूसरी स्त्री के लिए अणुमात्र भी विचार अथवा स्थान नहीं है। जादी के समस्त मन, हृदय और आत्मा के अन्दर प्रियतमा मिरजा ही मिरजा भरी हुई है। जादी के लिए मिरजा ही उसका विश्व है। यदि जादी को यह पता लग जाय कि वह प्रबल मोहिनी अर्थात् मिरजा जादी की प्रतिज्ञा से प्रसन्न है, तो जादी सृष्टि में अपने को सबसे अधिक भाग्यवान समझेगा और अपना समस्त धन और वैभव मिरजा के चरणों पर अर्पण कर देगा। जादी के लिए मिरजा ही इस पृथ्वी पर सबसे बड़ी सुन्दरी है! जबतक जादी को मिरजा के अन्तिम निश्चय का पता नहीं लगता उसे विश्राम नहीं मिल सकता। प्रेम के मामले में सन्देह और शंका की अवस्था इतनी अधिक कष्टकर होती है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसलिए जादी अपने प्रशंसा-पात्र मिरजा से प्रार्थना करता है कि जादी की अधीरता को देखते हुए वह इस पत्र का शीघ्र ही उत्तर दे। दयालु परमात्मा मिरजा के चित्त में वह दया उत्पन्न करे कि मिरजा जादी की संतप्त आत्मा को फिर से शान्ति प्रदान कर सके। जहाँ पर आपको यह अप्रकट लेख मिले, वहीं पर इसका उत्तर रख दीजिए। उत्तर जादी के हाथों में सुरक्षित पहुँच जायगा।"

उस महिला ने तुरन्त अनुमान कर लिया कि इस पत्र का भेजनेवाला

कौन है। उसने इस बात की जाँच करना उचित न समझा कि जादी का यह पत्र, जिसमें उसने अपने प्रेम और यश दोनों की डींग हाँकी थी, मेरे सोने के कमरे में किस तरह पहुँच गया। उसने स्वभावतः यह समझा कि जादी के किसी आदमी ने मेरी किसी नौकरानी को रिश्वत देकर अपनी ओर कर लिया है। उस महिला के सतीत्व ने उसे इस बात की इजाजत न दी कि वह जादी के प्रेम का आदर करे। जादी के इन प्रेम-प्रदर्शनों से छुटकारा पाने के लिए और इस विचार से कि जादी मेरे चुप रहने का यह अर्थ न समझे कि मैं उसके प्रेम को स्वीकार करने के लिए तैयार हूँ, उस महिला ने साहस के साथ निम्नलिखित पत्र उत्तर में भेजा :—

"मिरजा ईमानदार, परिश्रमी और प्रतिष्ठित माता-पिता की लड़की है। उसके माता-पिता ने अपनी आँखों के सामने उसे समस्त आवश्यक सद्गुणों की शिक्षा दी है। मिरजा जादी के पूर्वोक्त, अत्युक्तिपूर्ण पत्र का उत्तर देने का कष्ट न उठाती, चाहे जादी का पद कितना भी उच्च क्यों न हो; किन्तु मिरजा को यह विश्वास न हुआ कि जादी मिरजा के उत्तर न देने का यह अर्थ समझ लेगा या नहीं कि मिरजा जादी के प्रेम-प्रदर्शन और धृष्टता को घृणा की दृष्टि से देखती है। मिरजा को इस बात की कोई आकांक्षा नहीं है कि वह अपने पिता की जीविका, अर्थात् वाणिज्य व्यापार से बढ़कर इस तरह के किसी नीच काम की ओर जाय। मिरजा उस धन के प्रलोभनों को घृणित समझती है, जो धन कि दूसरों को लूट कर और बर्बाद करके कमाया गया हो, विशेष कर जब कि वह धन निर्दोष स्त्रियों को बहकाने और उनके निष्कलंक चरित्र को कलंकित करने के लिए काम में लाया जाय। यदि जादी की क्रियात्मक बुद्धि और उसका युद्ध-कौशल अब लड़ाई के मैदान में और अधिक नहीं चमक सकता, तो उसे चाहिए कि शान्ति के उद्योगों को उन्नति दे और शान्ति से शासन करके करोड़ों दुखित जनता को फिर से शान्ति और

समृद्धि प्रदान करे। सच्चे वीर वास्तव में वे हैं, जो मनुष्य जाति के मित्र हैं, उसके नाशक नहीं। यदि जादी वर्त्तमान मानव-समाज और उसकी भावी सन्तति की दृष्टि में उनका मित्र दिखाई देना चाहता है, तो मेरी राय में उसे चाहिए कि वह अपने उन कृत्यों का इतिहास, जिनकी वह डींग हाँकता है, अपने हाथ से लिखे। कायर देशी नरेशों को वश में किया गया, उन्हें धोखा दिया गया और अन्याय द्वारा उन्हें गद्दी से उतार दिया गया। निर्दय लुटेरों ने उनकी दुखित प्रजा को सताया। अब चाहिए की उनके देश की जिन पैदावारों पर गैरों ने अपना अनन्य अधिकार जमा लिया है, वे फिर से देशवासियों को दे दी जायँ। मिरज़ा जादी के उन भयंकर कृत्यों को दुहराने का प्रयत्न न करेगी, जिनमें कि जन-संहार, बर्बादी, एक अन्यायी को गद्दी से उतारकर उसकी जगह दूसरे अन्यायी को गद्दी पर बैठाना इत्यादि शामिल है। समय ही इस बात को साबित कर सकेगा कि योरोप और एशिया में जादी की कीर्ति न्याय द्वारा प्राप्त की गई है अथवा अन्याय द्वारा, और जादी के संग्राम मानव-जाति के अधिकारों का समर्थन करने के लिए लड़े गए हैं अथवा अपनी धन-पिपासा और महत्वाकांक्षा को शान्त करने के लिए। रही उपाधियों और सम्मान की बात, सो ये चीजें इतनी अधिक बार अयोग्य मनुष्यों को प्रदान की जाती हैं कि उन्हें सच्ची योग्यता और न्यायपरताका पारितोषिका नहीं कहा जा सकता। जादी को चाहिए कि निःस्वार्थ सेवा और दयालुता द्वारा भारतवासियों को इस बातका विश्वास दिलावे कि वह उनको दुख देने के लिये नहीं, बल्कि उनकी रक्षा करने के लिए आया था। यदि भारतवासी क्षणिक शांति का सुख भोग रहे हैं, तो वे उनके साथ ही न्याय-विरुद्ध लूट खसोट और दुःकाल के भयंकर कष्टों का भी अनुभव कर रहे हैं। जादी को चाहिए की वह अपनी विजयों की छाया में स्वयं ही आनन्द से बैठे और प्रतिष्ठित घरानों को अपमानित और कलंकित करने का विचार न करे।

सच्चा और हार्दिक प्रेम वास्तव में उच्च आत्माओं की एक वासना है; किन्तु वह पाशविक वासना नहीं जो कि निर्दोष और सच्चरित्र लोगों को चरित्र-भ्रष्ट करने का अपने को अधिकारी समझती है। मिरज़ा चाहती है कि जादी पूर्ववत् आनन्द से रहे और फिर कभी इस तरह के एक व्यक्ति का अपमान न करे, जो अपने सदाचार के लिए जादी के आदर का पात्र है। जादी के धन और उसकी शान से चकाचौंध हो जाना वेश्याओं का काम है, मिरज़ा को जादी और उसके प्रेम-प्रदर्शन, दोनों से हार्दिक घृणा है।"

क्लाइव की जीवनी लिखनेवाला अंगरेज़ लेखक, जो उनका समकालीन था, लिखता है:—

"इस उत्तर ने लॉर्ड क्लाइव के पत्र-व्यवहार को समाप्त कर दिया। फिर कभी उसने उस महिला को पत्र लिखने का प्रयत्न न किया। रूपक के रूप में यह प्रेम-पत्र और उस महिला का जवाब दोनों मुझे उस महिला के एक घनिष्ठ मित्र ने दिए हैं और उसकी इजाज़त से दिए हैं। यह घटना सन् १७६६ के प्रारम्भ की है। यदि पाठक को इन पत्रों की सत्यता पर कोई सन्देह हो, तो वह महिला इस समय हैनोवर स्क्वेयर, सेण्ट जार्ज के पैरिस में रहती है। यदि आवश्यकता हो तो अपने मित्र द्वारा वह इस बात को तसदीक करने के लिए तैयार है कि जो पत्रोत्तर मैंने ऊपर दिया है, वह मूल पत्रों की ठीक-ठीक नकल है।"

बङ्गाल के अन्दर गोरी और काली दोनों रंग की स्त्रियों की अनेक ऐसी मिसालें मौजूद थीं। जिन्होंने अपमान के साथ क्लाइव के प्रेम-प्रदर्शन को अस्वीकार किया और उसे संसार के सामने उपहास का पात्र बनाया।

अनुनय

[लेखक—देवनारायण द्विवेदी]

(१)

ता० ३—१—३८

काशी

मेरी हृदयेश्वरी,

आज मैं फिर अपने हृदय की विकलता से विवश होकर तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ। हमेशा की भाँति आज भी मेरे दिल की यही धारणा है कि तुम मेरे पत्र का उत्तर अवश्य दोगी; किन्तु पिछली बार की भाँति इस बारभी मेरे हृदय की उस धारणा की तह में इस बात की स्पष्ट झलक दिखायी पड़ रही है कि तुम मेरे पत्र का उत्तर कदापि न दोगी—क्योंकि तुम रूठी हो। मेरे हृदय की तन्त्री बज रही है कि तुम रूठी नहीं हो, मान किये बैठी हो; किन्तु एकाधिक तन्त्रियाँ तुमुल ध्वनि से उस एक तन्त्रि के स्वर को अपने मे विलीन करके उच्च स्वर में बज रही हैं कि नहीं, तुम मान किये नहीं बैठी हो, रूठी हो। जो भी हो, इतना तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि अभी भी तुम्हारे हृदय के किसी कोने में मेरी मधुर स्मृति शेष है। उसी के फल-स्वरूप पत्र न लिखने का दृढ़ संकल्प करने पर भी उस संकल्प को तोड़कर मुझे यह पत्र लिखने के लिए विवश होना पड़ रहा है।

याद है न तुम्हें अपने वे शब्द जिन्हें तुमने जाते समय कहा था? तुमने कहा था 'अब तक मेरा भाव तुम्हारी ओर से जरा भी नहीं बदला था, पर अब तुमने जबरदस्ती उसे अपने से बदल दिया।' क्या तुम अपने हृदय पर हाथ रखकर कह सकती हो कि मैंने तुम्हारा भाव बदल दिया? क्या मैं इतना अनाड़ी हूँ कि अपने ही हाथसे अपने पैर में कुल्हाड़ी मारूँगा? मेरी रानी! रोष में आकर मुझ पर अन्याय न करो। वे दिन

याद है जब तुम मेरे लिए करवटें बदलना भी मुश्किल कर देती थी और करवट बदलते ही मूक भाषा में सूचित करती थीं 'मेरे पास तुम्हारा दिल नहीं लगता, इसी से तुम मुँह फेर लिया करते हो?' मेरे जीवन की वह सुनहली घड़ीयाँ थीं जब मुझे जरी-सा नींद आते ही तुम मानिनी बनकर आँसू बहाने लग जाती थी और कसमें दिलाकर बहुत पूछने पर कहती थी, 'मेरे पास आते ही तुम्हें नींद आने लगती है—वैसे हो तो रात-भर जागरण करो।' मैं तुम्हारे उस भोलेपन को, लज्जा से ढँके हुए उस शान्त और गम्भीर प्रेम को आमरण नहीं भूल सकता। ओफ्! उस समय तुम अपने प्रेम को प्रकट होने देने में भी लज्जित होती थी। मेरे सो जाने पर तुम्हारा मेरे बालों पर कंघी फेरना, मुँह पर बड़े यत्न से क्रीम लगाना, चकोरी की भाँति पुलकित नेत्रों से मेरे मुख की ओर देखते रहना उसका द्योतक था। तुम्हारे कोमल करों के स्पर्श से मेरी नींद खुल जाती थी और मैं सोया हुआ-सा पड़ा रहकर तुम्हारे प्रत्येक कार्य को बड़े ध्यान से देखकर मन ही मन आनन्द-सागर में डूबा करता था।

जानती हो तुम्हारा प्रेम इतना क्यों था और मैं आनन्द-विह्वल क्यों रहा करता था? इसलिए कि हम दोनों के हृदय में सन्देह नहीं था; एक दूसरे का आकर्षण, हृदयस्थ प्रगाढ़ प्रेम की ओर था। 'हित अनहित पसु पंछिउ जाना।' मनुष्य अपना मनोगत भाव न वाणी द्वारा प्रकट करता है और न अन्य किसी प्रकार से व्यक्त होने देता है; किन्तु दूसरा मनुष्य अनायास ही उसके हृदय का गुप्त भाव ताड़ जाता है। यही तो आत्मैक्य का प्रभाव है; यही तो प्राकाम्य शक्ति है।

किन्तु हाय! आज वही तुम मुझपर झूठा सन्देह करके तनी बैठी हो। मेरे और अपने सुखमय स्वर्गीय जीवन को मिट्टी में मिला रही हो। किसलिए? इसलिए कि उस दिन मैं रेखा से हँसकर बातें करता हुआ थोड़ी दूरतक उसके साथ चला गया था। उस दृश्य को तुमने खिड़की से देख लिया था। इतनी-सी बात ही सारे अनर्थ की जड़ हो गयी। उसी

दिन से तुम्हारे हृदय का भाव मेरे प्रति बदल गया। बातों में कड़ुवाहट आ गयी। बोली में असह्य गम्भीरता आ गयी। व्यवहार में तनाव हो गया। उच्छृंखल अवस्था होने के कारण कुछ दिनों के लिये उसका प्रभाव मेरे हृदय पर भी पड़ गया था। मैं भी तुमसे कुछ खिन्च-सा गया था। परिणाम-स्वरूप दोनों के हृदय में अन्तर पड़ता गया। उसके बाद तो मैं रेखा की परछाई से भी बचकर रहने लगा, पर उसका फल कुछ भी न हुआ। कुछ दिन बाद ही तुम अपने पिता के साथ मायके चली गयी; और आज यहाँ तक नौबत आ गयी कि मेरे पत्रों का उत्तर देना भी तुम अपनी शान के खिलाफ समझ रही हो।

इतने पर भी मैंने, यदाकदा ही सही—पत्र भेजना जारी रखा है। यह इसलिए कि तुम्हारे जाने के बाद मैंने गम्भीरतापूर्वक आपस के वैमनस्य पर विचार किया और इस परिणाम पर पहुँचा कि हमलोग जीवन-सुलभ मार्ग को छोड़कर ऐसे कंटकाकीर्ण मार्ग से आगे बढ़े जा रहे हैं कि कुछ ही दूर और आगे जाने पर हम विकट झाड़ी में फँस जायँगे और उससे निस्तार पाना कठिन ही नहीं एक प्रकार से असम्भव-सा हो जायगा। जीवन तो हम दोनों को एक साथ रह कर ही बिताना पड़ेगा—चाहे उसे आनन्द-पूर्वक बितावें अथवा कुढ़-कुढ़कर। ऐसी दशा में हम क्यों न हृदय के मैल को धो बहावें? तुम से मेरा यही अनुरोध है कि तुम अपने दिल के झूठे शक को निकाल बाहर कर दो। इससे अहित के बदले हित नहीं हो सकता। यदि तुमने अपना शक तुरन्त ही मुझसे कह दिया होता, तो सम्भवतः मैं तुम्हारा शक दूर कर देता और तिल का पहाड़ न हो पाता। सुन्दरी युवती से किसी युवक का मौका आने पर एक बार हँसकर बोल देना इतना बड़ा गुनाह नहीं है कि उसके लिए दाम्पत्य-जीवन ही बर्बाद कर दिया जाय। मेरी बातों को ध्यान से पढ़ो और शान्तभाव से उस पर विचार करो। इस प्रकार तन बैठना तो एक प्रकार से चुनौती देना है जिसका परिणाम हम दोनों

के लिए अच्छा नहीं हो सकता। तुम्हारे रूठने का तो मेरी समझ से यही अभिप्राय होगा कि इससे मैं अन्य किसी युवती के प्रेम में न फँसकर फिर तुम्हारे निकट आ जाऊँ न कि यह कि मैं तुमसे दूर हो जाऊँ। किन्तु ऐसा समझना तुम्हारी भूल है। मैं दृढ़ता के साथ कहूँगा कि तुमने गलत रास्ता अख्तियार किया है। किसी के हृदय को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति प्रेम में है न कि व्यर्थ रूठने में। 'नखरो राह राह को नीको।' यदि तुम्हें शक ही हुआ तो तुम्हें चाहिए था कि कुछ दिनों तक पूर्ण सतर्कता से मेरी गति-विधि पर लक्ष्य रखती, इतनी जल्दबाजी से काम न लेती। मेरा विश्वास है कि वैसा करने पर तुम्हारा शक अपने आप ही दूर हो जाता और हम दोनों व्यर्थ ही एक दूसरे के लिए इतना अधिक मानसिक कष्ट न भोगते।

इसलिए मेरे कहने से तुम अब भी चेत जाओ। भेद-भाव को मिटाकर पूर्ववत् हो जाओ। अभी हम लोगों में बिगाड़ ही किस बात का हुआ है। सुबह का भूला हुआ यदि शाम तक घर आ जाय तो उसे भूला हुआ नहीं कहा जा सकता। आशा है कि तुम मेरी बातों पर विचार करके अपने तथा मेरे उत्तप्त हृदय को शीतल करने का प्रयत्न करोगी। अन्त में मैं ईश्वर को साक्षी देकर फिर कहता हूँ कि मैं निष्कलंक हूँ और तुम्हारा शक झूठा है। तुमने मेरे हृदय की रमणीक प्रेम-वाटिका को उजाड़कर क्या फल पाया? मैं तो समझता था कि मेरे तुम्हारे बीच के प्रेम में आदान-प्रदान का भाव है ही नहीं। किन्तु यह तुमने क्या किया? क्या प्रत्यक्ष सत्य बात पर भी एक बार विश्वास न करना तुम्हारे प्रेम के लिए बड़प्पन की बात न होती? किन्तु हरि इच्छा बलवान है, तुम्हारा कोई दोष नहीं। मेरे ऐसे भाग्य कहाँ कि मैं अपनी अर्द्धाङ्गिनी का घृणापात्र न बन सकूँ।

तुम्हारा वही

......म।

(२)

कानपुर
६—९—३८

प्राणनाथ,

तुम्हारा ३—९—३८ का पत्र मिला। इसके पहले के पत्र भी यथा-समय मिलते गये थे; किन्तु अब तक मैं इसी उधेड़-बुन में लगी रही कि उत्तर में क्या लिखूँ। कभी जी में आता था कि खूब फटकार कर पत्र लिखूँ; किन्तु लिखने बैठने पर उसमें मैं अपने को कमजोर पाती थी। कभी सोचती थी अपने हृदय का आँसू तुम्हारे पास तक पहुँचाऊँगी, किन्तु उसमें भी मैं असफल ही रहती थी। इधर दो-तीन दिन से मैं एक परिणाम पर पहुँची थी और तुम्हें पत्र लिखनेवाली थी, इतने ही में तुम्हारा यह पत्र भी आ पहुँचा। मैंने अच्छी तरह सोचकर देखा, तुम्हारे बिना मुझे सुख और शान्ति कहीं नहीं मिल सकती। इसी से मैं चाहती थी कि यदि मुझसे कुछ अपराध हुआ हो तो उसके लिए तुमसे क्षमा माँगूँ। किन्तु अब तो उसकी आवश्यकता ही नहीं रही। क्षमाप्रार्थिनी बनने के पहले ही मुझे इस पत्र में क्षमादान मिल गया।

हाँ, एक बात मेरी समझ में नहीं आयी, यदि प्राकाम्य शक्ति से मनुष्य दूसरे के हृदय का भाव समझ ही लेता है, तो मैं तुम्हारे दिल का भाव क्यों नहीं समझ सकी? क्यों झूठा सन्देह कर बैठी? प्राणनाथ, सब दोष मेरा ही नहीं है। तुम्हीं बतलाओ, यदि तुम मेरे स्थान पर होते तो उस समय क्या निश्चय करते? मानती हूँ कि आदर्श प्रेम में आदान-प्रदान का भाव रहना ठीक नहीं; क्योंकि प्रेम स्वर्गीय पदार्थ है। उसमें तो यह भाव होना चाहिए कि तुम चाहो या न चाहो, पर मेरा तुम पर प्रेम ज्यों का त्यों रहेगा। किन्तु विनिमय का भाव तो तुम्हारे ही प्रेम में दिखायी पड़ा—मेरे नहीं। यदि ऐसा न होता तो मेरे रूठने पर तुम भी न रूठ जाते। मेरा रूठना तो स्वाभाविक था। अपने प्राण को निकलते देखकर किसे

दुःख न होगा ? अपने सर्वस्व को लुटते देखकर किसकी धैर्यच्युति न होगी ? मुझे तुम्हारे चरित्र और स्वभाव की पवित्रता पर पूर्ण विश्वास था, किन्तु जब मैंने अपने प्राचीन इतिहास पर नजर डाली और बड़े-बड़े तपस्वी ऋषि-महर्षियों को अपनी सारी तपस्या की आहुति देकर मेनका, उर्वशी आदि अप्सराओं के चरणों पर लोटते पाया, तब तो मेरा विश्वास निमेष-मात्र में टूट गया। जो भी हो, अब गड़ा मुर्दा उखाड़ने से कोई लाभ नहीं। यदि तुम मेरी गलतियों को भूलकर अपने पत्र में मेरी शंका का समाधान करोगे तो मैं अपना अहोभाग्य समझूँगी। क्या मैं आशा करूँ कि शीघ्र अपने पास बुलाकर शान्ति दोगे ? कब आओगे ? दर्शन किये बिना हृदय का दुःख पूर्णतया दूर न होगा।

(३)

ता० १०—९—३८
सन्ध्याकाल ५॥ बजे
बनारस

प्राणेश्वरी,

तुम्हारे पत्र ने मुझे उबार लिया। मैं पत्रोत्तर पाने की आशा छोड़ चुका था और भावी कर्त्तव्य स्थिर कर चुका था। तुम्हारा घृणापात्र बन कर जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा तुम्हें पाने के लिए जीवन की आहुति दे देना मैं श्रेयस्कर समझता था। किन्तु जान पड़ता है कि विधाता को यह स्वीकार नहीं था। इसी से तुम्हारा विचार हठात् पलट गया है और तुम स्नेह-सिञ्चित पत्र लिखने के लिए बाध्य हुई हो।

प्राकाम्य के सम्बन्ध में तुमने जो प्रश्न किया है, वह बहुत ही उचित है। बात यह है कि मनुष्य बुद्धिद्वारा आविष्कृत वस्तुओंका सहारा न लेकर अपनी इन्द्रियोंसे जितना ही अधिक काम लेता है, प्राकाम्य की उतनी ही अधिकता होती जाती है। यही कारण है कि यह शक्ति मनुष्य की अपेक्षा पशुओं में कहीं अधिक है। तुमने मुझे रेखा के साथ हँसकर

चालें करते देखा, तुम्हारा दिमाग घूम गया। उस समय तुमने बुद्धि से जरा भी काम नहीं लिया। क्रोध पर विजय करके शान्ति-पूर्वक उसे समझने की चेष्टा नहीं की। इसीसे तुम्हें धोखा हुआ। क्रोध और ईर्ष्या ने तुम्हें मेरे दिल का भाव समझने नहीं दिया। जिन वस्तुओं से यह शक्ति प्राप्त हुआ करती है, वे वस्तुएँ ही उस समय तुम्हारे भीतर से निकल गयी थीं। तपस्वियों में यह शक्ति बहुत अधिक होती है; वे दूसरों के दिल की बातें बहुत जल्द और अधिक स्पष्ट रीति से जान लेते हैं। क्यों? इसलिए कि उनका अन्तःकरण पवित्र रहता है। वे क्रोधादि शत्रुओं को अपने पास जल्द फटकने नहीं देते। आशा है कि अब तुम इस गम्भीर विषय को अच्छी तरह समझ जाओगी। मैं तुमसे खिंच गया था; किन्तु जब मैंने यह जानने की चेष्टा की कि तुम मुझ पर क्यों नाराज हो, तो फौरन ही मुझे सारी बातें मालूम हो गयीं। यदि मैं उसे जानने की चेष्टा न करता तो मैं भी तुम्हारी ही तरह अन्धकार में पड़ा रहता। अस्तु,

तुमने जो पत्र भेजकर मेरे हृदय की व्यथा को दूर कर दिया है, उसके लिये मैं तुम्हारा चिरऋणी रहूँगा। इतने दिनों तक मुझपर कैसी बीती है, शब्दों द्वारा व्यक्त करने मे असमर्थ हूँ। इस समय मेरा हृदय भी तुम्हारी ही तरह मिलने के लिए अधीर हो रहा है। एक-एक क्षण युग के समान बीत रहा है। यदि यह पत्र ठीक समय पर तुम्हें मिला तो उसके चौबीस घंटे के भीतर ही मैं भी तुम्हें लेने के लिए तुम्हारे पास पहुँच जाऊँगा। ठीक है न? परमात्मा सब अच्छे ही के लिए करते हैं। इस सम्मिलन में हमलोगों को जो अपूर्व आनन्द आवेगा, वह शायद वैसे न आता। वास्तव में जीवन में घटनाओं का संघात प्राप्त हुए बिना जीवन में सजीवता नहीं आती। अस्तु! असीम आनन्द का भार वहन करने के लिए तैयार हो जाओ। मैं भी तैयारी कर रहा हूँ।

तुम्हारा

......म।

टेढ़ी माँग

[लेखक---अन्नपूर्णानन्दजी]

प्रिये !

इसके पहले के पत्र में मैंने तुम्हें क्या लिखा था ? प्राणेश्वरी या प्राणाधिके ? भूल गया। खैर इतना याद है कि इस बार पारी प्राणवल्लभे की थी; पर लिखता हूँ प्रिये। मुझे दस हाथ लम्बा प्यार का शब्द पसन्द नहीं। तुम भी मुझे प्राणवल्लभ न लिखा करो। जरा वल्लभका तुक मिलाकर देखो। शलभ, वृषभ, रासभ, बस ऐसे ही शब्द मिलेंगे। मारो गोली ! सबसे अच्छा प्राणप्यारे।

हाँ, प्रेम से लबालब कोई लम्बा पत्र अब लिखना तो पेजों में आलपीन मत लगा देना। इस बार तुम्हारा पत्र पढ़कर छाती से लगाया तो आलपीन चुभ गयी।

सोचता हूँ तुम्हारे खत सब लौटा दूँ। उनके पारायण में बड़ा समय लगता है। कम्बखत किताबों को कब पढ़ूँ, जिन्हें पढ़कर पास होना है !

गत दिसम्बर में घर वालों की चोरी से मैंने तुम्हारी तसवीर खिंचायी थी। तुम्हारे २॥) में अपने ॥) मिलाकर पूरे तीन रुपये उस फोटोग्राफर को मैंने दिये थे। याद है न ? पर यह न जानती होगी कि उस लुटेरे फोटोग्राफर ने इधर तीन महीने में तीन बार करके छः रुपये मेरे और ऐंठ लिये। जब उसे पान-पत्ते के लिये दो रुपयों की कमी होती है मुझे खत लिखता है कि भेज दीजिये, नहीं तो आपके बाबूजी से कह दूँगा कि आपने अपनी बीबी की तसवीर खिंचायी है। मैं धीरे से दो रुपये उनके नाम रवाना कर देता हूँ। क्या करूँ, जानती हो, बाबूजी कैसे मटियाफूस विचार के आदमी हैं; कहेंगे कि लड़के ने कुल की नाक काट ली। जो बाप ने नहीं किया, दादा ने नहीं किया, परदादा ने नहीं किया—सो इसने कर डाला।

खैर, उन तसवीरों में से दो मेरे पास भेज दो। दो जो मैं अपने साथ लाया था सो खर्च हो गयी। कैसे ? एक तो मैं अपने हाथ में लिये हुए एक दिन सो गया। सुबह उस फोटो की ऐसी गत बन गयी थी जैसे बरसों ऐरावत के अरदब में पड़ा रह गया हो। जान पड़ता था कई सहस्र झुर्रियों को एक स्थान पर बटोर कर उनका फोटो ले लिया गया है।

दूसरी तसवीर यहीं बोर्डिंग में मेरे एक साथी के हाथ लग गयी। उस नालायक ने उसकी पुश्त पर एक कविता लिखी और लिखकर सारे बोर्डिंग को सुनाया। जरा तुम भी बानगी देखो—

दैवी गति, अनीति अजगैबी।
सखि ! तेरा पति अतिशय ऐबी॥
हूर परी-सी तुम, वह हौआ।
तुम कलकण्ठी, है वह कौवा॥
वह निमकौड़ी, तुम अंगूर।
तुम दिवाङ्गना, वह लंगूर॥
हाय करैं देखैं जो जोड़ी।
कोसैं विधि की बुद्धि निगोड़ी॥

पूरा सुनकर क्या करोगी। इसी तरह की बहुत-सी वाही-तबाही थी। मैंने उस लड़के को कई घूँसे लगाये—कुछ तो उनमें काफी वजनी थे—पर उससे होता क्या है। तबतक तो सौसे अधिक लड़कों को पूरी कविता कण्ठस्थ हो चुकी थी। सबको लगाने के लिए इतने घूँसे कहाँ से लाता। सहस्रबाहु के लिए भी यह एक समस्या होती, मैं तो मैं ही हूँ।

एक बात बहुत जरूरी लिखने की सोचा था। हाँ, याद पड़ गया। तुम अपनी माँग बिल्कुल बीच से निकालती हो। मैं चाहता हूँ कि जरा बीच से हटकर, एक बगल से निकाला करो। यों तो तुम अपने बाल चाहे जैसे बाँधो हर हालतमें वाह-वाह है। सच पूछो तो तुम्हारे खुले बालों की भी एक निराली ही छटा होती है। पर माँग एक दिन जरा एक

किनारे से निकालो तो मैं देखूँ कैसा लगता है। तुम्हारी शोभा का यह मदिर संस्करण देखते ही बनेगा। पर आँखें ठहरेंगी तब तो देखूँगा। लेकिन तुम्हें इससे क्या। तुम मेरा मन रख देना। भला न!

पर मैं अब भी यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि तुम्हारी चोटी में फालसई फीता उन्नाबी से ज्यादः अच्छा लगता है। नाहक तुमने उस दिन मुझसे बीस मिनटतक बहस किया। वह तो कहो कि मैंने तुम्हारे होठों पर कसकर एक चुटकी काट ली, नहीं तो न जानें कितने बीस मिनट तुम्हारी बहस और चलती। तुम्हारे पिताजी तो कोई इतने कट्टर आर्य-समाजी भी नहीं हैं, फिर तुम्हें जरा-जरा-सी बातपर इतना बहस करना किसने सिखाया? खैरियत है कि भगवान ने आवाज ऐसी मीठी, ऐसी मुलायम दी है कि उन सारी बहसों को भी मैं शर्बत की तरह घुट-घुट पी जाता हूँ।

खैर, अब मैं असली बात पर आता हूँ। कल का जिक्र है। मैं अपने कमरे में बैठा पढ़-सा रहा था कि तुम्हारे बड़े भाई साहब आ धमके—याने पधारे। मैंने काफी आवभगत की। मैं क्या जानता था कि मेरा गला रेतने आये हैं। इधर-उधर के गपोड़े के बाद कहने लगे कि पच्चीस तारीख को मैं घर जाते समय लल्ली को भी तुम्हारे यहाँ से बिदा कराता जाऊँगा।

यह सुनना था कि मुझे तो जैसे काठ मार गया। सारी आई-बाई पच गयी। २७ ता० से मेरी छुट्टी शुरू होगी, मैं तीरका छूटा-सा भागता हुआ घर पहुँचूँगा, और आप उसके दो दिन पहले ही पीहर चल देंगी। यह खूब! भाई साहब ने कह दिया और मैंने मान लिया!! मैं काठ का उल्लू हूँ न कि तुम्हें जाने की अनुमति दे दूँगा। मैं घर आऊँगा झक मारने के लिए, क्यों? तुम्हारे भाईसाहब की अक्ल चरने चली गयी है। मैंने उनका लिहाज किया, कुछ बोला नहीं; पर अपना मुँह मैंने इस तरह और इतनी देर तक बिचकाया कि उनकी चरती हुई अक्ल भी अपने ठिकाने लौट आयी। बात फेरकर वे चलते बने।

अब तुमसे यह कहना है कि भाईसाहब अगर इसपर भी न मानें और तुम्हें बिदा कराने वहाँ पहुँच ही जायँ तो तुम जाना मत। हीला करना, बहाना करना, सत्याग्रह करना, फौजदारी करना, पर जाना हरगिज नहीं। जावगी तो मैं जी-जान से नाराज हो जाऊँगा; कम-से-कम नाराज हो जाने की कोशिश तो जरूर ही करूँगा।

यह खत तो यों ही काफी लम्बा हो गया। मुझे अभी अपना विरह निवेदन करना था, अपने प्रेम का पचड़ा गाना था, तुम्हारे रूप और गुण की प्रशंसा में सैकड़ों बातें लिखनी थीं। पर यह प्रसंग अगर छेड़ूँगा तो अपनी उस मुसीबत का हाल न लिख सकूँगा जो इस समय अकारण मेरे ऊपर आ पड़ी है।

मेरे एक प्रोफेसर साहब पंजाब के रहनेवाले हैं। नौजवान आदमी हैं, मुझसे साल-छः महीने बड़े होंगे। गत वर्ष उन्होंने अपनी शादी की, प्रयाग में। इधर उनकी बीबी अपने मायके चली गयी। अब प्रश्न यह उठा कि उसे पत्र कैसे लिखा जाय। प्रोफेसर साहब पंजाबी होने के नाते हिन्दी पढ़े नहीं थे और बीबी केवल हिन्दी जानती थी। ऐसी अवस्था में पत्र द्वारा प्रेम का आदान-प्रदान कैसे हो। प्रोफेसर साहब ने रो-धोकर हिन्दी के दो एक प्राइमर पढ़ डाले, पर प्राइमरों में बीबी को पत्र लिखना सिखाया नहीं जाता। अन्त में वे मेरी शरण आये। मुझसे पूछने लगे कि अपनी स्त्री को हिन्दी में कैसे पत्र लिखा जाता है, आरम्भ और अन्त में क्या लिखा जाता है? मैंने बता दिया कि आरम्भ में प्यारी या प्रिये लिखिये और अन्त में त्वदीय या तुम्हारा लिखिये। पर उन्हें यह पसन्द न आया, वे कोई चुहचुहाती चीज चाहते थे। तब मैंने बताया कि ऊपर लिखिये 'मेरे प्राणों की रानी' और नीचे लिखिये 'तुम्हारे प्रेम का प्यासा।' यह उन्हें पसन्द आ गया। पर खत लिखते समय उन्होंने घपला कर दिया। उन्होंने ऊपर लिखा 'मेरे प्रेमों की रानी' और नीचे लिखा 'तुम्हारे प्राण का प्यासा।'

बीबी को खत मिला तो वह 'प्राण का प्यासा' पढ़कर भड़की, और अपने जवाब में उसने प्रोफेसर साहब को ऐसा लथेड़ा कि वे भी मान गये। पर अब वे मुझसे नाराज हो गये हैं, कहते हैं कि तुम्हींने तो ऐसे लिखना बताया था, तुम्हारी ही वजह से मुझे इतना सख्त-सुस्त सहना पड़ा। यही नहीं, धमकी दे रहे हैं कि तुमसे इम्तेहान में समझ लूँगा। बड़ी मुसीबत है। क्या करूँ! होम करते हाथ जला।

एक तो यह सब चिन्ता, ऊपर से तुम्हारी याद और भी जान मारती है। मैं जानता कि तुम्हारे बिना जीना दूभर हो जायगा तो शादी ही न करता। अभी और बीस रोज इसी बोर्डिंग के पिंजड़े में फटफटाना है। तब कहीं तुम्हें देख पाऊँगा। वह कौन घड़ी होगी जब तुम्हें देखूँगा! तुम्हारी ठुड्डी पर एक तिल है। आज रह-रहकर उसी का ध्यान आ रहा है।

तुम्हारा

....

प्यारे!

पहले तो अपनी आदत के अनुसार मैं आपको एक झिड़की सुनाऊँगी। पूरे नौ दिन के बाद आपने मुझे खत लिखा है। कैसी पराकाष्ठा है प्रेम की! थोड़े धन्यवाद दे डालूँ? क्या सफाई आप देंगे? कार्य्याधिक्य या आलस्य या कोरी हृदयहीनता? आपके लिए पढ़ना और पानी पीटना बराबर है। घण्टे में ५०० बार जिसका नाम आप रटते थे अब उसे आप इतनी जल्दी भूल गये तब आप कैसे उम्मीद करते हैं कि साल में एक दो बार की पढ़ी किताबें आपको इम्तेहान में याद रहेंगी। खैर इस बार तो मैं आपको क्षमा कर देती हूँ, पर अगर फिर ऐसा हुआ तो बस यही समझिये कि मैं आसमान सर पर उठा लूँगी।

और आपने यह कैसे जाना कि २५ ता० को भैया मुझे लिवाने आये तो मैं चली जाऊँगी। मैंने भाभी को साफ-साफ लिख दिया है कि २७

ता० को आप आ रहे हैं, इसलिए मैं अभी ठहर कर आऊँगी। जो इसे बेहयाई समझें समझा करें; गदहों को बुद्धि बाँटना मेरा काम नहीं है। अपने पति से मिलने की इच्छा रखना अगर पाप है तब तो फिर स्त्री होना ही पाप है। ऐसे समय में क्यों चली जाऊँ जब आप दो महीने बाद घर आ रहे हैं। यह तो बड़ा अन्याय होगा आपके साथ; और खुद अपने साथ भी। लाज मेरा आभूषण है, मैं उसे अपना रोग नहीं बना सकती।

भाभी को जब मेरा खत मिलेगा और वे घरवालों से जब कहेंगी कि लल्ली को अभी आना मंजूर नहीं है उस समय सचमुच एक दृश्य उपस्थित हो जायगा। कुछ लोगों को कलिकाल की माया प्रत्यक्ष दिखायी पड़ने लगेगी; कहेंगे कि ससुराल जाते देर नहीं कि दुलहे का ऐसा चसका लग गया। पर आप ही इन्साफ करिये, कोई इन बातों का कहाँ तक खयाल करे। मैं सौकी सीधी एक जानती हूँ कि जो हमारे हितू हैं वे आपका-मेरा प्रेम देखकर प्रसन्न होंगे; और जो हमारे हितू नहीं हैं वे जहन्नुम में जायँ, उनकी मैं कहा तक चलाऊँ।

अच्छा सुनिये, आपको एक ऐसी घटना सुनाऊँ जिसे सुनकर आप घंटों हँसेंगे। आप बनवारी को तो जानते हैं न? अरे वही, लाला रामलाल कन्ट्राक्टर का लड़का। चार-पाँच मकान आगे जिसका मकान है। इन्ट्रेन्स में पढ़ता है। मैं तो उसे निरा छोकरा समझती थी पर परसों मालूम हुआ कि आप मेरे ऊपर अपना दिल निछावर कर चुके थे।

सदा की तरह मैं उस शाम को भी टहलने के लिए छतपर गयी। यह तो मैंने देख रखा था कि इधर बराबर जब मैं अपनी छतपर जाती तब वह भी अपनी छत पर आ खड़ा होता। पर आज वह पतंग उड़ा रहा था। उसका पतंग ठीक मेरी छत के ऊपर मँडरा रहा था—कुछ इस तरह से कि जैसे उड़ाने वाला उसे मेरी छत पर ही गिराना चाहता हो। यही हुआ भी। पतंग उड़ते-उड़ते मेरी छत पर आ गिरा। मैंने देखा कि बनवारी

उसे उठाने की कोशिश नहीं कर रहा है। मुझे कुछ कौतुहल हुआ। मैं पलंग के पास गयी। उसके एक कोनेपर डोरे से बँधा कागज का एक पुरजा मैंने देखा। पुरजे को मैंने खोल लिया। उसपर एक कविता लिखी हुई थी। सुनियेगा? सुनिये—

[१]

तुम्हें देख यह हृदय हमारा
करता था धुक-धुक-धुक।
या फिर रुकने-सा हो जाता
चलता ऐसा रुक-रुक॥

[२]

भूल गया अपने को लेकिन
तुमको भूल सकूँ न।
गली-गली ग़लतान बना हूँ
किन्तु करूँ मैं चूँ न॥

[३]

तुम हो रूप सुधा की सरिता
मैं चाहूँ दो चूल्लू।
मुझे समझ लो, जी चाहे—
अव्वल नम्बर का उल्लू॥

[४]

प्रेम निरा पागलपन मेरा
पग-पग पर है अंडस
चूक परै, चट चौतरफा से
होने लगे कुदम्मस॥

[५]

पलक बिछा दूँ पथ में तेरे
पायल चूमूँ झुक-झुक।
छिपा छिपकली-सा छप्पर में
देखूँ कबतक लुक-लुक॥

देखा आपने ? कैसी बहारदार कविता है ! एक बार तो मैं खूब हँसी बनवरिया देख रहा था या नहीं मैं नहीं कह सकती। न-जाने कैसे मुझे हँसते-ही-हँसते क्रोध भी आने लगा। क्रोध मुझे इस बात पर नहीं आ रहा था कि वह मेरे रूप पर मुग्ध क्यों हुआ। भला इसमें उस गरीब का क्या कसूर ? अपनी आँखों को वह क्या करे ! भगवान अच्छा रूप इस शर्त पर देता है कि इस पर मुग्ध होने का अधिकार सब आँखवालों को होगा। रूप अपना असर न छोड़े तो देखनेवाले की आँखों का क्या अपराध !

यहाँ तक तो ठीक है पर उस नीच ने यह क्यों समझा कि मेरे ऊपर ऐसी बातों का, उसकी कविता का प्रभाव पड़ेगा। आखिर वह भी तो हिन्दू ही है। क्या हिन्दू ललनाओं का आदर्श उसने कहीं पढ़ा सुना नहीं था ? मुझे क्रोध इस बात पर आ रहा था। उसे सफलता की आशा करने का साहस कैसे हुआ।

एक मन तो हुआ कि अभी चलकर यह कविता बाबूजी के हाथों में रख दूँ। आपके बाबूजी तो बस अपनी कुबड़ी उठाते और—फिर इसके बाद का ब्योरा तो उस दिन के अखबारों में पढ़ने को मिलता।

लेकिन मुझे उसके ऊपर कुछ दया भी आने लगी। स्त्री का हृदय भी कैसे अनमेल आवेशों का अखाड़ा है, पहले हँसी—तब क्रोध—फिर दया। उसकी कुचेष्टा में मुझे पाप कम और मूर्खता ही अधिक दिखायी पड़ी। मूर्खता दयनीय है, दण्डनीय नहीं ?

पतंग अब भी छत पर पड़ा था। बनवारी उसकी डोर पकड़े चुपचाप अपनी छत पर खड़ा था। वह मेरे उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा था।

संयोग से मेरी फाउन्टेन मेरे पास ही थी। मैंने पतंग पर ही अपना उत्तर लिख दिया। उत्तर लिखकर मैंने पतंग को उड़ा दिया। बनवारी उसे खींच ले गया।

आपके पेट में अब चूहे कूद रहे होंगे—यह जानने के लिये कि मैंने उसे क्या उत्तर दिया। सुनिये, आपने पत्र सुना, अब उत्तर भी सुन लीजिये। बहुत छोटा उत्तर था—

बाला हूँ सरला सुन्दर हूँ
पर हूँ हट्टी-कट्टी।

होश सँभाल—नहीं तो
तेरा सर और मेरी चट्टी॥

उत्तर पढ़ते ही बनवारी छत से उतर गया। कल शाम को वह छत पर न आया। आज भी नहीं आया। चलिये, साँप मरा, लाठी भी न टूटी। मेरा विश्वास है कि मेरे उत्तर से उसके आत्मसन्मान को अमरम्मणीय क्षति पहुँची है। अमरम्मतीय लिखना यदि गलत है तो मेरी बला से।

तो आप २७ ता० को जरूर आ जायँगे न? अगर न आये तो मैं ऐसा गाल फुलाऊँगी कि आप भी याद करेंगे। ऐसे समय से चलिये कि शाम तक यहाँ पहुँच जाइये। रात दो बजे की गाड़ी से पहुँचना कोई भलमनसी है!

हाँ, आपकी प्रार्थना है कि मैं अपनी माँग बगल से निकाला करूँ। मैं इस पर विचार करूँगी। अभी कुछ वादा नहीं करती हूँ। ज्यादः गिड़गिड़ाइयेगा तो देखा जायगा।

दासी
....

एक विधवा का अपने सखी को

रचयिता—श्री० 'प्रभात'

..........!

प्रथम-मिलन के सुख का अनुभव, अभी न कर पाई थी हाय!
बन्द कली के भीतर था, आशाओं का सौरभ असहाय॥
चितवन में थी लाज अधर-पर थी संकोच-भरी मुस्कान!
हृदय-कुमुद ने अभी न पाया था पावन-प्रिय-दर्शन-दान॥
जीवन-वीणा के तारों से, नव-यौवन का पहला गान।
अभी-अभी तो निकला ही था, प्रथम पुलक-सा शुचि-रुचिमान॥
जाग रहा था धीरे-धीरे, अन्तर में अज्ञात-अनुराग।
किसे ज्ञात था इतने में ही, फूट जायगा मेरा भाग॥
विकसित होने के पहले ही, सूख गई कलिका वन में।
दलित हुए दल काम-कमल के, वज्र-निपात हुआ छन में॥
प्यारी सखी! रहा सुख अब क्या, इस विषादमय जीवन में।
आग लगी सौन्दर्य-सदन में, रही हाय! मन की मन में॥
पथ की हुई भिखारिनि अब मैं, अभिशापिता प्रणय-धन-हीन।
यौवन के चिर-रुदन-राग में, हुई हास्य की रेखा लीन॥
निधनी हुई बहिन! खोकर मैं, जीवन का धन अलग महान।
भस्म हुईं जलकर इच्छाएँ, आज हृदय-तल बना मसान॥
करकी चारु-चूड़ियाँ टूटीं, धुला माँग का शुभ-सिन्दूर।
बना भेष मेरा योगिनी का, हुईं हर्ष की घड़ियाँ दूर॥
अस्त हुआ सौभाग्य-दिवाकर, विधवा कहलाई मैं आज।
ललित-लोल-लावण्य-मुकुल पर, गिरी अचानक आकर गाज॥
सूखा स्रोत हृदय का, नीरस—हुआ चन्द्रिका का शृंगार।
प्राणों की गति आज रुक गई, अन्त हुआ मेरा संसार॥

अंग-अंग में दहक रहे हैं, प्रलयंकर दाहक अंगार।
वसुन्धरे माँ! मुझे छिपा ले, अपना खोल चिरन्तर द्वार॥
अब न अधिक उन्माद-भरी, आहोंकी कथा सुनाऊँगी।
रोती हूँ—रो रो जीवनकी, घड़ियाँ शेष बिताऊँगी॥
एक रुदन ही रहा विश्वमें, अब मेरा अनन्त-आधार।
एक रुदन ही रहा विश्वमें, अब मेरा सर्वस्व अपार।

❀ ❀ ❀

पढ़ना, हृदय थामकर पढ़ना, इन शब्दोंको सखी! उदार।
मुझ पापिनके अधम भाग्यपर, अश्रु गिराना तुम दो-चार॥

❀ ❀ ❀

अन्धकार सर्वत्र हृदयमें, और विश्वमें भी साकार।
अन्धकार उस पार दृष्टिके, अन्धकार इस पार अपार॥
अश्रु-लहर भीषण-ज्वाला—उन्माद प्रलय आकुल उच्छ्वास।
आज आ रहा मुझे निगलने, मुँह बाए अनन्त-आकाश॥
शिथिल हुई जा रहीं शक्तियाँ, दग्ध-हृदय-तलकी सारी।
और अधिक क्या लिखूँ?..............................

तुम्हारी,
—अभागिनी सखि 'सुकुमारी'

प्रिय सुनीता, तुम्हारी धार्मिक जागृति को प्रोत्साहन देनेवाली मीरा का अद्भुत चरित्र भेज रहा हूँ। तुम्हारा गौरांग।

राजरानी मीराँ

(ले०—श्री रामलालजी बी० ए०)

भारत का मध्यकाल भक्ति का स्वर्णयुग था। ज्ञान-धारा के साथ-ही-साथ सूर और तुलसी ने सगुणभक्ति की प्रेममयी मन्दाकिनी बहा दी। जनता भगवान् के लोक-रक्षक और लोक-रंजन स्वरूपों की कायल होती जा रही थी। यवन-शासन के प्रति हिन्दू समाज में स्वाभाविक उपेक्षा का

मीराँ का पत्र



श्री कृष्ण भक्त मीराँ का भगवान में अपूर्व लगन

उदय होने लग गया था। यद्यपि हिन्दू-राजसत्ता डाँवाडोल थी, फिर भी आध्यात्मिक जागरण में हिन्दू पीछे नहीं थे। अयोध्या, मथुरा और चित्रकूट आदि पवित्र तीर्थक्षेत्रों में भक्त कवियों का प्रेम-काव्य व्याप्त हो उठा। मीराँ ने अपनी व्यक्तिगत साधना से केवल अपना ही कल्याण नहीं किया, समाज, साहित्य और देश का भी बहुत बड़ा हित किया। उनकी अलौकिक तपस्या ने सिद्ध कर दिया कि राजमहल में रहनेवाली राजरानी राजकीय वैभवों पर लात मारकर ब्रज की गली-गली में भगवान् की खोज करने में आकाश-पाताल एक कर सकती है, पाषाण में प्रतिष्ठित भगवत्प्रतिमा से प्रत्यक्ष संलाप कर सकती है।

मीराँ का जन्म कहाँ हुआ था, कब हुआ था, उनके पिता का क्या नाम था, पति कौन थे?—ये प्रश्न अब भी किसी-न-किसी अंश में विद्वानों के खोज के विषय बने हुए हैं। प्रश्नों का समाधान कुछ भी हो, मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में मीराँ थीं ही। उन्होंने अपने प्रेम-काव्य से रसिकशेखर नन्दनन्दन को रिझा लिया था ही, यह नितान्त सत्य है। उनकी जीवनी के सम्बन्ध में बहुत कुछ खोज हो चुकी है; उसके आधार पर यह बात तो निश्चित ही है कि उनका विवाह पवित्र सीसोदिया-कुल में हुआ था। उनका जन्म संवत् १५६० के लगभग मेड़ता परगने के कुड़की गाँव में हुआ था। वे जोधपुर के संस्थापक प्रसिद्ध राठौर वंश के राजा राव जोधाजी की प्रपौत्री, मेड़ता के राव दूदाजी की पौत्री और रतनसिंहजी की पुत्री थीं। मीराँ की माता का देहान्त बहुत जल्दी हो गया था, इसलिए दूदाजी ने मीराँ को अपने पास मेड़ता बुला लिया था। उनका लालन-पालन प्रसिद्ध भक्त जयमल के साथ हुआ था, जिनकी सराहना अपने भक्तमाल में नाभाजी ने की है। जयमलजी मीरा के ताऊ वीरमजी के पुत्र [illegible] ही मीराँ में भक्ति के संस्कार जाग्रत् होने लगे थे। [illegible] भक्तमाल की टीका में इनका जन्म-स्थान मेड़ता ही माना है और मीराँ ने स्वयं कहा है—

'मेड़तिये घर जन्म लियो है, मीराँ नाम कहायो।'

चित्तौड़ के राजकुमार भोजराज से सं० १५७३ में तेरह साल की अवस्था में धूमधाम के साथ इनका विवाह कर दिया गया। ससुराल में आने पर सास इनकी पूजा और उपासना-शैली से चिढ़कर बात-बात में उपेक्षा करने लगी। मीराँ से उसकी अनबन-सी हो गयी। चित्तौड़ की रानी लोक-लज्जा छोड़कर झाँझ-करताल बजाकर गोविन्द को रिझाये और गाये—'तेरो कोई नहिं रोकणहार, मगन होय मीराँ चली'—राणा के परिवार के लिए यह बात असह्य थी। लेकिन इधर तो अजब मस्ती थी, कुछ और ही ढंग था। श्याम-रंग की तरंग में जिसका मन बह रहा था, उस पर दूसरे का रंग चढ़ता ही किस तरह ? दूर-दूर से भक्त-मण्डली आने लगी। राजपरिवार मीराँ के तपोमय जीवन में विघ्न डालने के लिए कटिबद्ध था, परन्तु भगवान् के भक्त का अमंगल करनेवालों का चेहरा काला पड़ गया। जिन नयनों में नन्दलाल बसते थे, उनमें विश्व के बड़े से बड़े सौन्दर्य के लिए स्थान ही कहाँ था !

कुछ लोगों का ऐसा मत है कि मीराँ की उनके पति ने बड़ी ताड़ना की थी, परन्तु यह असंगत और गलत धारणा है। कुमार भोजराज का विवाह होने के पाँच ही वर्ष बाद देहावसान हो गया था। मीराँ को सतानेवाला तो उनका देवर विक्रम था। (कुछ लोगों ने गीतगोविन्द के टीकाकार राणा कुम्भ को उनका पति माना है; यदि कुछ देर के लिए इसे भी ठीक समझ लिया जाय तो भी पति का विरोध सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि कुम्भ स्वयं भगवद्भक्त थे।) मीराँ के पदों से तथा उनके सम्बन्ध की अन्य खोजों से यह बात तो स्पष्ट ही हो गयी है कि उनका पति से कभी विरोध नहीं हुआ।

यह बात तो स्वाभाविक ही थी कि गिरधर-गोपालजी के प्रेम के पीछे उन्हें पति-प्रेम को तिलांजलि देनी पड़ी। पति की मृत्यु हो जानेपर अपनी बहन ऊदा के संकेत पर राणा विक्रम ने उन्हें तरह-तरह का कष्ट

देना आरम्भ किया। उनके जीवन का अन्त कर डालने के लिए विष का प्याला और काला नाग भेजा गया; परन्तु काल उनका कुछ न बिगाड़ सका। प्रेम-योगिनी मीराँ को अपने भगवान् के बल पर पूरा-पूरा विश्वास था, उनमें दृढ़ आस्था थी, उन्होंने राणा को दिखला दिया—

थारी मारी ना मरूँ, मेरो राखणहारो और।

जिस महल में राग-रंग होता था, दूर-दूर देशों के संगीतज्ञ और कलाकार अपनी कला का परिचय देते थे, उसीमें सीसोदिया कुल की एक राजरानी ने भगवान् का गुण-गान कर सारा वातावरण भक्ति भावना से ओतप्रोत कर दिया।

पग घुँघरु बाँध मीरा नाची रे।
लोग कहै मीराँ भई रे बावरी, सास कहै कुलनासी रे।
विष को प्यालो राणाजी भेज्यो, पीवत मीराँ हाँसी रे॥
मैं तो अपने नारायण की आपहि हो गइ दासी रे।
'मीराँ' के प्रभु गिरधर नागर सहज मिल्या अविनासी रे।

सारा-का सारा परिवार वैरी हो गया। रास्ते के फूल काँटे बन गये। मीराँ के अङ्ग-अङ्ग में भक्ति की धारा प्रवाहित हो उठी। उन्होंने कह ही तो डाला—

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'

'सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै' की बात उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ कर दी। सीसोदिया-कुल का महाराणा भले ही रूठ जाय, 'म्हे तो गोविन्द का गुण गास्याँ हो माई'—की तीव्र भाव भङ्गिमा उनके अधरों के स्पन्दन में आलोड़ित थी। उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया था—'नहिं ऐसो जनम बारम्बार'। कहते हैं कि संतशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास के दरबार में भी उन्होंने आवेदन-पत्र भेजा था, वेदना निवेदन के लिये उनसे बढ़कर योग्य 'वकील' और था ही कौन?

जिस समय राणा का अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था, उन्होंने गोस्वामीजी को पत्र लिखा—

'बालपणे से मीराँ कीन्हीं गिरधरलाल मिताई,
सो तो अब छूटै नहिं क्योंहू लगी लगन बरियाई
मेरे मात-पिता के सम हौ, हरिभगतन सुखदाई,
हमहू कहा उचित करिबो है, सो लिखियो समुझाई।'

राघवेन्द्र के पदारविन्द-मकरन्द में रात-दिन डूबे रहनेवाले महात्मा ने भक्तहृदय की वेदना समझ ली; उन्हें इस बात का तनिक भी ध्यान नहीं था कि यदि उत्तर महाराणा के हाथ में पड़ेगा तो उसका भयानक परिणाम हो सकता है। राम-भक्त की वाणी ने निस्संकोच कहला भेजा—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितन्हि, भए मुद मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य, प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद, एतो मतो हमारो॥

आशा के अनुरूप उत्तर पाकर मीराँ का हृदय गद्गद हो उठा। नयनों से प्रेमाश्रुधारा बहने लगी। अंग-अंग में रोमाञ्च होने लगा, मन में मस्ती की घटा उमड़ आयी। राजरानी ने महल की ओर देखा, उन्होंने मिट्टी के पुतले से विदा माँगी, चित्तौड़ की पवित्र भूमि की वन्दना की, प्रियतम ने अपनी लीला-भूमि में चलने का संकेत किया। पैर पीछे पड़ते ही किस तरह? मन से उन्होंने कहा—

चलो मन गंगा जमुना तीर।
गंगा जमुना निरमल पानी सीतल होत सरीर।

बंसी बजावत गावत कान्हो, संग लिये बलबीर ॥
मोर मुकुट पीतांबर सोहै, कुंडल झलकत हीर ।
'मीराँ' के प्रभु गिरिधर नागर चरण-कँवल पै सीर ॥

तीर्थ-यात्रा के लिये ये निकल पड़ी । मन व्रज-धाम की शोभा देखने के लिये आकुल था, तन की सुधि-बुधि नहीं थी । अधर हिल रहे थे, स्वर में कम्पन था—'हेरी मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जाणें कोय ।' सचमुच प्रभु की विरह वेदना अत्यन्त भयंकर होती है । फिर भी सन्तों ने कहा है—'साईं सब के पास हो, कोई दरद सुनावै ।' भगवान् तो सदा भक्तों के हृदय में निवास करते हैं, उन्होंने मीराँ की वेदना का अनुभव तो कर ही लिया था । वे व्रज पहुँच गयीं । गिरिधरनागर के नगर की शोभा न्यारी थी, रीति-नीति निराली थी, यहाँ तो दधि बेचनेवाली गोपियाँ दही का नाम भूलकर श्याम के नाम की रट लगा रही थीं । मीराँ ने गोविन्द को मोल ले ही तो लिया—

माई म्हे तो लियो गोविंदो मोल ।
कोई कहै ओले, कोई कहै छाने, लियो री बजंता ढोल ।
कोई कहै मूँघो, कोई कहै सूँघो; लीन्यो प्रेम के मोल ।
'मीराँ' को प्रभु दरसण दीज्यो पूरब जनमरो कोल ।

व्रज-भूमि में वे बहुत दिनों तक सन्तों का सत्संग करती रहीं । एक बार वे प्रसिद्ध भक्त श्री जीव गोस्वामी से मिलने गयी थीं । गोस्वामीजी ने यह कहकर कि 'मैं तो स्त्रियों से नहीं मिलता' मिलना अस्वीकार कर दिया । गिरिधरनागर की सहेली ने कहला भेजा—'मैं तो समझती थी व्रज में पुरुष केवल एक श्रीकृष्ण ही हैं; परन्तु अब एक पुरुष और निकल आये ।' इतना सुनकर जीव गोस्वामी उनसे नंगे पाँव ही मिलने दौड़ पड़े । कुछ विद्वानों की धारणा है कि जीव गोस्वामी ही इनके गुरु थे और कुछ लोगों का मत है कि सन्त रैदास ने इन्हें दीक्षा दी थी ।

व्रजधाम से ये द्वारका आयीं । एक बार ये भगवान् श्री रणछोरजी

के सामने मस्त होकर नृत्य तथा संगीत से अपने प्रियतम का मनोरञ्जन कर रही थीं, सहसा एक दिव्य ज्योति भगवान् की प्रतिमा से निकली और मीराँजी उसी में समा गयीं। आज कल वह मूर्ति श्रीडाकोरजी में है, जहाँ मीराँ का चीर आज भी मूर्ति के बगल में लटका हुआ है। संवत् १६०८ के लगभग उनका देहावसान हुआ था, ऐसा कहा जाता है।

मीराँ केवल भक्त ही नहीं, बड़ी भावुक कवि भी थीं। कविता उनकी भक्ति का अलंकार है, उनका काव्य हृदय का काव्य है। गिरिधरगोपाल ही उनके काव्य के नायक हैं। उनकी उपासना मधुर-भाव की थी। उन्होंने अपने पदों और गीतों में भगवान् को पति रूप में स्मरण किया है। वे प्रेम-योगिनी थीं उनका जीवन धन्य था।

सिनेमा से भोग-विलास की उत्तेजना

जीजाजी !

नमस्ते ! लखनऊ में आपका एक पत्र मिला था। आपने बताया था कि सिनेमा देखने से भोग-विलास की उत्तेजना मिलती है। इसके पश्चात् ही श्री किशोर घनश्याम मशरूवाला का एक लेख "ये सिनेमा घर बन्द करिये !" शीर्षक का पढ़ने में आया, जिसे पढ़कर मेरा हृदय दहल गया। उस समय से मैंने सिनेमा देखने जाना बहुत कम कर दिया।

कुछ ही दिनों बाद दो-तीन घटनाएँ ऐसी अश्लील और रोमांचकारी हुईं जिन्हें पढ़कर मैंने शपथ खा लिया कि आज से सिनेमा देखने कभी न जाऊँगी। जिस दिन सिनेमा देखने की इच्छा होती थी मैं १०) का नोट एक बक्स में छोड़ दिया करती थी। इस महीने में बक्सा खोलने पर २१ नोट निकले। अर्थात् २१०) रुपये का कोष संग्रह हुआ। इससे मैंने निम्नलिखित कार्य करना सोचा है—

५०) सत्यदेव की कथा और कीर्तन में।

५०) दीनों की सहायता सेवा में।

५०) तीर्थयात्रा में दान-पुण्य।

५०) उत्तमोत्तम पुस्तकें खरीदने में।

१०) रिजर्व, जरूरत पड़ने पर खर्च के लिए।

२१०) रु०

सिनेमा न देखने से मुझे आर्थिक लाभ हो गया और मेरे आचार-विचार में आप विशेष परिवर्तन देखेंगे। मेरा तो जीवन ही सुधर गया।

आप कहा करते थे कि तुम सिनेमा देखना छोड़ दो तो तुम सच्ची देवी बन जाओगी। ऐसा ही हुआ। आपको बारम्बार धन्यवाद!! धृष्टता क्षमा करिएगा—

वह लेख, जिससे मेरा मन सिनेमा से हट गया, वह यहाँ देती हूँ।

आपकी—

नन्हीं देवी

ये सिनेमा घर बन्द करिये !

(श्री किशोर घनश्याम मशरूवाला)

एक भाई लिखते हैं।

दिल्ली की एक महिला कार्यकर्त्री ने दिल्ली की स्त्रियों की नैतिकता की जाँच करने का प्रयत्न किया। वे अपनी रिपोर्ट में लिखती हैं कि दिल्ली में १२०० वेश्याएँ हैं, जिनमें से ३०० शरणार्थियों में से हैं। लेकिन दिल्ली की कोई भी सड़क या मुहल्ला ऐसा नहीं है, जहाँ कुटन-खाने न चलते हों और वहाँ बहुत-सी स्त्रियां जाती हैं। यह भी नहीं है कि उनमें सिर्फ निराधार स्त्रियाँ ही जाती हों। जिनके भाई और पति नौकरी करते हैं, ऐसी स्त्रियाँ भी वहाँ जाती हैं। उनके भाई और पति जान-बूझकर इस बात की उपेक्षा करते हैं, क्योंकि इस महँगी के जमाने में इस तरह की गन्दी कमाई होने पर भी घर-गृहस्थी का खर्च बड़ी मुश्किल से चलता है। कालेज में पढ़नेवाली लड़कियाँ भी कभी कभी वहाँ जाती हैं और अपने शृंगार का खर्च निकाल लाती हैं।

हमारा देश जो भोगप्रधान संस्कृति की ओर आगे बढ़ रहा है, उसमें आधुनिक शिक्षण का हाथ तो है ही, लेकिन उससे भी ज्यादा सिनेमा का हाथ है। चाहे जैसी हालत हो, बेकारी हो या अकाल, तो भी शहरों में सिनेमा के टिकट मिलना मुश्किल होता है। जिस देश में वेश्याएँ देवियों की तरह पूजी जाती हों, उस देश की नैतिकता कितनी ऊँची समझी जानी चाहिए? आज कल रेडियो, ग्रामोफोन वगैरह भी सिनेमा के बीभत्स गीतों के प्रचार केन्द्र बन गये हैं। पुरानी सरकार तो यही चाहती थी कि लोग ऐशआराम में रहे, भोग-विलास के कीड़े बने रहें। आपस में झगड़ते रहें और व्यसनों के दास बने रहें और इसी में वह अपनी सुरक्षा मानती थी। रूस ने सिनेमा, रेडियो, वगैरह प्रचार के साधनों की मदद से अपनी पंचवर्षीय योजनाएँ चार-चार वर्षों में पूरी कर डालीं। लेकिन हम स्वतन्त्र होने के बाद किधर जा रहे हैं?

यह बात दिल्ली की है। बम्बई से आये हुए एक भाई ने बम्बई का इससे भी भयंकर वर्णन किया था। 'नारी की प्रतिष्ठा' लेख में नागपुर के विद्यार्थियों के व्यवहार के बारे में तो आ ही गया है। उसे और बढ़ाने के लिए एक भाई लिखते हैं:—

नागपुर का दूसरा एक आघात पहुँचानेवाला किस्सा अखबारों में पढ़ा। एक १६-१७ साल के लड़के का एक लड़की से प्रेम हो गया। लड़की के माता-पिता ने उसका सम्बन्ध दूसरी जगह कर दिया। इसलिए मौका पाकर लड़के ने लड़की का खून कर डाला और पकड़ा गया। इस उम्र में प्रेम और वह भी खून करने की हद तक जाय, ये संस्कार उसे कहाँ से मिले होंगे?'

शहर की बात छोड़िये। आपका वर्धा तो छोटा कस्बा है। वहाँ पूज्य बापू और सन्तपुरुषों का निवास स्थान है। आज तक वहाँ रात के १२-२ बजे तक भी कोई स्त्री बेखटके घूम सकती थी। थोड़े ही दिन की बात है। सिनेमा-घर के पास से दो बालिग भाई बहन जाते थे। वहाँ

कुछ गुण्डे बैठे थे। उन्होंने इन दोनों को घेर लिया और बहन को भगा ले जाने का प्रयत्न किया। बड़ी कोशिश के बाद उस बहन को गुंडों के पंजे से छुड़ाया जा सका।

शहरों में तो आज लूटना, खून करना, बैंक तोड़ना, रास्ते चलते लोगों को लूट लेना, लड़कियों को भगा ले जाना और उनको बेचना—यह सब बहादुरी का काम माना जाता है। कालेज और स्कूलों में पढ़नेवाले लड़के-लड़कियों का सिनेमा के कारण इतना पतन हो गया है कि आज तो ये जगहें पाठशाला के बजाय प्रेमशाला बन गयी हैं और सन्तति-नियमन की दवाइयाँ ढेरों से बिकती हैं, इसलिए छिपा व्यभिचार भी चलता ही होगा। जिस अवस्था में विद्यार्थियों को ज्ञान संपादन करना चाहिये, चरित्र निर्माण करना चाहिये, शरीर को बलवान और तेजस्वी बनाना चाहिये, उस अवस्था में ये कुसंस्कार उनमें जमते हैं, यह कितने दुःख की बात है।

भारत में भुखमरी का पार नहीं है, बेकारी फैली हुई है और गरीबों को अपना पेट पालने के लिए बच्चे तक बेच देने पड़ते हैं। मध्यम वर्ग को अपना गुजर चलाने के लिए अपनी बहनों और पत्नियों को कुटनखानों में भेजना पड़ता है। जब कि दूसरी तरफ सिनेमा के टिकट नहीं मिलते। नये-नये सिनेमा घर बनते ही जाते हैं। लाखों रुपये उनके पीछे बरबाद होते हैं। आज गवर्नरों और मन्त्रियों के वेतनों के खिलाफ शोरगुल मचाया जाता है, लेकिन उनसे भी कई गुना ज्यादा वेतन सिनेमा में काम करनेवाले अभिनेता-अभिनेत्रियों को दिया जाता है और उसका उपयोग भोग-विलास, व्यभिचार, जुए और शराब में होता है। अब समाज की स्थिति यह हो गयी है कि घर में चाहे खाने को न हो, लेकिन सिनेमा देखे बिना नहीं चलता। मेरे मन में यह सवाल उठा करता है कि क्या राष्ट्रपति और मन्त्रियों के वेतन ही करदाताओं की जेबों से निकलते हैं, और यह सारा पैसा बाहर से आता है? या ज्यादा ऊँचे कार्य के लिए खर्चा जाता है?

एक तरफ हिन्दू धर्म अपनी संस्कृति का ढिंढोरा पीटता रहता है, महापुरुषों का गुणगान करता रहता है, उनकी पूजा करता है, जब कि दूसरी तरफ विष्णु, राम, कृष्ण, बुद्ध, नारद वगैरह पवित्र पुरुषों की सिनेमा में हँसी उड़ायी जाती है। इन पवित्र पुरुषों का अभिनय करने वाले एक्टर शराबी, व्यभिचारी सब कुछ होते हैं। एक तरफ भारत महासती अनुसूया, सीता, सावित्री और पार्वती के कारण गर्व का अनुभव करता है, और अपनी बहिन-बेटियों को वैसा बनाने का आदर्श सामने रखता है। दूसरी तरफ इन महासतियों का अभिनय करनेवाली नटी सिनेमा की तरह ही समाज में भी थोड़े-थोड़े दिनों के बाद नये-नये पति खोजती है और वेश्याओं से भी नीच काम करने में नहीं हिचकिचाती। हिन्दू समाज को इससे जरा भी आघात नहीं लगता, उलटे वह आनन्द और गर्व का अनुभव करता है! उनके पीछे लाखों रुपये बिगाड़ता है। नौजवान इन अभिनेत्रियों के पीछे पागल हो जाते हैं, घरों में उनके चित्र सजाते हैं और उनकी पूजा करते हैं।

'कुछ लोग सिनेमा से होनेवाले फायदों का वर्णन करके उसका बचाव करते हैं। लेकिन आज एक भी चित्र ऐसा नहीं होता, जिसमें प्रेम और वह भी बहुत निचले स्तर का प्रेम न दिखाया गया हो। गलती से एकाध दूसरे प्रकार का चित्र बन गया, तो वह सफल नहीं होता और निर्माता को नुकसान उठाना पड़ता है। उससे समाज को कितना फायदा होता होगा यह तो भगवान जानें!

शिक्षाशास्त्री तथा सन्तपुरुष सिनेमा को धिक्कारते हैं, उसमें शरीक न होने के लिए समझाते हैं और सज्जन लोगों को उसमें काम न करने से रोकते भी हैं। लेकिन दो घड़ी मजा लूटने के खातिर वे भी सिनेमा देखना नहीं चूकते। दूसरी तरफ आज भारत की प्रजा का चरित्र-निर्माण तो सिनेमा, नाटक, रेडियो वगैरह से ही हो रहा है। दिनोंदिन इन चीजों की वृद्धि भी हो रही है। एक ओर तो खूब विलास की सामग्री मुहैया

करें और दूसरी ओर संयम की शिक्षा दें, तो उससे क्या लाभ होगा? या तो इस अनीति के धाम सिनेमा को बन्द कर देना चाहिए या शिक्षाशास्त्री, सन्तपुरुषों वगैरह चरित्रवान लोगों को उस पर अधिकार करके उसमें उचित परिवर्तन करना चाहिए।

प्राचीन संस्कृति का अभिमान रखनेवाले भारत के नरनारी आज से यह प्रतिज्ञा लें कि न तो हम सिनेमा में भाग लेंगे, न उसपर पैसे खर्च करेंगे। साथ ही उसके खिलाफ जोरदार आन्दोलन भी चलाना चाहिए।

इन भाई से मैंने पूछा कि 'आप ऐसी कोई प्रतिज्ञा लेने के बाद यह लिखते हैं या दूसरों को उपदेश देने के खातिर ही लिखते हैं? उन्होंने कहा कि 'हम दोनों पति-पत्नी ने यह प्रतिज्ञा की है कि एक साल तक तो सिनेमा हरगिज नहीं देखेंगे। इसके बाद ही यह लिखने की हिम्मत की है। हमारे मित्र भी आपस में इस विषय पर चर्चा और सलाह-मशविरा कर रहे हैं। हमने एक वर्ष की मियाद तो हिम्मत न होने के कारण ही बाँधी है। हमारी इच्छा तो यह है कि जब तक सिनेमा सात्विक न हो जाय, तब तक उसका त्याग किया जाय। यह जानकर मुझे खुशी हुई और यह लेख मैंने छपने के लिए पास किया।

प्रेम की अपूर्व झलक

[ले० "एक निर्वासित प्रेजुएट"]

[इस सुन्दर लेख के कुशल लेखक ने सामाजिक कुरीतियों तथा युवक-युवतियों पर समाज के द्वारा होने वाले अत्याचारों का जो स्वाभाविक चित्रण किया है वह एक बार जी दहला देने वाला है। हमें पूर्ण विश्वास है कि, इसे अधिकांश पाठक-पाठिकाएँ बहुत पसन्द करेंगी।

—सम्पादक]

So after farewell said, fond memories,
Of words and looks, the sweetest come again,
Across the glowing heart, a veil of pain,
Love can not die, for memories golden chain,
Doth link our hearts until we meet again.
—SOME GOOD SOUL

जल-प्रवाह में बहते हुए दो तिनके जिस प्रकार मिल जाते हैं, और मिलकर बिछुड़ जाते हैं, उसी प्रकार जीवन-स्रोत में हम दोनों मिले और बिछुड़ भी गए। हाँ, बिछुड़ने में कुछ भेद अवश्य था। वह यह कि, वे इस तमसावृत्त जीवन-सागर में प्रवाहित न होकर, उसके अन्तस्तल में छुप गए! फिर संसार उन्हें न देख सका! और मैं? उस अनन्त प्रवाह में अब भी प्रवाहित हो रही हूँ!

मैं अपने भाई से मिलने लाहौर गई थी। मेरे भाई उस समय डी० ए० बी० कालेज की एम० ए० श्रेणी में पढ़ते थे। वे उनके मित्र और साथी थे। भाई के मुँह से उनकी बड़ी प्रशंसा सुनी थी, पर देखने का अवसर अभी तक न मिला था।

जाड़े के दिन थे और अमावस्या की रात। आठ बजे मैं होस्टल में पहुँची। वे भाई के कमरे में बैठे हुए उनसे बातें कर रहे थे। उनके महातेजस्वी शरीर पर गेरुए रंग की चादर थी। कितना भव्य ललाट, सुन्दर गठन और मनमोहिनी छबि थी!

यह पहला मिलन था। इस मिलन ने मेरे सारे संयम को तोड़ दिया। बहुत दिनों की भक्ति, पूजा, संयम और विवेक के साधनों से अपने को जिस बाँध में बाँध रक्खे थी, उसे प्रणय-स्रोत ने अपने प्रबल प्रवाह से क्षण भर में तोड़ दिया। उस दिन से परमात्मा की गरिमा जो विश्व-रूप में देखती थी, वह एक व्यक्तिगत रूप में देखने लगी। यह एक भयङ्कर परिवर्तन था, पर था सृष्टि की सारी मनोहरता से भरा हुआ। मेरे हृदय में नई उत्कण्ठा, नई आशा, नया उल्लास, नई उमङ्ग, नई भक्ति, नई पूजा

और नई आराधना के कोमल बीज उगने लगे। यद्यपि आज बहुत अंशों में उस आशा, उल्लास एवँ उमङ्ग के बीज-तन्तु नष्ट कर दिए गए हैं, तथापि अभी तक मेरी आराधना, मेरी भक्ति तथा मेरी पूजा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। उनकी प्रतिमा हृदय-लोक में आज भी उसी प्रकार स्थापित है, जैसे कि पहले।

दो दिनों तक लाहौर में रही। कुछ अच्छा न लगता था। कहीं भ्रमण करने की इच्छा नहीं होती थी। किसी कार्य में चित्त नहीं लगता था। हाँ, केवल उस एक ही वस्तु में ध्यान था, जहाँ कि सूर्य का सारा तेज, चन्द्रमा की सारी शीतलता, पृथ्वी का सारा सौन्दर्य, विश्व का सारा उत्कर्ष और सृष्टि का सारा आकर्षण एक ही स्थान में एक आश्चर्यजनक एवं अवर्णनीय रूप में एकत्रित था! धीरे-धीरे जाने का समय हो गया। मैं प्रातःकाल स्टेशन को रवाना हुई। पहुँचाने के लिए मेरे भाई तथा वे भी आए थे। वे बार-बार मेरी ओर देखते थे। उनकी दृष्टि में आकर्षण था, पर साथ ही भय और संकोच भी था। अन्त में ट्रेन खुल गई। हम दोनों एक दूसरे को तब तक देखते रहे जब तक आँखों की ओट से दूर न हुए।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा। मेरा मन अब विद्यालय में न लगता था। पुस्तकों को जब खोलती तो अक्षर के स्थान पर उनका मनोहर मुख-मण्डल दीख पड़ता। इस प्रकार विस्मृति की अवस्था में घण्टों तक रहती। कभी कभी छात्रावास की सहेलियाँ आकर मुझे चौकन्ना कर देती थीं। रात-दिन, सोते-जागते, हर समय उनका ही स्मरण रहता। अपने हृदय-मन्दिर में उनके स्थान को भाव, भक्ति एवं आराधना के नित्य नए नए साजों से सजाती। वियोग के समय उनका चितवन स्मरण कर प्रफुल्लित हो जाती। इस प्रकार उनकी पूजा-अर्चना में बहुत ही आनन्द मिलता। पर जीवन-वृक्ष की जिस शाखा में यह प्रेम-पुष्प विकसित हो अपने अनुपम सौरभ से सुरभित हो रहा था, उसी में निराशा और विषाद

की एक भयानक नागिन साथ ही लिपटी हुई थी ! जिस प्रेम-पुष्प को मैं अपने हृदयोद्यान में प्रणयवारि से सींच रही थी, उसे छूने का मुझे कोई अधिकार न था ! न्याय और सचाई के कारण नहीं—अत्याचार के कारण, हिन्दू-समाज के पाशविक अत्याचार के कारण, हिन्दू-समाज के राक्षसी कृत्यों के कारण और उन कुत्सित प्रथाओं के कारण जिनको धारण करने में आज का हिन्दू समाज अपना अभिमान समझ कर रसातल को जा रहा है ! मैं एक हिन्दू-विधवा थी और विधवा होने की हैसियत से मेरा अपने समाज में कोई स्थान न था ! हिन्दू-समाज के सामने अपने कोमल भाव, जीवन-मरण से सम्बन्ध रखने वाले अपने नाज़ुक विचारों को उपस्थित करना भी उसके स्वेच्छाचारपूर्ण शासन में, घोर उद्दण्डता, महान् पतन और जघन्य अपराध था । हिन्दू समाज में सब पापों का प्रायश्चित है, पर इसका कोई नहीं । और यदि है भी तो यही कि, अपने प्यारे धर्म से, अपने पूर्वजों के पवित्र विचारों से और अपने राक्षस-सम्बन्धियों के भयानक सहवास से, एक लालसामयी उत्कण्ठा को हृदय में छिपा कर सर्वदा के लिए विदा हो जाना ! पर इसका परिणाम ? अप्राकृतिक धर्म और अनैसर्गिक समाज, जहाँ कि, धर्म और आचार का कुछ मूल्य ही नहीं, जीवन-पर्यन्त नरक की भयानक अग्नि से जलते रहना ! वे मुझे नहीं मिल सकते थे ! इसलिए नहीं कि, वे मुझे प्यार नहीं करते थे, वरन् इसलिए कि समाज में रहकर उसकी कठोर आज्ञा का उलंघन करना नितान्त असम्भव था । समाज में रह कर मेरा उनका साथ नहीं हो सकता था, क्योंकि लोग मुझे विधवा कहते थे । मैं स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं जानती, क्योंकि मुझे यह भी स्मरण नहीं कि, मेरी शादी कब हुई ! हाँ, इतना अवश्य है कि, पर्व-त्योहार के दिन अथवा विवाह-शादी आदि शुभ मुहूर्त में मुझे अपनी कोठरी में इसलिए बन्द होकर रहना पड़ता था कि, मैं विधवा थी और इसलिए मेरी उपस्थिति अशुभ और अमङ्गल-सूचक थी !

धीरे-धीरे दिन बीतने लगे। गर्मियों में उनका कॉलेज बन्द हो रहा था। वे घर जाने की तैयारी कर रहे थे। मेरे भाई कुछ कार्यवश स्वयं लाहौर नहीं छोड़ सकते थे, अतएव उन्होंने उनके द्वारा ही मेरे लिए कुछ सामान भेजा, क्योंकि मेरे विद्यालय का नगर उनके रास्ते में पड़ता था। वे उस सामान के साथ मेरे यहाँ आए। प्रधानाध्यापिका के द्वारा मुझे बुलवा कर मुझ से भेंट की। उन्हें देखकर मेरे आनन्द का ठिकाना न रहा। उनसे मैंने दो दिन ठहरने के लिए प्रार्थना की और उन्होंने इसे सहर्ष स्वीकार भी कर लिया। वे छात्रावास के अतिति-भवन में ठहराए गए।

आठ बजे रात को मैं उनका भोजन लेकर अतिथि-भवन में गई। वे चारपाई पर लेटे हुए कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। वहाँ दूसरा कोई भी व्यक्ति नहीं था। मुझे देखकर वे मुसकुराते हुए उठकर बैठ गए। कुछ देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं। उसके पश्चात् मैंने उनसे भोजन करने की प्रार्थना की। उन्होंने मुझे भी भोजन करने का संकेत किया। मैंने कहा—'मैं नहीं खाती।' उत्तर मिला, 'मैं भी नहीं खाता।' मैं बड़े संकट में पड़ी। यदि साथ भोजन करूँ तो लज्जा और सङ्कोच के मारे हृदय-स्पन्दन होने लगता और यदि नहीं करती तो वे भी ऐसे ही रह जाते। इसी विचार में पड़ी ही थी कि, उन्होंने मेरा कर-स्पर्श कर भोजन करने को कहा। स्पर्श मात्र से मेरे रग-रग, नस-नस में बिजली दौड़ गई! मेरे हृदय का तार एक अत्यन्त कोमल, मधुर, अनियन्त्रित, परन्तु पवित्र मिलन के भाव से बज उठा! मनोवांछा की सञ्चित कलियाँ खिल उठीं और मानस-पट पर न जाने कैसा-कैसा तूफान बहने लगा! मैं मन्त्र-मुग्ध सर्प की नाँई बैठ गई। मन में आया हाथ स्पर्श करने का कारण पूछूँ। बोलने के लिए यत्न किया, पर बोल न सकी। संकोच, जिह्वा को धर दबाता था। लज्जा, वाणी को परमाणु मार्ग से नहीं जाने देती थी। पर, फिर भी बहुत देर तक अविरत परिश्रम करने पर मुँह से निकल गया—'आपने मेरी बाँह क्यों पकड़ी?'

उत्तर मिला—'मुझे जान पड़ा किसी अलौकिक शक्ति ने तुम्हारे कर को बलात् मेरे कर में दे दिया।'

मैंने कहा—'इसका तात्पर्य ?'

उत्तर मिला—'जीवन-दान !'

मैंने पूछा—'क्या आप मेरी बाँह पकड़ने की लाज जीवन भर निभायेंगे ?'

उत्तर मिला—'कदाचित् दूसरे जीवन में भी।'

मैंने कहा—'तो भगवान की संरक्षता में आपका मेरा धार्मिक विवाह हो रहा है।' (इतने में मैंने एक सुन्दर पुष्प-हार, जो कि मैं उन्हें भेंट देने के लिए लाई थी, उनके गले में डाल दिया।)

उत्तर मिला—'हाँ, आर्य-देवता हमारे साक्षी हैं।'

मैंने फिर पूछा—'इसका परिणाम ?'

उत्तर मिला—'उद्योग, साहस, आत्म-समर्पण, सुख, विस्मृति !'

मैंने कहा—'नहीं; विपत्ति, दुःख, निराशा, अकर्मण्यता और विष-मय जीवन !'

इस पर उन्होंने कहा—'यदि सचाई और न्याय के लिए तुम्हारे साथ मुझे यह भोगना भी पड़े तो उसमें सुख और महान् सुख है !'

अपने भावों को और न सँभाल सकी। मेरे नेत्रों में न जाने दुःख अथवा आनन्द के आँसू आ गए। मैं उनके चरणों में गिर गई! उस उपयुक्त स्थान पर जहाँ कि स्त्रियों का स्वर्ग है, मेरा उनसे आत्म-समर्पण था! आह! वह मेरे सुहाग का मिलन-मन्दिर था जहाँ कि, मैंने प्रत्यक्ष रूप में उनको अपनी हृदयांजलि अर्पण की थी। उन कोमल चरणों में, उस मिलन-मन्दिर के भीतर, उस आत्म-समर्पण की वेदी पर मुझे जान पड़ा कि, मेरे हृदय में पवित्रता, त्याग और प्रणय की एक नूतन और अविचल शक्ति का आविर्भाव हुआ, और हुआ उस कोमल नवीनता

का आविर्भाव, जिसने मेरे जीवन-प्रवाह को शुष्क विरक्ति से हटा कर सरल उपासना के अनन्त साम्राज्य में प्रवाहित कर दिया !

* * *

सुख के दिन बहुत शीघ्र समाप्त हो जाते हैं। दो दिनों की अवधि मिनटों में समाप्त हो गई। उनके प्रस्थान करने का समय आ गया। मेरा हृदय काँप उठा ! मेरी आँखें भर आईं। मन में न जाने क्या-क्या होने लगा ! सोचने लगी, उनका वियोग कैसे सह सकूँगी, पर कोई चारा नहीं था। वे जाने के लिए तैयार हो गए। उनका विचार हरिद्वार, हृषिकेश इत्यादि स्थानों को देखकर घर जाने का था। मैंने उनसे प्रार्थना की कि, पर्य्यटन-काल तक मुझे भी अपने साथ रक्खें, पर उन्होंने इधर-उधर की बातें कर टाल दिया। अन्त में मैंने उनकी चरण-रज ली और वे विदा हो गए। छात्रावास से मैं बड़ी देर तक उन्हें देखती रही, और वे भी फिर-फिर कर मुझे देखते जाते थे। इसके पश्चात् वे आँखों से ओझल हो गए और मैं अपने हृदय पर पत्थर की एक भारी चट्टान रख कर अपने कमरे में लौट आई। इस समय वियोग, दुख, निराशा और संतोष के अतिरिक्त मेरा साथ देने वाला दूसरा कोई भी न था !

* * *

उनको प्रस्थान किए सात दिन हो गए थे। मैं अपने कमरे में बैठ कर उनका ध्यान कर रही थी। इतने में मैट्रन ने आकर मुझे एक पत्र दिया। मैट्रन के जाने पर मैंने उसको अपने हृदय से लगा लिया। फिर सावधानी से खोलकर पढ़ने लगी। पत्र इस प्रकार था:—

हृषिकेश,

—आधी रात

जीवनेश्वरी,

प्रेम-मिलन

आधी रात का समय है। चन्द्र-देव पृथ्वी पर अपनी ज्योत्सनामयी

शीतल किरणों की वर्षा कर रहे हैं। प्रकृति नीरव, शान्त तथा निस्तब्ध है। ऐसे समय में, मैं एक तिमञ्जिले मकान की छत पर बैठा हुआ यह पत्र तुम्हें लिख रहा हूँ।

यह स्थान वास्तव में बड़ा ही विचित्र है। पर्वतीय उपत्यका में वृक्षों का सघन कुंज, पहाड़ी झरनों का नैसर्गिक सौन्दर्य, जाह्नवी की अद्‌भुत आभा और उन सब पर सुधांशु की मधुर मुसकान सचमुच ही हृदय के अन्तस्तल में शान्ति एवं शीतलता का प्रसार कर देती हैं; पर मुझ जैसे अभागे के हृदय में, जिस कल्पनातीत कमनीयता, वासनारहित पवित्रता तथा अलौकिक सौन्दर्य के लिए हाहाकार मचा है; उसे कौन शान्त कर सकेगा ?

जिस समय मैं उन अद्‌भुत घटनाओं की पवित्र स्मृति को, जिसने हमलोगों के दो पृथक् जीवन-प्रवाहों को एक ही धारा में मिला दिया, मन में लाता हूँ तो मुझे जान पड़ता है कि, मैं वास्तविकता से दूर—किसी स्वप्न-प्रदेश में विचर रहा हूँ। आह ! देवी, तू कितनी पवित्र, कितनी मनोहर और इस लिए मुझ जैसे साधारण मनुष्य की पहुँच के लिए कितनी दुर्गम है ! जब मैं अपने सम्बन्ध में विचार करने लगता हूँ, मुझे इस बात का सन्देह हो जाता है कि, तुम्हारे योग्य इस जीवन में कभी हो सकूँगा ! फिर भी जिस प्रकार दरिद्र को कुबेर के ध्यान करने का पूर्ण अधिकार है उसी प्रकार मुझे भी इस बात का पूर्ण अधिकार है कि तुम्हारे चिन्तन में अपने हृदय को प्रणय रंग से रँग दूँ। मानवी तन में स्वर्गीय देवी ! तुम्हारे पवित्र मिलन के पहले मेरा जीवन कैसा शून्य था, पर तुमने इसे संगीतमय बना दिया है !

यहाँ मन नहीं लगता। घर जा रहा हूँ। वहाँ भी कुछ ऐसी ही गति होगी, पर दूसरा कोई चारा नहीं। आज प्रातःकाल यह स्थान छोड़ दूँगा। अभी बहुत चंचल हो रहा हूँ। फिर तुम्हारा पत्र पाने पर लिखूँगा। अब विदा दो। तुमसे पृथक् होकर परम पिता परमात्मा की शरण में—

तुम्हारा,
—जीवन का साथी

जे०,

रात, दो बजे

जीवन-धन,

सप्रेम नमस्ते

आपका प्रेम-पत्र मिला। आह! उसमें मेरे लिए कितना जीवन और कितनी शक्ति थी! आज सारे दिन उसे पढ़ती रही और इस समय तक मुझे उसके प्रत्येक शब्द कण्ठाग्र हो गए हैं!

रजनी के इस नीरव समय में जब कि, सब बालिकाएँ अपने-अपने कमरे में सुख की नींद सो रही हैं, मैं आपके पास यह पत्र लिख रही हूँ। आराध्य-देव! आपकी आराधना का, आपके काल्पनिक मिलन का प्रणय-योग के द्वारा आपके स्मृति-प्रदेश में समाधि लगाने का और आपके वियोग के सन्ताप को अक्षर-रूप में प्रकट करने का यही उपयुक्त अवसर है, क्योंकि इस समय चित्तवृत्तियाँ विशेष रूप से स्थिर, शान्त और एकाग्र रहती हैं।

प्राणनाथ! आपने अपने पत्र में प्रकृति का जो मनोहर चित्र खींचा है, वह आज से कुछ दिन पहले, कदाचित् आपके दर्शन के पूर्व, सचमुच ही मेरे हृदय में एक नई लालसा की सृष्टि कर देता, पर आज वह ऐसा करने से सर्वदा अयोग्य और शक्ति-हीन है। आप ही कहें कि, जिसका मानस-पट प्रति क्षण उस अलौकिक सौन्दर्य का क्रीड़ास्थल हो जो कि प्रकृति की सारी मनोहरता, संसार के सारे माधुर्य और मन की सारी मोहकता का उद्भव-स्थान है—भला, ऐसी अवस्था में आपके मनोहर चित्रण का उस पर कुछ भी प्रभाव पड़ेगा?

आपने लिखा है—"जिस समय उस अद्भुत घटना की पवित्र स्मृति को जिसने हम दोनों के दो पृथक् जीवन-प्रवाहों........मुझे सन्देह हो जाता है। मैं तुम्हारे योग्य इस जीवन में कभी हो सकूँगा!" आराध्य-देव, मेरा आपके साथ इसी जन्म का नहीं, बरन् पिछले जीवन का भी

आध्यात्मिक सम्बन्ध है—और कौन कह सकता है कि इस अनादि जीवन की अनन्त तरंगों में हमारी आत्माओं की सन्धि लाखों बार न हुई हो ? नहीं तो प्रियतम, क्या एक ही क्षण में, अचानक ही, बिना कुछ सोचे-समझे, तर्क की सीमा मे परे—भाव-साम्राज्य में आकर, मैं अपने को आप ही आप इस प्रकार खो देती ?

जब से आपने यह स्थान छोड़ा है, मेरी कैसी दशा हुई यह कैसे कहूँ ? मैं उसे अनुभव अवश्य करती हूँ, पर व्यक्त नहीं कर सकती। हृदय की उस कारुणिक अवस्था का चित्रण करने में लेखनी जवाब दे रही है। मैं लिखना चाहती हूँ, लिखना आरम्भ भी कर देती हूँ, पर भाव पर भावों की लहरें इस प्रकार आती हैं कि, उनको एक शृङ्खला में रखने की कौन कहे, मैं स्वयं ही शृङ्खला-रहित होकर उनमें बह जाती हूँ। आह प्रियतम, मुझे इस बात का पता नहीं था कि, आपके वियोग में मेरा हृदय इस प्रकार तिमिराच्छन्न होगा !

आपका फोटो जो आपने जाते समय मुझे उपहार-स्वरूप दिया था, सामने टेबुल पर पड़ा है। मैं प्रत्येक शब्द लिखने पर उसे एक बार देख लेती हूँ और देख लेने पर अपने हृदय की वेदना दूर कर लेती हूँ। यह कितना मधुर, मनोहर, शीतल और आशा-पूर्ण है, पर आपका वियोग ! उसे स्मरण करते ही हृदय मसोस उठता है, आँखें भर आती हैं तथा चित्त निराश, सन्ताप और विकलता की भयानक अग्नि में जलने लगता है ! क्या मैं इसे सह सकूँगी !

प्राणेश ! संसार में मैंने बहुत दुख उठाया है। दुख के लगातार प्रबल आघातों ने मेरे हृदय को कुछ हद तक मजबूत कर दिया है, पर यह सब होते हुए भी मैं नारी हूँ और इसलिए स्वाभाविक ही दुर्बल, भीरु और कायर हूँ। हृदय-गगन में विरह के काले और भयङ्कर बादल उमड़ आते हैं। मैं डर के मारे सहम जाती हूँ। छिपने का कोई स्थान नहीं ! पर हाँ, इतने में विद्युत् चमक उठती है ! आशा-ज्योति का सञ्चार हो

जाता है ! आपका विशाल हृदय ! आह ! प्रियतम उसके एक सुनसान कोने में मुझे छिप जाने दो। उस अनन्त हृदय में, उस असीम महत्ता में, उस अपरिमित सौन्दर्य-राशि में मुझे एक बार, दो बार, तीन बार और सहस्र बार—नहीं सदा के लिए, अनन्त काल के लिए विलीन हो जाने दो ! बस, मैं और कुछ नहीं चाहती !!

विस्तार भय से अधिक नहीं लिखती। आशा है, आप इस समय तक घर पहुँच कर माता जी के स्नेह-पूर्ण वात्सल्य का आस्वादन करते होंगे। परीक्षा के कितने दिन हैं ? आपकी तैयारी कैसी है ? परीक्षोत्तीर्ण होने पर क्या करने का विचार है ? मेरी हार्दिक इच्छा है कि, आपको किसी बड़े पद पर देखूँ। आह ! मुझे, आपको धन-प्रतिष्ठा और उपाधि की ख्याति में देखकर कितना आनन्द होगा !

आपकी,
—कुसुम कुमारी

हरिनगर,
१२ बजे दिन

विश्व-विटप की सर्वोत्तम कली,

प्रेम

भोजनोपरान्त अपने कमरे में विश्राम कर रहा था कि, तुम्हारा पत्र नलिनी ने दिया। नलिनी चार, पाँच वर्ष की अवस्था का मेरा भतीजा है। मोटा, हृष्ट-पुष्ट, गौरवर्ण, हँसमुख और स्वभावतया नटखटी है। आज उसने पत्र पाकर मुझे दिखलाया और पुरस्कार-स्वरूप पाँच रुपये माँगे। उसकी माँ ने उसे प्रेम-पूर्वक दुतकार कर कहा, 'चल हट, कौन कहे कि, तूने इन्हें चाची का पत्र दिया है जो इनाम की शेखी बघारता है।' पर, वह कब मानने लगा। तुर्रा तो यह कि, भाँति-भाँति की अच्छी चीजों का बहाना करने पर भी वह नहीं टला और उसकी माँ के भाँति-

भाँति के विरोध होने पर भी मैंने उसे पाँच रुपये दे दिए। उसने रुपये अपनी जेब में रख लिए और आनन्द से नाचते-नाचते बाहर चला गया। उसका नाचना कितना अच्छा मालूम होता था !

तुम्हारा पत्र तुम्हारे भोलेपन, तुम्हारी सादगी, तुम्हारे सुकोमल-माधुर्य और वियोग-पथ में आक्रान्त पथिक के हृदयोद्गार का अद्भुत चित्रण है। मैं इसे पढ़ता हूँ और पढ़-पढ़कर तुम्हारे पवित्र-हृदय के विशाल लोक में प्रवेश करता हूँ। वहाँ जाकर मुझे आश्चर्यचकित होना पड़ता है ! आह ! वह लोक कितना रम्य, कितना मनोहर, कितना मधुर और कितना आशा-पूर्ण है ! उसमें दुख, सन्ताप, विरह, निराशा, भय और सन्देह का कोई स्थान नहीं। वहाँ तो आनन्द की सुहावनी सरिता में केवल विस्मृति का ही साम्राज्य है ! वहाँ शोक, सन्ताप, वियोग-व्यथा सब कुछ एक ही साथ भूल जाते हैं, और भूल जाती हैं सारी मानवी-वासनायें जो मनुष्य को अत्यन्त प्रबल वेग से अतृप्ति की ओर अग्रसर करती हैं।

प्रियतमे, रमणी-हृदय कितना पवित्र, कितना सुन्दर और कितना महान् है ! तुमने लिखा है कि, यह दुर्बल, भीरु और कायर है। पर, क्या इस दुर्बलता में एक ऐसी शक्ति, एक ऐसा चमत्कार, एक ऐसी नवीनता और एक ऐसा जीवन नहीं छिपा है जो इस शुष्क जगत् में प्रणय-रञ्जित सरसता लाकर, मनुष्य के ऊसर हृदय को एक लहलहाते पुष्पोद्यान में परिणत कर दे ? क्या इस भीरुता में एक ऐसा तेज नहीं जो पत्थर को मोम एवं भयङ्कर कठोरता को मंजु कोमलता में परिणत कर दे ? क्या इस कायरता में एक ऐसा निरालापन नहीं जो महा भीरु हृदय को भी साहस-पूर्ण कर उसे आत्मोत्सर्ग और बलिदान की पराकाष्ठा पर पहुँचा दे ? यदि ये बातें सम्भव हैं तो रमणी-हृदय में दुर्बलता, भीरुता और कायरता का स्थान ही कहाँ रहा ?

आह देवी, तुम इस सुनसान, अँधेरे और मेघाच्छन्न हृदय के एक

कोने में छिपना चाहती हो ! इस भग्न-हृदय के लिए इससे बढ़कर भाग्य की और क्या बात होगी ? आओ, देवी आओ, एक ही बार नहीं, सर्वदा के लिए, अनन्त काल के लिए आओ, और इस तिमिराच्छन्न प्रदेश को एक अलौकिक आलोक से आलोकित करो। यही मेरी कामना है ! यही मेरी वासना है ! मैं पृथ्वी के सारे सुखों को इसके लिए हँसते-हँसते तिलांजलि दे दूँगा ! ओह ! मुझ में यदि शक्ति होती तो, अपने हृदय को विदीर्ण कर उसमें तुम्हें सर्वदा के लिए रख लेता !

मेरी परीक्षा छुट्टियों के पश्चात् बहुत शीघ्र होगी। मैं उसकी अच्छी तैयारी कर रहा हूँ, और विशेष कर इस उत्साह से कि, तुम उसके शुभ फल के लिए अभी से उत्सुक हो। डिगरी लेकर पता नहीं क्या करूँगा, पर नौकरी, धन, उपाधि और प्रतिष्ठा के स्वप्न मुझ से बहुत दूर हैं। हाय, तीन करोड़ विधवा-बहिनों के करुणक्रन्दन, सात करोड़ अभागे हिन्दुओं के प्रति अपने को बड़े और उच्च कहने वाले नर-पिशाच हिन्दुओं का भयानक अत्याचार, पाशविक भर्त्सना और राक्षसी बर्ताव देखकर, मेरा चित्त अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति, सुख, उपाधि और प्रतिष्ठा से कोसों दूर हो जाता है और इन आत्माओं की सेवा में सर्वस्व निछावर करना ही अपनी महानता समझता है ! मुझे मनुष्य के प्रति मनुष्य के अत्याचार की भावनाओं के साथ युद्ध करना है और युद्ध करना है उस एक शक्तिशाली प्रवाह के साथ जो मेरे जीवन में पद-पद पर कठिनाई, दुख, निर्धनता और निराशा ला देगा। यह पथ दुर्गम है, कठिन है, भयङ्कर है, और है सारी निराशाओं से भरा हुआ ! पर, फिर भी मुझे इनकी चिन्ता नहीं। तुम्हारा मधुर सहवास मेरे पथ को सुगम, रम्य, कोमल और आशापूर्ण करेगा। तुम्हारा योग पाकर मैं अपने जीवन की सारी कठिनाइयाँ भूलकर कर्त्तव्य-पथ पर अचल रहूँगा। मेरी आत्मा कहती है कि, मङ्गलमय भगवान सर्वदा मेरी सहायता करेंगे। यह उनका पवित्र कार्य है और इस कारण इसके पालन में मेरे साथ उनकी महान् शक्ति रहेगी।

नलिनी पुनः मेरे कमरे में पिताजी का सन्देश लेकर चिल्लाता आ रहा है। पिताजी ने किसी आवश्यक कार्य के लिए मुझे बुलाया है। कदाचित् वे अभी बाहर जाने वाले हैं, अतः इस पत्र को यहीं समाप्त करता हूँ।

मेरा चित्त सर्वदा खिन्न रहता है। तुम्हारे पत्र से मुझे बहुत ही सन्तोष होता है, अतएव पत्र पाते ही उत्तर दे दिया करो। अपना समाचार विस्तार-पूर्वक लिखना।

तुम्हारा अभिन्न,
"—वही"

जे०—
संध्या ४ बजे

प्राणनाथ,

प्रेम-मिलन

आपका पत्र अभी मिला। मैं उसे जितना ही अधिक पढ़ती हूँ उतनी ही मेरी अतृप्ति बढ़ने लगती है। पर, फिर भी आज्ञा हुई है कि, पत्र पाते ही उत्तर लिखूँ, अतः आपकी आज्ञा का पालन कर रही हूँ। अहा! आपकी आज्ञा शिरोधार्य करने में कितना सुख है!

जीवन-धन! आपके सामने मेरा हृदय कितना दुर्बल हो जाता है, मैं व्यक्त नहीं कर सकती। आपका प्रत्येक शब्द मेरे हृदय में भाव का तूफान मचा देता है। आपका प्रत्येक सम्बोधन मेरी मनःशक्ति के लाखों प्रयत्नों को विफल बना देता है और मैं अपनी जीवन-नौका को आपके प्रणय-प्रवाह के अवलम्ब पर बहती हुई पाती हूँ। चाहे वह उसे किनारे लगा दे अथवा डुबो कर उसका नाश कर दे। आह! इतनी थोड़ी अवधि में आप ने मुझ पर इतना अधिक अधिकार जमा लिया है कि, मैं अब बिलकुल अपनी नहीं रह सकी! मन ही मन आप पर तो सब वस्तु निछावर कर

ही दी थी, पर अब अपने विचारों पर भी अधिकार न रहा, इसीलिए कहती हूँ कि, आपका प्रत्येक सम्बोधन मेरी मनःशक्ति के लाखों विचार-रूपी प्रयत्नों को विफल कर देते हैं। क्या यह उन्माद की अवस्था है? यदि हो, तो बहुत ही अच्छा है। कवि के भावमय शब्दों में—

There is a pleasure sure,
In being mad,
Which none but mad can know

अर्थात्, उन्माद में भी अवश्य ही एक आनन्द है जिसे उन्मत्त ही जान सकते हैं, दूसरे नहीं। बस, मैं यही चाहती हूँ। मुझे इसी में आनन्द है!

इन्हीं बिगड़े दिमाग़ों में घनी ख़ुशियों के लच्छे हैं।
हमें पागल ही रहने दो, कि हम पागल ही अच्छे हैं॥

यदि उन्माद की अवस्था में ही आप मुझे मिलते हैं तो मैं स्वर्ग लेकर क्या करूँगी? पर हृदयेश्वर, क्या आप उन्मादिनी को चाहेंगे? जब मैं यह सोचती हूँ कि, कहीं आप मुझे भूल न जायँ तब मेरी अवस्था कितनी आश्रयहीन और भयंकर हो जाती है! मैं डर के मारे अपनी आँखें बन्द कर, कल्पना के आधार से आपके हृदय में छिप जाती हूँ। ओह! मेरी विपत्ति में आपके विशाल हृदय के अतिरिक्त मेरा दूसरा कौन सहारा है?

मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है, "क्या मैं आपकी दासी होने योग्य हूँ?" उत्तर मिलता है—"नहीं!" आह! आप समाज के एक उज्वल रत्न हैं और मैं उसकी ठुकराई हुई ठिकरी! आप समाज-बाटिका के एक अत्यन्त सुरभित पुष्प हैं और मैं उसका एक काँटा! फिर मैं आपके योग्य क्योंकर हो सकूँगी? फिर मैं आपको अपना किस भाँति बना सकूँगी? नाथ! यह मेरे दुखद जीवन के प्रश्नों का एक महान् प्रश्न है जिसे आपको ही हल करना पड़ेगा! मैं तो इसे स्मरण करते ही बेसुध हो जाती हूँ, मुझे रोमाञ्च हो जाता है और मेरे हृदय पर एक विशाल-

काय चट्टान अड़ जाती है। निराशा के काले बादल मेरी आँखों से गुजर जाते हैं और सन्देह की कर्कश ध्वनि मेरे हृदय को कम्पायमान कर देती है। मैं कोई सहारा न पा आपके अनन्त साम्राज्य में छिप जाती हूँ। वहाँ मैं एक अद्भुत दृश्य देखने लगती हूँ। जिस प्रकार बूँद नदी में मिलकर नदी ही हो जाती है, उसी प्रकार मैं अपना अस्तित्व प्रियतम में विलीन कर स्वयं 'प्रियतम' बन जाती हूँ! फिर मैं भी आपकी ही तरह अनन्त हो जाती हूँ! आह! नाथ, आपने मुझे अनन्त बना दिया है! यह आपकी पवित्र इच्छा है! मेरा हृदय इस समय भर आया है! मालूम होता है, मानों इसके अन्तःप्रदेश में एक स्वर्गीय संगीत की तरंग आती है और आकर मुझे तृप्ति की उच्चतम शिखर पर पहुँचा देती है! पर प्रभो, आप ही कहें, क्या यह उन्माद नहीं है?

आपने लिखा है, "दो करोड़ विधवा-बहिनों का करुण-क्रन्दन…… ………अपनी महानता समझता है।" इसे पढ़कर मेरे हृदय में भावों की एक क्रान्ति हो जाती है। मुझे अभिमान हो जाता है कि, मेरे हृदय पर डाँका देनेवाला असाधारण डाकू, दीना-हीना, पीड़िता, अभागी बहिनों की सर्द आहों में अपना आँसू बहानेवाला है। मुझे यह जानकर गौरव प्रतीत होता है कि, मेरे हृदयका सम्राट् आर्त्तजनों एवं सन्तप्त हृदयों का बड़ा सम्राट् है। मैं आपकी भुवनमोहनी शारीरिक छवि में छिपा हुआ आपके हृदय का अलौकिक सौन्दर्य पाती हूँ और पाकर इस निर्णय पर पहुँचती हूँ कि, आप मनुष्य के रूप में साक्षात् देवता हैं। आह प्रियतम, फिर किस अपराध से आप इस पृथ्वी पर लाए गए? इस तुच्छ संसार में जहाँ ईर्ष्या, द्वेष, वैर और घृणा की ज्वाला धधक रही है, इस कृत्रिम जगत् में जहाँ मत्सर, अभिमान, असाम्य और स्वार्थ-लोलुपता की भयावनी कालिमा चारों ओर छा रही है, आपका जन्म क्योंकर हुआ? क्या प्रणय-वारि से इस दग्ध संसार को शीतल करने के लिए, अथवा अपनी जीवन-ज्योति से

इसके भयङ्कर तिमिर का शमन करने के लिए ? यदि ऐसा है तो हे स्वर्गीय दूत ! पहले यहाँ आना—इस पापिनी के हृदय में, संसार की सारी ज्वाला, संसार का सारा अन्धकार, एक ही साथ, एक ही समय, एक ही अवस्था में मिश्रित होकर एकत्रित है ! पहले उनका नाश करो—परन्तु नहीं, कुछ देर ठहरो—सोच विचार कर आना, पूरी सावधानी से आना, सतर्कता की सीमा के भीतर ही होकर आना—नहीं, वरन् तुम्हारा न आना ही श्रेयस्कर होगा—कदाचित् तुम्हारी कोमलता इस भयङ्कर ज्वाला को न सह सके—कदाचित् तुम्हारी स्वर्गीय ज्योति इस कालिमा में मलिन न पड़ जाय—फिर मैं अपने कारण क्या तुम्हें कष्ट दे सकूँगी ? क्या मैं अपने सुखों के लिए तुम्हें दुखी कर सकूँगी ? नहीं, कभी नहीं। अतः इस सीमा में, ताप और तिमिर के इस अपरिमित साम्राज्य में तुम्हारा न आना ही श्रेयस्कर होगा। अच्छा, यहाँ मत आओ। मेरे व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए भी तुम्हारा दूर रहना ही अच्छा है ! आह ! स्वर्गीय प्रसून, देखो तुम्हारा अपार सौरभ मुझे उन्मादिनी बना रहा है ! परन्तु फिर तुम क्यों आ रहे हो ? मेरी स्मृति-सरिता में तरङ्गों का रूप धारण कर इसे डाँवाडोल करने क्यों आ रहे हो ? मुझे शान्त रहने दो, अन्यथा उपासना-पथ में चूक जाऊँगी ! तुम्हारा आगमन मेरी एकाग्रता को विस्मृति में डुबो देता है। हाय ! यदि मैं स्मृति ही खो बैठी तो आराधना की आरती कैसे उतार सकूँगी ? इसी लिए कहती हूँ कि, नाथ ! मेरे व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए भी तुम्हारा दूर रहना ही उत्तम है।

सन्ध्या हो रही है। बालिकाएँ मुझे वायु-सेवन करने के लिए तङ्ग कर रही हैं। कोई कोई तो—'मधुर पत्र'—'किसी प्रणय-पात्र के पास' आदि शब्दों से मेरी हँसी उड़ा रही हैं। कोई आकर मेरे बन्द दरवाजे पर दो चार धक्के लगा देती हैं। कोई मुझे 'बहुत बड़ी लेखिका हो गई है—देखना कहीं कालिदास की आत्मा स्वर्ग में तड़प न उठे'—कह कर

गालियाँ दे रही हैं। अतः इस समय पत्र समाप्त करना ही अच्छा होगा।
अच्छा विदा, प्रियतम, इस समय तुम्हारी मञ्जुल स्मृति से विदा—

आपकी,

—उन्मादिनी कुसुम

पुनश्च—नाथ, आज भाव-प्रवाह में आकर मैंने क्या क्या कर दिया? क्या मुझे ऐसा करना चाहिए था? क्या मुझे आपको भला 'तुम' कहना चाहिए था? फिर भी मैं हृदय के उमड़ते हुए प्रवाह को रोकने के बजाय उसमें बह चली! मैं बेकस हो गई थी, अपने में नहीं। इसी कारण भूल हो गई। हाय, मेरा जन्म भी तो किसी भारी चूक से ही हुआ है! अतः मुझे क्षमा करें। मुझे एक अबोध बालिका समझ कर क्षमा करें। आराध्य-देव, मैं बुराइयों की खान हूँ, मैं दुर्बलताओं का भण्डार हूँ। पर, फिर भी मैं आपकी ही हूँ, और इसलिए आप मुझे दुर्बल, बुरा और हेय समझ कर ही अपने में छिपा लें। मैं संसार की आग में जलती हूँ। नाथ, मुझे इससे बचा लें! बस, मैं आपको ही चाहती हूँ, केवल आपको ही और आपके पुनीत प्रेम को! बस और कुछ नहीं। पत्रोत्तर की बाट जोह रही हूँ।

हरिनगर

—१२ बजे रात

मेरे जीवन की सारी विभूति,

प्रेम

निराशा! घोर निराशा!! क्या प्रणय का कोमल अङ्कुर निष्ठुरता के इस भयानक वज्रपात को सह सकेगा? क्या आशा की कोमल कली सन्देह की इस सन्तप्त-अग्नि को सह सकेगी? क्या प्रणय-प्रदेश का आजीवन बन्दी अपनी एक ही चिर-सञ्चित मनोवाञ्छा की प्रतीक्षा—असह्य, विषम, दारुण एवँ सारी वेदनाओं से पूर्ण प्रतीक्षा के इस शूल को

सह सकेगा ? यदि नहीं, तो मैं, जिसके जीवन का सारा सुख तुम्हारे एक तनिक आशापूर्ण सङ्केत पर ही निर्भर है, तुम्हारी इस निस्तब्धता को किस प्रकार सह सकूँगा ! इस समय जब कि भिन्न-भिन्न दिशाओं से भाँति-भाँति की जटिल समस्याएँ आकर मेरे शान्त चित्त को विक्षिप्त कर देती हैं, तुम मौन हो और मेरे पत्र का उत्तर तक नहीं देती। क्या यह निष्ठुरता नहीं ? पर उफ् ! अशान्त हृदय ने, विक्षिप्त मस्तिष्क ने और उन्माद की सारी सम्भव चित्तवृत्तियों ने तुम्हें निष्ठुर कहला दिया, इस अपराध के लिए मैं तुमसे क्षमा माँगता हूँ, तुम्हारी निष्ठुरता में भी एक कोमल रमणीयता है, तुमसे निर्वासित किए जाने में भी एक महान् उत्सर्ग है और तुम्हारे प्रणय-पथ-जनित निराशाओं में भी एक अद्भुत शान्ति, विचित्र उल्लास एवँ अनुपम आत्म-तृप्ति है ! निराशा की घोर तपोमयी तमिस्रा में ही आशा-ज्योति दीख पड़ती है। यह सम्भव है कि इस जीवन में उसका उद्भव न हो और हम उसके अक्षय आलोक से सर्वथा वञ्चित रहें, फिर भी इस जीवन-यात्रा के पश्चात्, निराशापूर्ण पथ की समाप्ति के पश्चात् केवल आशा ही—सुधामयी, सङ्गीतमयी, विरागमयी, सुहाग-मयी, सुखमयी, विस्मृतिमयी आशा—और अनन्त, अभेद्य एवँ अवि-च्छिन्न आशा...और कुछ भी नहीं...इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं...! आह ! देवी, तुम्हारा पथ कितना अच्छा, कितना मंगलप्रद और कितना राग-रहित अनुरागों से भरा हुआ है ! कवि के भावमय शब्दों में:—

पतित हो जो तुम्हारी राह में, उसको बड़ा सुख है !
पतित हो जो नहीं इसमें, उसे सचमुच बड़ा सुख है !!

तुम्हारी पवित्रता के पथ में, तुम्हारी एकता के स्वर्गीय संगीत में, और [illegible] की मनोवांछित सिद्धि में—यदि पथिक पतित हो [illegible] वैभव, प्रतिष्ठा, धन, कीर्त्ति से पतित भी हो जाय, [illegible] उचित दृष्टि में पतित भी हो जाय तो भी उसे सुख है ! इस सांसारिक पतन में वह एक महान् आध्यात्मिक उत्थान का अनुभव करता है, और अनुभव करता है एक अदम्य उत्साह और अपार

शक्ति का, जो कि उसके अन्धकारपूर्ण जीवन-पथ में भविष्य सफलता का आभास देती है ! कदाचित् विरह-वेदना से व्याकुल, हृदय की व्यथा से सिसकता हुआ और पतित समाज के अपमानों से पद-दलित पथिक, इस जीवन में अपने सिद्धि-मार्ग से वंचित रह भी जाय, फिर भी वह अपने छोटे हृदय में छिपे हुए एक विशाल विश्व के भीतर, निरन्तर एक रहस्यमय संकेत पाता है—'पथिक अपने पवित्र पथ में आगे बढ़ते रहो, अन्त में "विजय-श्री" तुम्हारे चरणों में लोटेगी !' वह पवित्र संकेत, वह रहस्यपूर्ण भावना, वह अतुल शक्ति-वर्द्धिनी प्रेरणा और प्रणय-वारि से परिप्लावित वह आशा-प्रसून कितना भव्य, कितना सुन्दर, कितना स्वाभाविक और कितना सौरभ-सम्पन्न है—यह तो प्रणय-पथ में पतित होने का सुख है और जो इसमें पतित न होकर सफलता से विभूषित हो, उसका ? उसका तो पूछना ही क्या ? वह तो सुख की कल्पना से परे, विभूति की सीमा से बहुत आगे और कल्पना की कल्पना से महत्, विशाल, अगम और अथाह है !

कुसुम, हृदयेश्वरी, तुम ओषधीश की शीतल शुभ्र ज्योत्स्ना हो, और मैं निराशा के अत्यन्त भयानक रोग से कुशित, सन्देह की विषम ज्वाला में जलता हूँ। तुम मिलन-सुख की कल्पना की मधुर मुसुकान हो और मैं वियोग-पथ-जनित दारुण वेदना के नीचे पिस रहा हूँ। तुम एकता की शान्ति, सरस, उपासनामयी दिव्य ज्योति हो और मैं चित्त की अविरल अशान्तियों का अन्धकार हूँ ? फिर तुम और मैं ? आह, परन्तु नहीं, मैं वह ज्वाला हूँ, जिसके द्वारा तुम्हारी शीतलता का अनुभव होता है; मैं वेदना का वह यन्त्र हूँ, जिसके द्वारा तुम्हारी सुख-कल्पना की मधुर मुसुकान का माप होता है ! मैं और वह अन्धकार हूँ, जिसके द्वारा तुम्हारी विमल ज्योति की सुन्दर विचित्रता परखी जा सकती है ! पर, फिर भी मेरी बुद्धि चकरा रही है, मेरा मस्तिष्क नाच रहा है और मेरी छाती धड़कने लगती है। फिर वही प्रश्न सामने आ जाता है। 'क्या

तुम मुझपर क्रुद्ध हो ?' हाय, तुम्हारे क्रोध का भयानक सन्देह ! पर क्यों ? मेरी दुर्बलता पर, मेरी अव्यवस्थित चित्तता पर अथवा मेरी अशान्तियों पर ? उफ ! किसके लिए ? मुझे दोषी करार कर दण्ड देने के लिए ? मुझे बन्दीगृह भेजने के लिए, मुझे आजीवन निर्वासित कर देने के लिए अथवा मेरा अस्तित्व मिटा देने के लिए ? अच्छा सभी के लिए सही ? यदि यही तुम्हारी पुनीत इच्छा है तो मैं इसी में आत्म-समर्पण करता हूँ। लो, स्वामिनी लो ! हृदयेश्वरी, मेरी सारी स्वतन्त्रता ले लो ! प्राण-वल्लभे, मेरी सारी विभूति छीन लो और मुझे अपने प्रणय के मनो-भावने कुंज में सदा के लिए बन्दी कर दो ! मुझसे मानवी दुर्बलताएँ हटाकर पाप के संसार से मुझे आजीवन निर्वासित कर दो और मेरे अहम्भाव के अस्तित्व, स्वार्थ के अस्तित्व और सारी मानवी दुर्बलताओं के अस्तित्व को नष्ट कर अपनी पवित्रता की स्वच्छन्द सरिता में अनन्त-काल के लिए अन्तर्हित कर लो ! मैं तुम्हारा आभारी होऊँगा ! मैं तुम्हारा ऋणी होऊँगा और भगवान् ही जाने क्या-क्या होऊँगा ? यदि अपना रहा तभी तो सब कुछ होऊँगा अथवा न आभारी, न ऋणी और कुछ भी नहीं......!

तुम्हारा पत्र अभी तक न मिला, इस कारण मेरा चित्त अत्यन्त खिन्न है। हृदय बावला हो रहा है। यदि मुझसे कोई अपराध हो गया हो तो क्षमा करना। कम से कम इसी नाते—'भला हूँ या बुरा हूँ, मैं तुम्हारा हूँ !'

इस चंचल चित्त में संसार की सारी आर्त्त-वेदनाएँ आकर कोलाहल मचा देती हैं। उद्विग्नता की यह अवस्था जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तब एक शान्ति-साम्राज्य दीख पड़ता है। वहाँ निस्तब्धता और एकान्त निस्तब्धता ही है ! मैं उसमें जाता हूँ और जब उसके अन्तःपुर के गूढ़ रहस्यों के भीतर जाने लगता हूँ तो एक वही स्वर्गीय संगीत, जो कि अन्धकार, प्रकाश, कोलाहल और निस्तब्धता—सब पर

ही अपनी मोहिनी जादू का छाप एक भाव से, एक रंग से, विषमता और पक्षपात से रहित होकर, लगा देता है। कुसुम, क्या वह तुम्हारा हृदय-मन्दिर है ! क्या वह तुम्हारा अन्तःपुर है ! यदि है तो मुझे भी वहाँ बुला लो। इसके बदले मैं अपना सारा जीवन और उससे भी बढ़कर अपने सारे जीवन का अविच्छिन्न प्रेम दूँगा। आह मेरी उपासना की भव्य मूर्ति !

तुम्हारा वही—

जिसे तुमने मूर्ति-पूजक बना दिया है

जे०—

रात १० बजे

प्राण-वल्लभ,

प्रणय का कोमल उत्सर्ग

आपके दोनों पत्र यथासमय मिले। भिन्न-भिन्न उलझनों ने मुझे भी अव्यवस्थित-चित्त बना दिया था, इस कारण उत्तर देने में देरी हुई। मेरी इस असावधानी के कारण आपको जितना कष्ट हुआ होगा, उसे मैं जानती हूँ और उसके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ, पर आराध्यदेव, मेरे जीवन में असंख्य घटनाएँ ऐसी घटेंगी, जिनके कारण आपको बहुत कष्ट सहने होंगे। यदि पत्र में दो-चार दिनों के विलम्ब से आपकी ऐसी अवस्था हो गई तो जिस समय आपको मेरी निस्सारता का वास्तविक परिचय होगा, उस समय भगवान ही जानें, आपकी क्या दशा होगी ! मेरे मन में बार-बार यह संकल्प उठता है और उठ-उठकर मुझे एक रहस्यमय अन्धकार में विलीन कर देता है। प्रियतम, आपने जिस क्षुद्रादपिक्षुद्र वस्तु का, अपनी आत्मा की महान पवित्रता से प्रेरित होकर, अपनी भावुकता और विशाल हृदयता से एक सुन्दर भवन निर्माण किया है, यदि वह बालू की भीत ठहरे तो आप पर कैसी बीतेगी ! प्रियतम, जिस हलाहल

को आपने अपनी गरल-विनाशिनी शक्ति के द्वारा सुधा की शीतल सरिता की मनोहारिणी कल्पना से रंजित कर दिया है, यदि वह किसी अशुभ अवसर के सहारे आपकी सुखमयी कल्पना को सचमुच ही विषमयी निराशा में बदल दें तो आपके हृदय पर कितनी भयानक नागिन लोटने लगेगी! ओह! वह ज्वाला! इस अपूर्ण और दोषारिक्त रमणी-हृदय की वह ज्वाला! इस विषमय, वासनामय, स्वार्थमय और न जाने किन-किन अवगुणों से पूर्ण स्त्री-जीवन की वह ज्वाला, आपकी काल्पनिक नरकाग्नि से बहुत ही अधिक भयंकर, तापपूर्ण और विध्वन्सकारिणी होगी! यह प्रश्न मुझे आपकी विरह-वेदना से उत्पन्न उन्माद से भी अधिक उन्मत्त बना देता है, और मैं आपके कारण अपने लिए और अपने कारण आपके लिए यह कहने पर लाचार हो जाती हूँ—'मेरे सर्वस्व, मेरे प्रियतम, मेरे मधुर, मनोहर और कोमल स्वामी, आप इस निष्ठुर, भयानक, तापपूर्ण और ज्वालामय प्रेम के पन्थ से लौट जाँय, अन्यथा मेरी वासना की इस विदग्धकारी, अमंगलमयी सर्व-संहारिणी स्फुलिंग लपकों के कठोर स्पर्श से आपकी कोमल आशा-लतिका झुलस जावेगी और परिणाम की भयंकरता में आपको पश्चात्ताप—और केवल एक भयंकर पश्चात्ताप—ही हाथ लगेगा!'

प्राणनाथ! आपने लिखा है—'कुसुम तुम ओषधीश की शीतल शुभ्र ज्योत्स्ना हो......तुम मिलन-सुख की कल्पना की मधुर मुसुकान हो......तुम एकता की सरस उपासनामयी दिव्य ज्योति हो'। पर, यदि आप मुझमें ओषधीश की शीतल शुभ्र ज्योत्स्ना के स्थान में ताप के लहकते अग्नि-कण, मिलन-सुख की कल्पना की मधुर मुसुकान के स्थान में वियोग-जनित सन्ताप के अट्टहास की प्रतिध्वनि और एकता की सरस उपासनामयी दिव्य ज्योति के स्थान में पृथक्ता की काली कालिमा का दृश्य देखें तो आप पर कैसी बीतेगी और आप उसे किस प्रकार सह सकेंगे! निस्तब्धता के अन्तःकरण में प्रवेश कर आप जिस मधुर संगीत

को सुन मेरे हृदय-मन्दिर और मेरे अन्तःपुर की कल्पना करते हैं, वह केवल रमणी हृदय की मरीचिका है, जो कि आपको निराशा, दुःख और सन्ताप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दे सकती ! परसों मुझे भी फूल का एक पत्र मिला। उसमें उसने मेरे हृदय के कोमल तारों को आत्मोत्सर्ग और त्याग की गम्भीर ध्वनि में बज उठने की याचना की है। वह मुझसे अपने जीवन-पथ की सफलता के लिए मेरी सहायता चाहती है। वह लिखती है—"मैं उनका और तुम्हारा सम्बन्ध बहुत अंशों में जानती हूँ। मैं यह भी जानती हूँ कि वे तुम्हारा तनिक भी इशारा पाकर अपना सब कुछ निछावर कर सकते हैं। उनके हृदय में तुम्हारा जो स्थान है, वह मुझसे छिपा नहीं है। उन्होंने स्वयं ही लिखा है—'आपसे जो उनके रक्त हैं, मेरा चिर-सम्बन्ध मेरे लिए अत्यन्त भाग्य और सुख की बात होती......पर, मैं अब अपना नहीं रह गया हूँ और मुझे अपने शरीर, अपनी आत्मा और अपने मन पर अपना कोई अधिकार न रहा। सृष्टि के सारे पवित्र भावों के नाम पर मैं आप से निवेदन करना चाहता हूँ कि जो मूर्त्ति मेरे हृदय में स्थापित है, उसमें मैं परमात्मा की सारी पूर्णता और सारा सौन्दर्य पाता हूँ, और भली-भाँति अनुभव करता हूँ कि उससे रहित होकर मैं अपवित्र, कृत्रिम, हेय, और कहीं का भी नहीं रह जाऊँगा। इस परिस्थिति में मेरे साथ आपका जीवन एक दारुण व्यथा और विषम ज्वाला के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह जावेगा।' मुझे यह भली-भाँति विदित है कि उनके हृदय की स्थापित मूर्त्ति तुम और केवल तुम ही हो। यह केवल मुझे ही नहीं, वरन् माता-पिता, भ्राता जी और परिवार के अन्य व्यक्तियों को भी पता है। इस अवस्था में मैं तुम्हारी याचना करने आई हूँ। बालकपन से ही तुम मुझे अपने से अधिक प्यार करती हो। मेरी तनिक सिर-पीड़ा से, मेरी तनिक खिन्नता से ही तुम्हारा हृदय इतना व्याकुल हो जाता था, पर आज यदि तुम्हारी सहायता के बिना मेरा सारा जीवन भस्म होकर नष्ट हो जाय, यदि आज तुम्हारे

उत्सर्ग से रहित होकर मेरी आशा का आलोकमय मार्ग, निराशा के तमसावृत्त पथ में परिणत हो जाय तो क्या तुम उसे सह सकोगी ? मैं तुम्हारे सम्मुख सदा तुम्हारी 'नन्हीं फूल' ही रही हूँ और आज भी जब की उसी 'नन्हीं फूल' की कल्पना से अपनी स्वाभाविक लज्जा दूर कर प्रणय-पथ में तुम्हारे द्वार पर उनकी याचना करने आई हूँ, क्या तुम अपनी 'नन्हीं फूल' के लिए अपना सर्वस्व त्याग सकोगी ?............इत्यादि ।

पहिले तो मुझे यह पढ़कर बड़ा विस्मय हुआ। मैंने यह सोचा यह अत्यन्त गम्भीर, भोली-भाली, सीधी, सरला, सर्वगुणसम्पन्ना फूल क्या सचमुच इस प्रकार हलकी हो गई है ! मैं कुछ देर तक इस प्रश्न पर ध्यानपूर्वक सोचती रही । मुझे मालूम हुआ कि यह उसकी स्वाभाविकता नहीं, वरन् प्रेम के अनियन्त्रित प्रवाह की प्रतिक्रिया है । हाय ! रमणी हृदय की सारी शक्ति, उसके सारे संयम, उसकी सारी गम्भीरता और अपने भावों के छिपाने की उसकी सारी तत्परता का महा शक्तिशाली बाँध प्रेम-प्रवाह के एक तनिक झोंके से ही किस प्रकार टूट कर नष्ट हो जाता है ? और यदि वह बाँध एक बार टूट गया तो फिर रमणी का व्यक्तित्व रहा ही कहाँ ! वह उस प्रवाह की अपरिमितता में सर्वदा के लिए विलीन हो जाती है और फिर संसार उसके अस्तित्व को प्रणय के अस्तित्व से पृथक् नहीं कर सकता ! फूल की भी कुछ यहीं दशा है ! उसका ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्त्तन ! पर यह सब किसने किया ! आपके सौन्दर्य ने ? उसके हृदय ने ? नहीं, प्रकृति ने, नैसर्गिकता ने और सृष्टि के सब कारणों के एक मात्र कारण परमपिता परमात्मा ने !

इस समय मेरे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते हैं । मेरे सम्मुख इस समय दो पथ हैं । एक प्रणय में अपने को विलीन कर सुखमय हो जाना और दूसरा त्याग एवँ सेवा-व्रत की कठिन परीक्षा में अपनी अन्तरात्मा को शुद्ध और पवित्र करना । एक अपनी आत्मा के मंगल के लिए, अपनी आत्मा का सच्चा स्वरूप देखने के लिए अभी से ही आप से मिल

जाना और दूसरा फूल के सुन्दर और सौरभित विकास के लिए अपने इस सुख का निछावर करना। प्रथम में सुख, आह्लाद और विस्मृति का प्राधान्य है और दूसरे में शान्ति, सन्तोष और तृप्ति की विशेषता है! पहला भाव मार्ग है और दूसरा साधन मार्ग! पहला मार्ग अनुरक्ति का है और दूसरा है विरक्ति का! पहला अनुभव है और दूसरा संयम एवं साधना। पहला सुन्दर एवं मधुर है और दूसरा है महान् तथा विशाल! यदि पहले मार्ग पर चलती हूँ तो अपने को आप में आरम्भ से अन्त तक पाती हूँ और यदि दूसरे पथ पर चलती हूँ तो आपका आरम्भिक वियोग मुझे अन्त में आपके साथ अनन्त बन्धन में बाँध देता है! पहले मार्ग में आपके मनोहर मिलन का अकाल्पनिक सुख है और दूसरे में परहित-व्रत से अपनी आत्मा की अनन्त तृप्ति। फिर क्या अपने सारे सुखों के लिए भी परहित-व्रत से पृथक् हो, अपनी सारी आत्म-तृप्तियों से वञ्चित होकर फूल के फूलमय जीवन को नष्ट कर दूँ? नहीं प्रियतम, मुझसे ऐसा नहीं हो सकता! मैं अपने सारे सांसारिक सुख के लिए एक कोमल कली की दारुण व्यथा नहीं देख सकती! मैं अपनी सारी मनोभावनी कल्पना के आभ्रत-विकास की मञ्जुल भावनाओं के लिए एक सद्यः प्रस्फुटित प्रसून को प्रणय के सुखद आवद्ध से हटा, निराशा की प्रज्वलित चिता में झूम झूम कर नष्ट नहीं होने दे सकती! फूल, कुसुम से महान, सुन्दर, पवित्र और सर्वगुण-सम्पन्न है! फूल मनोहर है! फूल सुख है! फूल कल्पना है! और फूल है, प्रेम-कल्पना की सारी ऐश्वर्यमयी विभूति? मैं उसकी बाँदी के बराबर भी नहीं। वह आपकी हित-साधना के निमित्त मुझसे कहीं अधिक योग्य पात्र है! वह आपके जीवन को मुझ से अधिक सुखमय बनाएगी! उसके पथ में समाज और संसार की कोई अड़चन आपकी शान्ति को भंग करने नहीं आएगी। मुझे तो फूल के प्रणय-मार्ग में अपने सारे सुखों का बलिदान करना ही एक अनन्त सुख और अपरिमित आत्म-तृप्ति है!

यह तो रही मेरे सम्बन्ध की बात और आपके सम्बन्ध की। स्वामी मुझमें साहस दीजिए, मुझमें बल दीजिए! मेरी भावनाओं से अपना उग्र चितवन हटा कर मुझे स्पष्ट और निस्संकोच बना, मुझको अभयदान दीजिए। आप ...कैसे कहूँ ? मेरा सारा निश्चय किसी अज्ञात व्यक्तित्व की अजेय साधना में विलीन हो जाती है और मेरे निखिल संकल्प के सम्मुख किसी आकुल उत्कण्ठा की रहस्यमय ग्रन्थियाँ बिखर जाती हैं! उफ! मेरी दुर्बलता! पर फिर भी मैं अबला हूँ......मैं आपका क्रोध नहीं सह सकूँगी। मुझे दुर्बल और मूर्ख समझ; मेरी सुखमयी आशा को पूर्ण कीजिए। आप फूल को अपना लीजिए, इसी में हमारा कल्याण है। वह आपके जीवन को अत्यन्त सुखमय बनावेगी... ...। मुझ पर विश्वास कीजिए—फूल सौरभमयी है और कुसुम काँटों से भरी हुई। फूल सुन्दर शुद्ध, पवित्र और वासनारहित है और कुसुम भ्रष्टा, पतिता, कुल-कलंकिनी और कालिमापूर्ण! फूल स्निग्धता है और कुसुम ताप! फूल आशा का प्रफुल्लित संगीत है और कुसुम निराशा की हृदयोच्चाटन प्रताड़ना! फूल का स्पर्श जीवन, सुधामय, पवित्र और सुख की सारी कल्पना है और कुसुम का? ठीक विपरीत, मृत्यु, ग्लानि, हलाहल और यन्त्रणा की सारी उन्मत्त भावना! मैं केवल अपने सुखों के लिए नहीं, आपके सुखों के निमित्त और इस कारण अपनी तृप्ति और सुख के लिए भी आपसे यही प्रार्थना करूँगी कि आप इस शुभ अवसर को हाथ से न खो दें। फूल को अपने जीवन सर्वस्व के मञ्जुल स्पर्श में—अलौकिक फूल को अपने उपमाविहीन स्वामी के करबद्ध में देखकर मेरा हृदय कितना प्रफुल्लित हो जावेगा! उस समय मैं अपने जीवन के सारे दुखों को किस प्रकार भूल जाऊँगी! नाथ। आपको मेरे प्रेम की लाखों शपथ है कि आप मेरी इस लालसा को पूरी कीजिए। आपसे आज तक मैंने अपने लिए कोई भी याचना नहीं की है। यह मेरी पहली भिक्षा है। हाय! फूल के जीवन-पथ की रमणीयता में, निराशा का व्यंग अट्टहास्य मैं कभी भी

नहीं देख सकती ! वह मेरी सहोदरी है, वह मेरा रक्त है, वह मेरी सर्वस्व है और कम से कम मेरे नाते, मेरी स्मृति के नाते, मेरे रक्त के नाते आप उसको अपने जीवन-नाटक की सङ्गिनी बना लें। कर्त्तव्य की कठोर उपासना में—मेरे अच्छे स्वामी,

आपकी

—अभिन्न कुसुम

हरिनगर

५ बजे, सन्ध्या

जीवनेश्वरी,

वियोग की आकुल उत्कण्ठा

एक युग की असह्य प्रतीक्षा के बाद तुम्हारा पत्र आज मिला। मालूम हुआ, एक भूली हुई वस्तु जिसके लिए मेरा हृदय निरन्तर अश्रु बहा रहा था, मिल गई। अन्धे को आँख पाने पर जैसा आनन्द होता है, ठीक मेरी भी वही अवस्था हुई। मेरी उपासना की सारी सिद्धि, मेरी विरक्ति की सारी विभूति, मेरे प्रणय की सारी मंजुलता, आह ! हृदयेश्वरी ! तुमसे रहित होकर मैं किस प्रकार निरर्थक और निस्तेज हो जाता हूँ !

बहुत देर तक तुम्हारा पत्र नहीं पढ़ा। भय के कारण ! न जाने मेरा हृदय क्यों धड़क रहा था ! मेरा चित्त कुछ दिनों से किसी भावी विपत्ति का आभास पाकर एक अविरत प्रवाह से रोदन करने लगता है ! मैं स्वयं ही इसका कारण नहीं समझ सकता। मैं अपनी मानसिक गति की इस विभ्रमावस्था की व्याख्या करने से असमर्थ हूँ। तुम्हारा अनुपम तेज अपने भीतर रखते हुए भी मैं इस बात का अनुभव करता हूँ कि मेरा भविष्य-जीवन किसी रहस्यमयी शक्ति की अटल प्रेरणा से एक आलोकहीन प्रान्त में आकर्षित होता जा रहा है, और फिर भी तुम मेरी पथ-प्रदर्शिका हो ! तुम मेरी होकर भी मेरी नहीं हो और मेरी नहीं होकर भी मेरी ही हो ! यह अशकुन का व्यूह है ! यह किसी भावी विपत्ति के अस्तित्व से

उत्पन्न मानव-हृदय की सारी दुर्बलताओं का विकार है। आह! इस असहाय अवस्था में प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह जाता। परमात्मा में अटल विश्वास, उसकी प्रार्थना, उसके सम्मुख अपने दुखों के बोझ से नत होकर उसकी आराधना करना कितनी अच्छी वस्तु है। संसार-सागर में डूबते हुए मनुष्य को प्रार्थना से बढ़कर सुखद, मनोहर, शान्तिमयी और सन्तोष एवं तृप्ति देने वाली कोई भी दूसरी वस्तु नहीं! प्रार्थना मनुष्य-जीवन के सारे तत्वों का प्रधान तत्व है और इससे रहित होकर मनुष्य-जीवन संसार के तनिक आवेग से ही अत्यन्त अधिक विचलित हो जाता है!

अन्त में तुम्हारा पत्र पढ़ा। उसमें मेरे हृदय की धीमी-धीमी सुलगती हुई अग्नि को प्रज्वलित करने की पर्याप्त सामग्री थी! मैं संज्ञाहीन हो गया! मुझ में सत्य और असत्य के निर्णय की चेतना न रही! विस्मय—भयङ्कर विस्मय के विभ्रान्त-लोक में मेरे तर्क अनन्त ज्वार की उत्थित तरङ्गों का रूप धारण कर आन्दोलित हो रहे थे और इस प्रकार निराशा के शून्य तट पर, शून्य संघर्ष के साथ शून्य लोक में निस्तब्ध भाव से विलीन हो जाते थे! हाय! तुम्हारी इस मनोहर कान्ति में चण्डिका की भयावनी क्रीड़ा! क्या तुम से मुझे सचमुच यही आशा थी! आह! जिस कोमल पुष्प को अपने हृदय से लगा कर अपनी सारी यन्त्रणाओं की औषधि बनाने की लालसा की थी और जिसमें अपनी सारी संचित लालसाओं को केन्द्रीभूत कर रक्खा था, वह अचानक एक अत्यन्त कठोर पत्थर निकला! क्या कुसुम के शान्त, गम्भीर, सुहावने और सर्वगुणालंकृत विकास में विषाद, दुख एवं सन्ताप का इतना बड़ा साम्राज्य छिपा है!

तुमने लिखा है—'मैं अपने सारे सांसारिक सुख के लिए एक कोमल कली की दारुण व्यथा नहीं देख सकती। मैं अपनी सारी मनोभावनी कल्पना के जाग्रत विकास की मंजुल-भावनाओं के लिए एक सद्यः प्रस्फुटित प्रसून को प्रणय के सुखद आबद्ध से हटा कर निराशा की

प्रज्वलित चिता में झुम-झुम कर नष्ट नहीं होने दे सकती।' आह! कुसुम, स्वर्गीय दूत, तुम्हारे महान् हृदय में दया और उत्सर्ग का कितना पवित्र आदर्श है! मैं त्याग और दया के नाम पर तुम्हारे सामने नतमस्तक हो रहा हूँ! पर! क्या उसे पूछने का साहस करूँ? वह एक भयङ्कर स्पष्ट-वादिता है! कदाचित् तुम्हारे कोमल हृदय में उससे कोई आघात पहुँचे, परन्तु फिर भी उसका जानना ही श्रेयस्कर है। तुम उसे अवश्य सुनो। उसका जानना मेरे लिए ही नहीं, वरन् तुम्हारी अत्यन्त प्यारी फूल के कल्याण की दृष्टि से भी अच्छा है। यदि तुम अपने सांसारिक सुख के लिए एक कोमल कली की दारुण व्यथा नहीं सह सकती तो क्या उस कोमल कली के सुख के निमित्त एक निर्दोष अंकुर को जिसे कि तुमने अपने प्रणय-वारि से सींचकर आज तक बड़ा किया है, समूल नष्ट कर सकती हो? क्या यह सम्भव है कि उस कोमल कली के तनिक संकेत से ही दया और उत्सर्ग के पवित्र नाम पर उस अंकुर के सारे कोमल विचारों को ठुकरा कर उसे नरक की महावह्नि में अनन्त-काल के लिए आहुति कर दो? क्या तुम्हारा अत्यन्त उदार हृदय तुम्हें इस बात का आदेश करता है कि उस अंकुर के सर्वनाश की वेदी पर अपनी अत्यन्त प्यारी कोमल कली के सुख की नींव निर्माण करो? आह! बेचारा अंकुर तुम्हारे उन्मादकारी प्रणयपथ में कितना निर्दोष है। हाँ, यदि उससे कोई दोष हुआ है तो यही कि वह जीवन-पथ में भटकता हुआ एक आत्मा में परमात्मा की ललित कला का अनुपम चमत्कार देख, उस पर निछावर हो गया। वह लाखों प्रयत्न करने पर भी अपने को उस आकर्षण से पृथक् न कर सका और अन्त में निराश होकर अपने जीवन को—अपने जीवन की सारी शक्ति को—अपने जीवन के सारे संयम को और साथ ही साथ अपने जीवन की सारी दुर्बलता को भी, उसमें—सृष्टि के उस अद्‌भुत, अनुपम, अद्वितीय और अनिर्वचनीय रूप-राशि में निछावर कर दिया। क्या अपने को दूसरों पर निछावर करना, अपनी सारी लालसाओं का

प्रेम-पथ में बलिदान कर देना, अपने सारे सुखों का प्रणय-वेदी पर आहुति कर देना अपराध है ? और यदि हो भी तो क्या इस अपराध के बदले इसे आजीवन नरक के वीभत्सपूर्ण कन्दरे में निर्वासित कर देना उचित और न्यायपूर्ण दण्ड होगा ? हाय ! इतना भयानक ! अच्छा, यह भी सही, यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो यह भी सही। निछावर और उत्सर्ग का पुरस्कार सर्वनाश और प्रेम-साम्राज्य से आजीवन निर्वासन ! प्रणय के इतिहास में यह एक नया आविष्कार है ! फिर भी यह बहुत सुखद है, क्योंकि इस निर्वासन में तुम्हारी पवित्र इच्छा है ! परन्तु, इस पर भी तो तुम्हारा उद्देश्य पूरा नहीं हुआ ! जिस 'पर-हित-व्रत' की उदारता से द्रवित होकर तुमने मेरे नाश के पथ पर पैर रक्खा है, वह भी तो नहीं हो सका। हाय ! तुम्हारी कोमल कली उस प्रज्वलित अंकुर का आलिङ्गन कर क्या विकसित हो सकेगी ? क्या तुम्हारा सद्यः प्रस्फुटित प्रसून उस सर्व-नाशिनी ज्वाला के भयानक स्पर्श से मस्त होकर नष्ट नहीं हो जावेगा ? फिर उसे 'झूम-झूम कर नष्ट होने वाले नाटक के द्वारा' अपनी अधीर लालसाओं को संसार के सम्मुख, तुम्हारे सम्मुख और अपने उपास्यदेव के सम्मुख दिखलाने का अवसर नहीं रहेगा ! वह अचानक ही, एक बार ही संसार की दृष्टि से छिप कर नीरव, निस्तब्ध, एकान्त निस्तब्ध—वियोग की शून्य नीरवता में—अपना और अपने सारे जीवन की सारी सञ्चित लालसाओं का निर्वाण देखेगी ! यह कितना लोमहर्षक दृश्य होगा ? फिर तुम उसके मधुर विकास को किस भाँति देख सकोगी ? कुसुम, स्मरण रक्खो, तुम्हें पश्चात्ताप करना होगा ! तुम्हें इसके बदले सारा जीवन रोना होगा........तुम्हें निराशा.......विषाद....... ग्लानि......और कुछ भी नहीं।

इसके पश्चात् तुमने लिखा है—"फूल, कुसुम से महान सुन्दर, पवित्र और सर्वगुण-सम्पन्ना है ! फूल मनोहर है ! फूल सुख है ! फूल कल्पना है ! और फूल है प्रेम-कल्पना की सारी ऐश्वर्यमयी विभूति। मैं उसकी

बाँदी के बराबर भी नहीं। वह आपकी हित-साधना के निमित्त मुझ से अधिक योग्यपात्र है। यह आपके जीवन को मुझसे अधिक सुखमय बनाएगी।'' कुछ देर के लिए मैं तुम्हारा मत स्वीकार कर लेता हूँ और केवल इतना ही नहीं, तुमसे दो पग और भी आगे जाता हूँ। मान लिया कि फूल में परमात्मा की अनन्त छवि, परमात्मा का अनन्त विकास, परमात्मा का अनन्त सौरभ, अनन्त मनोहरता, अनन्त पूर्णता, अनन्त शक्ति और अनन्त रमणीयता है; माना मैंने कि उसमें और तुममें परस्पर आकाश और पाताल का अन्तर है; परन्तु इससे क्या? वह तुमसे बहुत अच्छी होकर मिल जावेगी, पर तुम तो नहीं मिल सकतीं! उसे पाकर मुझे संसार का सारा वैभव, सृष्टि का अतुल ऐश्वर्य मिल जावेगा, पर हाय! तुम्हारा वैभव और तुम्हारा ऐश्वर्य तो नहीं मिल सकता! फिर तुमसे रहित होकर, तुम्हारे ऐश्वर्य और वैभव से रहित होकर सृष्टि की सारी उत्तम वस्तुएँ, सृष्टि का अनन्त ऐश्वर्य और अतुल वैभव किस काम का? केवल निरर्थक, निस्सार और प्रवञ्चनापूर्ण! माना मैंने कि फूल आकाश है और कुसुम पाताल। फूल को पाकर मैं आकाश में चला जाऊँगा। आह! मैं आकाश की तरह महान, विशाल और अनन्त हो जाऊँगा! यह कितनी अच्छी बात है! पर कुसुम, हृदयेश्वरी, यदि प्रणय की अपरिमित साधना में उस सांसारिक उत्थान से तनिक भी पैर विचलित हुआ तो सत्यानाश के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगेगा! कुसुम, तुम अपनी सारी शक्ति के द्वारा अस्वाभाविक रूप में मुझे ऊपर उठाने का यत्न करोगी और मैं अपने नैसर्गिक आकर्षण से पाताल की ओर गिरता रहूँगा। और यदि मान लिया जाय कि ज्ञान-शून्य, चेतना-हीनावस्था में कुछ काल के लिए ऊपर उठ ही गया, पर जब मेरा पतन होगा, वह कितना भयानक, कितना विषादपूर्ण और कितनी प्रज्वलित एवं भयङ्कर तथा विध्वन्सकारिणी ज्वाला के ताप से पूर्ण! कुसुम, तुम मेरे उस सांसारिक और आध्यात्मिक पतन को सोचो, और अपने हृदय

पर हाथ रख अपनी अन्तरात्मा से पूछो, क्या तुम उस करुणापूर्ण स्थिति को सह सकोगी? कहो, कौन अधिक रोमाञ्चकारी होगा? फूल का झूम झूम कर नष्ट हो जाना अथवा कुसुम के उपासक का स्वयं भस्म होकर फूल को भी भस्म कर देना? आह! तुम्हारा निर्णय कितना अन्धकारपूर्ण है, और फिर भी तुम स्वयं प्रकाश की अतुल राशि हो!

तत्पश्चात् तुमने लिखा है—'फूल सौरभमयी है और कुसुम काँटों से भरी हुई। फूल सुन्दर, शुद्ध, पवित्र और वासना-रहित है और कुसुम भ्रष्टा, पतिता, कुल-कलङ्किनी और कालिमापूर्ण! फूल स्निग्धता है और कुसुम ताप! फूल आशा का प्रफुल्लित संगीत है और कुसुम निराशा की हृदयोच्चाटन प्रताड़ना। फूल का स्पर्श जीवन, सुधामय, पवित्र और सुख की सारी कल्पना है और कुसुम का? ठीक विपरीत, मृत्यु, हलाहल, ग्लानि और यन्त्रणा की सारी भावना।' कुसुम, तुम मनुष्य तन में सचमुच ही स्वर्गीय पवित्रता की जीवित प्रतिमा हो! तुम्हारा हृदय कितना महान है! क्या तुम्हारे त्याग की उच्चता में हिमालय की उच्चतम चोटियाँ नत नहीं हो जावेंगी? मुझे आभास हो रहा है कि मैं तुम्हारी उच्चता और तुम्हारे उत्सर्ग के अद्‌भुत प्रदेश में जा रहा हूँ। उद्देश्य मार्ग की ओर की एक मनो-भाविनी वाटिका से एक वीणा-विनिन्दित सुर से ये शब्द आते हैं—'फूल सौरभमयी है और कुसुम काटों से भरी हुई........।' आह! गगन विचुम्बित हिमगिरि की उच्चतम चोटियों की भाँति हृदय की सारी उच्चता रखते हुए ये शब्द जल-तरंगों के मनोभावने क्रम में आते हैं और आ-आकर मुझे तुम्हारे—केवल तुम्हारे ही पथ में कुछ और भी आगे कर देते हैं! इसलिए कि तुम कण्टकपूर्ण हो! जीवनेश्वरी, तुम्हारे काँटे ही इस हृदय के शूलरूपी काँटों को बाहर कर सकेंगे! फूल का सौरभ तो इसे केवल असह्य वेदना में ही परिणत करेगा! फिर मैं वह सौरभ किस लिए लूँगा? क्या जीवन भर आत्म-ग्लानि की असह्य व्यथा से व्यथित होने के लिए?

कुसुम भ्रष्ट, पतिता, कुल-कलंकिनी और कालिमापूर्ण है। और मैं? मैं कुसुम का प्रतिबिम्ब हूँ। कम से कम प्रेम-साम्राज्य में मेरा उद्देश्य कुसुम का प्रतिबिम्ब होना ही है। फिर जहाँ कुसुम का पतन है, वहाँ मेरा भी पतन है और जहाँ मेरा उत्थान है, वहाँ कुसुम का भी उत्थान है; क्योंकि कुसुम और मैं दो भिन्न वस्तु नहीं, और कुसुम से विहीन होकर मेरा और मुझसे रहित होकर कुसुम का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं। इस स्थिति में कुसुम के साथ मैं भी भ्रष्ट, पतित और कालिमापूर्ण हूँ और इस कारण फूल की शुद्धता, पवित्रता और सुन्दरता को अपने स्पर्श से अपवित्र कर, मैं इस बड़े पाप का भागी होना नहीं चाहता।

फूल स्निग्धता है और कुसुम ताप! आह! कुसुम के ताप में ही मैं अपने जीवन के सारे तापों को विलीन कर दूँगा। ताप की ज्वाला ताप से ही शान्त होती है, स्निग्धता का स्पर्श तो ताप का उद्दीपन करता है, तो फिर मैं फूल की स्निग्धता से अपना ताप बढ़ाऊँ और उस ताप से उसे भस्म कर दूँ। क्या हत्या! आत्म-हत्या? फूल की हत्या? ओह! यह पथ दुर्गम है! तुम्हारे असंख्य संकेत, तुम्हारे अगणित आदेश भी मुझे इस पर आरूढ़ नहीं कर सकते।

फूल आशा का प्रफुल्लित संगीत है और कुसुम निराशा की हृदयोच्चाटन प्रताड़ना! परन्तु, कुसुम, निराशा की हृदयोच्चाटन प्रताड़ना के रूप में तुमसे और तुम्हारे अन्तःकरण की अनन्त भावनाओं से मेरा जीवन-संगीत निकलता है; और निकलकर मुझे वासना की सारी दुर्बलताओं से हटा, पवित्रता के पुण्यलोक में प्रतिष्ठित कर देता है। फिर क्या मैं महासुन्दरी फूल के आशा-संगीत के बदले अपना जीवन-संगीत छोड़ दूँ? हाय! इससे बढ़कर जीवन का व्यंग और क्या हो सकेगा! जीवनेश्वरी, मेरे सारे सुखों को ले लो, पर मेरे जीवन में जहाँ तक 'कुसुममय भावनाओं' का मिश्रण हो गया है, उसे न छेड़ो, उसे शान्त

ही रहने दो। उसके तनिक भी छेड़ने से वह एक प्रलयकारी भूकम्प की तरह विध्वन्सकारी दृश्य उपस्थित कर देगा और तुम उसमें मेरा, और मुझसे भी अधिक अपनी प्यारी फूलका नाश देखोगी।

फूल का स्पर्श जीवन, सुधामय, पवित्र और सुख की सारी कल्पना है। और कुसुम का? ठीक विपरीत, मृत्यु, हलाहल और यन्त्रणा की सारी भावना। फिर भी मैं कुसुम के मृत्युलोक में, अपने मानवी तन की सारी बुराइयाँ और अपने सारे पापों का नाश कर दूँगा। मेरा यह एक नवीन जीवन होगा! अतः मैं कुसुम का मृत्युलोक ही चाहता हूँ। और चाहूँ भी क्यों नहीं? हाय! फूल के जीवन में प्रवेश करते ही मेरी भयानक मृत्यु, मेरी आत्मा की मृत्यु और मेरी आध्यात्मिकता की मृत्यु हो जावेगी! फिर फूल के 'जीवन की मृत्यु' से कुसुम की 'मृत्यु के जीवन' में ही क्यों न प्रवेश करूँ? कुसुम का हलाहल मेरे विषमय जीवन का विष नाश कर मुझे फूल की सुधा से अधिक सुधामय करेगा! उसकी 'यन्त्रणा की भावना' से सुख को कल्पना का एक नवीन अंकुर प्रस्फुटित होगा! वह सारी दिव्य पवित्रताओं से पूर्ण और विश्व की अखिल शान्ति का विश्राम-स्थल होगा! वहाँ जीवन-संगीत, मधुरता, पवित्रता, उल्लास और इन सारी वस्तुओं का उद्भव-स्थान तुम स्वयं ही—कुसुम, मेरी प्यारी कुसुम, मेरी हृदयेश्वरी तुम स्वयं ही होगी!

प्रियतमे! मेरी जीवन-नौका तुम्हारी पवित्र इच्छा पर निर्भर है। देखना कहीं इसे मझधार में न छोड़ देना। ओह! मैं सारे संसार की विभूति के बदले तुम्हें, केवल तुम्हें ही चाहता हूँ! अधिक नहीं लिख सकता! आँखें किसी प्रवाह का मार्ग होकर अपने कार्य में चूक रही हैं। बस, अभी इतना ही।

तुम्हारा,

—तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब

जोबन गयो तो भल भयो, तन से गई बलाय।
जने जने का रूठना, मोसे सहा न जाय॥
साँझ भई दिन अथवा, चकई दिन्हा रोय।
चल चकवा वा देश को, जहाँ साँझ नहिं होय॥

'नैहर से चली आइये'

स्वस्ति श्री सर्वोपमा के योग्य श्रीमती जी प्रिये,
कृपया हमारी प्रार्थना को सुन लीजिए!
हम हैं कुशल से सब चाहते कुशल अहो—
आपका सदा ही रुख हम पै पसीजिए!
बहुत दिनों से हुए दर्शन नहीं हैं यहाँ—
व्याकुल हृदय पै कृपा तो कुछ कीजिए।
प्रेमपट रानी, स्वयं आप हैं सयानी, कहें—
और क्या कहानी, पता आप लिख दीजिए॥

× × ×

बिना आये गये, नये नेह भी पुराने बन—
नित्य नष्ट होते, यही जीवन की रीति है।
देखे बिना लोल लोचनों की बढ़ जाती चाह—
बोले बिना होती दूर मन की प्रतीति है;
बिरह व्यथा की कथा कितनी निराली अरी।
इससे न आपको क्या होती कभी भीति है?
भाती बिना आपके न चाय की पियाली हमें—
आली यों अकेले रहें कैसी हा अनीति है!!

× × ×

हो चुकी अनेक भूल चूक हमसे जो सदा—
कृपया क्षमा हो उन्हें ध्यान में न लाइये—
आपके लिए जो कभी हो हुई उपेक्षा प्रिये !
बन के दयार्द्र उस को भी भूल जाइये।
होंगी वे सुहाग वाली सारी माँग पूरी यहाँ—
आनन सनेह भरा अपना दिखाइये;
बिन्दी, स्नो, आलता, वेसलिन है पाउडर रखे—
पत्र देखते ही नैहर से चली आइये॥

× × ×

—हरिशंकर वैदिक बी० ए०

मेघ द्वारा पत्नी को सन्देश

[हार्दिक प्रेम प्रकाश]

संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास आदि कवि वाल्मीकि और महर्षि व्यास के पश्चात् होने पर भी कवि कुलगुरु माने गये। इसमें क्या बात है? उनकी कल्पना, उनकी उपमा, उनकी उक्ति-युक्ति तथा उनकी विषम प्रतिपादनशैलि ऐसी है जिसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। सबसे बढ़कर मेघदूत में, जो उन्होंने दाम्पत्य प्रेम के रूप में संयोग-वियोग का चूड़ान्त वर्णन किया है—वह तो निश्चय ही अद्वितीय है—उसकी वाग्धारा में कवि-कोविद डूबने उतराने तथा परमानन्द में मस्त हो जाते हैं। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि यदि एक यही ग्रंथ उन्होंने लिखा होता तो भी कालिदासजी संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में शिरोमणि कहलाते—अतः अब हम उसकी कुछ संक्षिप्त चर्चा कर देना चाहते हैं—

अपने पार्षद एक यक्ष को यक्षराज कुबेर ने शाप दे दिया। वह रामगिरि पर जाकर एक वर्ष का समय व्यतीत करने लगा। यहाँ अपनी

धर्मपत्नी से विमुक्त होने के कारण सूखकर काँटा हो गया परन्तु उसका कोई चारा नहीं चल सका।

उस शिखर पर आषाढ़ के प्रथम दिन को घटा उठी और एक मेघ सामने दिखाई पड़ा। उसे देखकर यक्ष खड़ा हो गया। उसने सोचा कि आज मैं इस मेघ के द्वारा अपनी प्यारी-पत्नी को जीवनाधार वार्ता भेजूँ। वह मेघ को कुटज-कुसुम का अर्घ्य देकर बड़ी उत्कण्ठा से बोला—उसने यह नहीं सोचा कि धूमाग्नि और पवन जल से बना हुआ यह जड़ मेघ सन्देशा कैसे ले जायेगा। इस पर कवि ने लिखा है कि कामान्ध प्राणी को सुध-बुध तथा विवेक नहीं रह जाता।

उसने पहले तो मेघ की प्रशंसा की। फिर अपनी पत्नी के पास पहुँचने का मार्ग बतलाया और तत्पश्चात् सुन्दर सन्देश दिया। वह बोला—"तू भी अपनी प्यारी बिजली के साथ विश्राम करता हुआ अलका पहुँचना—अलका की स्त्रियाँ सदा छओं ऋतुओं के फूलों से अपना शृङ्गार किये रहती हैं। वहाँ के महलों में 'रसीली' 'रतिफला' 'मदिरा' 'मृदंगध्वनि' तथा 'छबीली नारी' का आनन्द यक्षगण लूटते रहते हैं। वहाँ सुरतरुतले सुरसरित् मरुत् का सेवन करती हुई यक्ष की सुन्दरी कन्यायें 'गुसहीरा' नामक मनोहर खेल खेलती हैं। रात में प्रेमी लोग प्यारी मुग्धाओं के साथ 'कामक्रीड़ा' करते हैं। वहाँ तेरे जैसे मार पुरुष दूती के साथ आते हैं और अपना काम पूरा कर चातुरी से भाग जाते हैं। चन्द्रकान्तमणि वहाँ अर्ध रात्रि में नारियों की सुरत जनित ग्लानि को शान्त करते हैं। यक्ष वहाँ बड़े श्रीमान और कामी होते हैं। वे अपने साथ अमर गणिकाओं को लिये धनद-यश गाते वैभ्राज नामक अत्यन्त सुन्दर उपवन में जाते और स्वेच्छापूर्वक विहार करते हैं। अलका में रात को आने-जाने वाली कामिनी स्त्रियों के कर्णफूल, कमल-पत्र और मुक्तामाल के बिखरे मोती प्रातःकाल-जैसा प्रकाश कर पथ-प्रदर्शन करते हैं। यहाँ रुद्र के भय से मदन देव भौंरों की प्रत्यञ्चा नहीं

तानता तो भी यहाँ की स्त्रियाँ कुटिल भृकुटियों से नेत्र बाण चला कर काम का काम पूरा करतीं हैं। वहाँ कल्पवृक्ष ही सभी अबलाओं के साज को पैदा करता रहता है।"

फिर श्लोक १२ से १९ तक यक्ष ने अपने घर का पता बताया। उसने कहा—"कुबेर के महल के उत्तर मेरा निवास-स्थान है। मेरे बाड़े में फुलवाड़ी है। बीच में एक सुन्दर बावड़ी है। वहाँ कनक कदली से घिरा मेरा क्रीड़ागृह है। वहीं एक मनोहर माधवी-कुंज है। वहाँ बकुल और अशोक हैं। उन दोनों के बीच हेम के दण्ड पर एक स्फटिक की चौकी पर सायंकाल मेरी कान्ता एक मोर को नचाती है।"'मेरी धर्मपत्नी सर्वांग सुन्दरी और विधाता की युवति रचना में सर्वोपरि है।

मेरे विरह में वह क्षीण और उदास हो गई होगी। रोते-रोते उसके नेत्र सूज गये होंगे। तू उसे सारिका से बात करते, मेरा चित्र बनाते या पूजा में विकल होते हुए देखोगे। उसने सारे अलंकार छोड़ दिये हैं। वह प्राणों को भी छोड़ देती, पर मुझसे पुनः मिलने की लालसा से जी रही है।"

"प्रिय मित्र! जब तुम उसके पास पहुँच कर कहोगे—सौभाग्यवती! मैं तुम्हारे पति का सन्देश लेकर आया हूँ तो वह तुम्हारा स्वागत करेगी। उससे मेरे हृदय की वेदनाओं को बता देना—कहना कि विरह में स्नेह घटता नहीं, बल्कि इच्छावस्तु के न मिलने से और भी बढ़ जाता है। तुम उसे धैर्य देना। उसके चिह्न लाकर मेरे भी प्राण बचाना। तुम मेरे भाई हो। आशा है, मेरी प्रार्थना को स्वीकार करोगे। अर्थात् तुम अपनी भाभी के पास पहुँच कर उसके हृदय को आश्वासन दोगे।" जे०डी०शर्मा

पाठकों के हृदयंगम करने के लिये मेघदूत के ३१—४७ दो मूलश्लोक यहाँ दिये जाते हैं, जिनमें यक्ष के प्रेम-भावों का सुन्दर समन्वय है—

(३१)

जाने सख्यास्तव मयि मनः, सम्भृतस्नेहमस्मा
दित्थंभूतां प्रथम विरहे, तामहं तर्कयामि।

वाचालं मा न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति।
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मयायम्॥
(४७)
शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ-
शेषान्मासान् गमय चतुरो, लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरह गुणितं, तं तमात्माभिलाषं-
निर्वेक्ष्यावः परिणत शरच्चन्द्रिसु क्षपासु॥

वास्तव में इन्हीं दोनों में यक्ष के सन्देश या प्रेम-प्रकाशन का सारांश भरा हुआ है जो शत, सहस्र, लक्ष क्या कोट्याधिक आधुनिक लव-लेटरों से बढ़कर है।—जे० डी० शर्मा

जहूरन के खतूत

श्री 'वाचाल' बाँकीपुरी

(माननीय सरदार पटेल ने रेडियो पर मंगलामुखियों के गाने पर जो प्रतिबन्ध लगा दिया है उससे बी जहूरन काफी चिन्तित और क्षुब्ध हैं। उन्होंने इस प्रतिबन्ध से त्राण पाने के लिए अन्तरिम सरकार के सदस्यों के पास जो पत्र भेजे हैं, उन्हें में उनकी अनुमति से पाठकों के मनोरंजनार्थ प्रकाशित करा रहा हूँ। —'वाचाल')

---

१. पटेल के नाम

प्यारे पटेल,

तुम्हें क्या हो गया। मैं कैसे समझूँ कि तुमने यह फैसला खूब सोच समझकर किया है। तुम ऐसे बाहिम्मत और दिलेर इन्सान से तो मुझे ऐसी उम्मीद न थी। आखिर तुम्हें मुझसे नफरत क्यों? मालूम होता है, बुढ़ापे में किसी खास पर तुम्हारा दिल आ गया है जो मुझसे यों किनारा-

क़शी कर रहे हो। याद है, मैं भी किसी दिन गाती थी और मेरे यहाँ भी महफ़िलें लगा करती थीं। तुम भी तो मेरा गाना सुनने के लिए लखनऊ रेडियो पर सूई लगाते थे। मैं तो कहूँगी कि दुनियाँ को मुझसे कुछ न कुछ मिलता ही था, मैं दुनियाँ का कुछ बिगाड़ती न थी। लेकिन तुम्हारी इस नयी कारवाई से मेरा जीना मुश्किल हो गया है और मैं यह खोल-कर कहूँगी कि अब तुम मुझे दुनियां को बिगाड़ने का बढ़ावा दे रहे हो। लेकिन शायद यह मेरा ख्वाब ही हो। खाने-पीने का जो एक सहारा था उसे भी तुमने छीन लिया। अब तुम्हीं बताओ मैं किस पर जीऊँ और कैसे जीऊँ। एक दिन था जब लोग मुझ पर मरा करते थे और आज तुम मुझे ही मर-मिटने पर मजबूर कर रहे हो। इसमें तुम्हारा कसूर नहीं। जब आदमी आँखों से ओझल हो जाता है तो ऐसे ही बेवफा बन जाता है। तुम न दिल्ली जाते न मेरी दिल शिकनी होती। अब भी तो अपने आर्डर को मन्सूख करो।

बस तुम्हारी बाँदी-

जहूरन

---

२. नेहरू के नाम

जान से प्यारे जवाहर,

बुढ़ापे तक तुम्हारी जवानी बनी रहे। कई बार ऐसा हुआ है कि तुम मेरे निवास के नीचे से गुजर गये हो लेकिन फूटी आँखों भी मेरी ओर न देखा। और मैं ? मैं तो तुम पर हमेशा मरती ही रही हालाँकि और मेरे ही ऊपर मरते हैं। तुम्हारी शेरवानी और चुस्त पाजामा तथा कुर्ते के ऊपर पहना हुआ जैकेट मेरी आँखों के सामने हमेशा नाचा करता है। मैं तो तुझे जागे में भी याद करती हूँ, ख्वाब में भी और सोये में भी। लेकिन तुम तो शायद सपने में भी याद न करते होओगे। शायद पहचानते भी नहीं। आज एक जरूरी काम से तुझे खत लिख रही हूँ।

सुना है, तुम हिन्दुस्तान के वजीरेआजम बन गये। क्या तुम्हें हमारी बेहुर्मती देख थोड़ा भी अफसोस नहीं हुआ! तुम्हारे रहते ही पटेल ने मेरी रोजी पर कुल्हाड़ी चला दी। परन्तु, तुम्हें क्यों अफसोस हो! तुम तो किसी पर मरते नहीं; मरती तो तुम पर दुनिया है।

'जाके पैर न फटे बिवाई सो क्या जाने पीर पराई।'

बूढ़े पटेल को समझाओ और मुझे बचाओ। अपनी मिहरेनिगाह डालो। हाय, मैं क्या थी, क्या हो गयी!

मैं शाहों के गादों की पाली हुई। मेरी हाय यों पायमाली हुई॥

कनीज-

जहूरन

---

२. राजेन्द्र बाबू को

मेरे बाबू,

मैं जानती हूँ कि आप पर सारे हिन्दुस्तान के लिए खूराक जुटाने का भार है और आप उसीके पीछे परीशान हैं। फिर भी मैं अपना सवाल आपके सामने पेश कर आपकी परेशानी को और बढ़ा रही हूँ। हो सकता है इसे सुन कर आप झल्ला उठें। लेकिन मैं क्या करूँ—

'आरत के चित रहहिं न चेतू।
पुनि-पुनि कहहिं आपने हेतू॥'

मैं जो कुछ आपसे अर्ज करने जा रही हूँ, उसे आपने अपनी आँखों देखा है। क्या जिस दिन पटेल ने हमारी रोजी छीनने का एलान किया, उस दिन आप नहीं थे? मुझे ताज्जुब हो रहा है कि आपके रहते आपके सिर यह एक नयी बला कैसे मढ़ दी गयी। मुझे तो आपको ही रास्ता दिखाना पड़ेगा। बताइये—

"का खाऊँ, का पीऊँ, का ले परदेस जाऊँ!"

आपकी-

जहूरन

---

४. सरदार बलदेवसिंह को

सरदार जी !

सत् श्री काल। जानती हूँ, इन दिनों तुम्हारा दिल दुःखी है। पंजाब के पागलपन ने तुम्हारा भी माथा खराब कर दिया और उसी पागलपन को दूर करने में तुम शबोरोज मशगूल हो। लेकिन तुम्हें अपने नजदीक के सबसे बड़े पगले पटेल की भी दवा का इन्तजाम करना चाहिये। पागलपन में आकर ही तो उन्होंने मुझ पर सितम जरीफी की है और मुझे दर-दर की खाक छानने के लिए मजबूर किया है। मैं आप से अर्ज करती हूँ कि आप मुझे भी अपनी फौज में भर्ती कर लीजिये ताकि मेरी परवरिश आपके जरिये हो जाय। उस समय तो मुझे पूरी छूट रहेगी गाना गाने की। देखूँगी, मुझे कौन रोक सकेगा गाने से, जब मैं गाऊँगी—

"कदम-कदम बढ़ाये जा, खुशी के गीत गाये जा"

कनीज-

जहूरन

---

५. जगजीवन राम को

जीवन के आधार,

युग-युग जीओ। बावले वल्लभभाई की बेरहमी तो तुमने भी देखी, तुम तो उनके साथ ही रहते हो। कहो मेरी रोजी कैसे चले। अगर तुम थोड़ी-सी मिहरबानी कर दो तो बेड़ा पार है। मेरी रोजी तुम्हारे ही हाथ में है। मैं जानती हूँ महिलाओं के लिए तुम्हारे दिल में बड़ा दर्द है। तभी तो महिला सहायक सेना के लिए तुमने झट एक सुन्दर योजना तैयार कर दी। पता नहीं, तुम्हारा ध्यान मेरी ओर क्यों नहीं गया। क्या रूठे हो ?

जरा मेरी दुर्दशा पर विचार करो और एक ऐसी योजना तैयार कर दो कि मैं बखुशी अपना पेट पाल सकूँ।

बांदी-
जहूरन

६. आजाद को

आँखों के नूर,

अल्लाह तुझे सलामत रक्खे। पटेल मुझे यों पामाल करें और तुम बैठे तमाशा देखते रहो। अगर मैं तुमसे पूछूँ अपने आगे की जिन्दगी बसर करने का रास्ता, तो तुम सलाह दोगे—मास्टरनी बनने की। अगर तुम्हारी ऐसी ही राय हो तो मुझे यह पेशा भी मंजूर है। लेकिन इससे तुम्हारी परीशानी और बढ़ जायगी। कारण मैं अपनी माँगें तुम्हारे सामने पेश करूँगी और अगर 'इन्कार' करोगे तो शुरू में हड़ताल करने की धमकी दूँगी और बाद में सचमुच हड़ताल कर दूँगी। सोचो, उस वक्त तुम्हारी क्या हालत होगी, तुम्हारे सरकार पर क्या बीतेगी। इसी से कहती हूँ कि पटेल को पीटो और उन्हें समझाओ! मुझसे उन्हें इतनी दुश्मनी क्यों! एक बार की बात है, उनके रंज होने पर मैंने हँसते-हँसते कहा था कि—

'किता कीजिये न ताल्लुक मुझसे। कुछ न सही तो अदावत ही सही।'

मालूम होता है उसी को वे निभा रहे हैं। उनकी करतूत ने मुझे पस्त और पामाल कर दिया। लिल्लाह मुझे बचाइये। हाय!

'मुझको जमाने वालों ने नजरों से यों गिरा दिया'

वफाशुआर-
जहूरन

७. राजाजी को

मोरे राजा!

जीते रहो। पता नहीं पटेल को क्या सूझी जो हमारी रोजी पर ऐसी रोक लगा दी। अगर उन्हें किसी खास से बदला लेने की ख्वाहिश थी

तो डर क्यों गये ? यह कहाँ का इन्साफ है कि कसूर करे और, उसकी सजा भुगते दूसरा। इसी को कहते हैं—

"सवती के खीस कठौती पर।"

पता नहीं उस समय तुम क्या कर रहे थे। हो सकता है तुम भी खुश ही हुए हो यह सोचकर कि इसी बहाने कुछ कत्तिनें हाथ आ जायँगी और तुम्हारी इन्डस्ट्री चमक उठेगी। लेकिन सचमुच जब यह बला तुम्हारे सिर पड़ेगी तो तुम माथ पर हाथ रखकर सोचने लगोगे कि क्या करें। शुरू में तो मुझे भरपेट खाने को भी न दे सकोगे। क्या मुझे वे दिन भी देखने को मिलेंगे कि मैं पेट की महँगी हो जाऊँगी और बाद में लाचार होकर तुम्हारी इन्डस्ट्री से निकल जाना पड़ेगा। क्या कहीं बुढ़ी मुर्गी पोस मानती है। अब तो नाव मँझधार में पड़ ही गयी है। चाहे डुबो दो या पार लगा दो। यदि इन्डस्ट्री में ही रखकर तुम मेरे पेट का इन्तजाम कर सकते हो तो मैं कहूँगी कि तुम्हें मेरी जिन्दगी का पूरा तजुर्बा नहीं है।

तुम्हारी—
जहूरन

एक सरस पत्र

[एक शिक्षिता ननद ने अपनी भाभी को अपने हृदय की मनोव्यथा लिखकर भेजी है। पत्र-प्रेषक ने अपना नाम और पता नहीं दिया है, पर यह काफी सरस और भावपूर्ण है।]

मेरी प्राणों से प्यारी भाभी,

दो रोज भी या सूरते गुल हँस के न काटे।
रोते ही रहे हम चमनिस्ताने-जहाँ में॥

जीवन की पहली घड़ी में, जीवन के पहले प्रभात में वे आये और खूब आये—महमूद और नादिर की तरह नहीं, बल्कि सेल्यूकस, मुहम्मद

गोरी और बाबर की तरह। जब मैं अबोध थी, बेसुध थी और अपनेपन का भी ज्ञान नहीं था तब वे दरिया के हिलकोरे की तरह एक बार सारे जीवन-तट को प्लावित करते हुए आये। आये, आँधी-पानी की तरह नहीं, तूफ़ान की तरह नहीं, बवण्डर की तरह नहीं; सैलाब की तरह नहीं, बल्कि बादल की तरह मेरे मन-मयूर को मस्त करते हुए, मेरी जीवन-फुलवारी को कुसुमित, पल्लवित, रस-प्लावित और हरी-भरी करते हुए आये—आये, और उस जमाने में आये, जब कि मुझे प्रेम वर्णमाला का भी ज्ञान नहीं था, मैं दुनिया से बेखबर थी, तब आये और प्रेम-दर्शन के बड़े-बड़े सूत्र, बड़ी-बड़ी गुत्थियों को सिखाते हुए; बतलाते हुए और सुलझाते हुए आये। मेरे जीवन के जीवन बन जीवन देते हुए, बेसुध, बेखबर और संज्ञाहीन करते हुए आये, एक बार खण्डहर की रौनक, पतझड़ के बसंत तथा अनायास लक्ष्मी की तरह आये। मुझे कृतकृत्य कर दिया, मुझे आनन्द-विभोर कर दिया; मुझे पारस की तरह लोहे से सुवर्ण कर दिया। मेरे अंग-प्रत्यंग उस उद्यान की तरह खिल पड़े, जिसमें बसन्त डेरा डाल देता है, जिसके हरएक फूल-फल मारे खुशी के दुनिया के सामने अपना वक्षस्थल चीर कर हँस पड़ता है। मुझमें भी बसन्त आ गया; किसलय निकल पड़े, गुलाब खिल पड़े, कुसुम वृन्द मारे खुशी के रस छलकाने लगे, यौवन लुटाने लगे और भ्रमर आनन्द-विभोर हो "मेरे दाता, मेरे दाता" कह कह छकछक लगे सुगन्धासव पान करने। अरे! यहाँ तक कि कोकिल भी लगी "पी पी" का विहाग गाने। मैं मतवाली हो गयी, मैं दीवानी हो गयी, और "मेरे प्रियतम! मेरे प्रियतम!" कह कर लगी इठलाने।

परन्तु हाय! हाय रे परिस्थिति का चक्कर! हाय रे विधि-विधान! हाय रे काल की चाल! हाय री भावी और हाय री नियति-परी का प्रकोप! मैं लुट गयी, मैं रसातल चली गयी, मेरे अरमानों का खून हो गया, मेरी आशाओं पर तुषार-पात, उल्कापात, वज्रपात और न जाने

कौन-कौन पात हो गये। तपस्या की, वरदान के लिये, पर हाय रे मेरा दुर्भाग्य ! मुझे अभिशाप मिला। भविष्य के सुनहले स्वप्न भस्मसात् हो गये। मेरे स्वर्गीय विचारों के प्राण-पखेरू यम-लोक की शोभा बढ़ाने के लिये उड़ गये। मूक मनुहार की कली, उस निर्मम के बूटवाले पैरों के तले मसल दी गयी। मदन ! मदन ! मदन !! मेरा हृदय-मदन—अस्फुट अविकसित कमल के समान—तेरी याद आते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं, ख़ून खौल उठता है, घृणा का पारा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है।

हाय ! चले गये महमूद की तरह मेरे बदनरूपी सोमनाथ के मन्दिर पर, मेरे हृदयरूपी सोमनाथ की मूर्त्ति पर अपनी निष्ठुरता रूपी गदा से प्रहार कर, मुझे चूर-चूर कर वे चले गये। मेरी सारी निधियों को बेरहम डाकू ने लूट लिया। मुझे विधवा से भी निकृष्ट, बहिष्कृत से भी पतित और व्यभिचारिणी से भी कलङ्कित बनाकर चले गये ! जहाँ बसन्त था, जहाँ सारी निधियाँ पालने पर झूल रही थीं, जहाँ सारी शोभा झूम-झूमकर अठखेलियाँ कर रही थीं, जहाँ काकभुसुण्डी के लोक की तरह कोई व्याधि नहीं थी, वहाँ अब उलूक घुघुआ रहे हैं; स्यार हुँआँ-हुँआँ कर चिल्ला रहे हैं। वहीं अब हाहाकार, दारुणक्रन्दन और घुआँधार मचा हुआ है। एक पल के लिये भी कल नहीं, एक क्षण के लिये भी शान्ति नहीं, एक निमिष के लिये भी विश्राम नहीं है !

भाभी ! मेरा वह सोने का संसार, मेरी वह आशा की दुनियाँ,—जिसका मैं उन्हें बादशाह बनाकर स्वयं पद-सेविका बन आठों प्रहर सेवा में निरत रहने के लिये मैंने प्रण-सा कर लिया था—निगोड़ी नियति ने अपने जबर्दस्त थपेड़ों से मार-मार कर धूल कर दिया।

अब मैं न घर की रही न घाट की; धोबी के कुत्ते की तरह कहीं की भी नहीं रही। दिल में आता है कि अफीम खा लूँ और माता भागीरथी की पतित-पावन धारा-प्रवाह में जाकर सदा के लिये डुबकी लगा लूँ। परन्तु हाय ! मुझ अभागी के लिये कहीं भी सुई की नोक बराबर भी

जगह नहीं है। इस पापी मुँह को छिपाने के लिये माता धरित्री की गोद में तिलभर भी स्थान नहीं है। मुझ विधुरा के लिये कहीं भी शरण नहीं है।

भाभी ! मैं किसी के पवित्र स्थान को अपवित्र कैसे कर सकती हूँ, कुछ समझ में नहीं आता। हृदय में आग-सी लगी हुई है। मालूम होता है कि पापी प्राण आज रौरव नर्क की यातनाओं को भोग रहे हैं—अरे ! उससे भी बढ़कर यातना मिल रही है। मैं क्या कर सकती हूँ ?

भाभी ! इस समाज से, इस दुनिया से, इस दुनिया के नाना मत-मतान्तरों से एक क्षोभ-सा हो गया है; एक घृणा-सी हो गयी है। पता नहीं, इन कम्बख्तों का संसार से कब खात्मा होगा ! इनकी लाश कब दफनायी जायगी ! इन पापियों ने तो मेरा सत्यानाश कर डाला, मुझे जहन्नुम भेज दिया। ये तो मुझे दोजख की आँच की तरह हमेशा धधकते नजर आ रहे हैं, और मैं भूत बन रही हूँ।

मैं उसे प्यार करती हूँ; मैं उसे जी-जान से चाहती हूँ। उसकी एक-एक अनोखान पर, एक-एक अदा पर सौ-सौ दफे मर मिटने के लिए तैयार हूँ। अहा ! वे कैसे घुँघराले काले-काले लम्बे-लम्बे, झाबर-झाबर बाल; वे कैसे पन्त की कल्पना को भी मात करनेवाले, सदा विहसित कपोल; शराब के प्याले-सी छलकती हुई, अलसाई हुई, मदमाती बड़ी-बड़ी आँखें ! उसकी याद बिच्छू के डंक के समान हजार-हजार बार डंस रही है। लाख भुलाने की चेष्टा करती हूँ, मगर कर्ज देनेवाले काबुली की तरह, सदा सोहनी, वह मोहनी, वह अपनी सुध-बुध हरनेवाली मूर्ति खड़ी रहती है।

भाभी ! उसने मेरा यही कहकर बहिष्कार कर दिया था कि तुम एक ग्रेजुएट होते हुए भी अपनी आँखों के सामने अपने माता-पिता को ईसाई होते देखकर उन्हें रोक न सकी। अगर तुम चाहती तो उन्हें समझा-बुझाकर रोक लेती। परन्तु तुम उन्हें क्या मना करती, तुम खुद भी ईसाइन हो गयी। यही कारण है, यही गलती है, यही मेरी भूल है।

भाभी, क्या तुम्हें हिन्दुओं के अत्याचार मालूम नहीं होते, जो अपने आप को सवर्ण कहा करते हैं, जो हरिजनों को ही तंग करने में अपनी बड़ी वीरता समझते हैं, जो उन्हें कुएँ से पानी तक भी नहीं लेने देते; जो उन्हें रामकृष्ण की पूजा तथा उपासना भी नहीं करने देते, जिनके लिए मन्दिर भी नहीं खुलता, क्योंकि अछूत हो जायगा ? मैंने उसे हँसते-हँसते जवाब दिया—यदि मेरे माता-पिता ईसाई हो गये तो उन्होंने कौन-सी गलती की ?

भाभी ! मुझे याद है, यह आज की बात नहीं, बल्कि डेढ़ साल पहले की बात है। उस समय उसने सिर्फ इसका विरोध किया था। उसने यह भी कहा था कि तुम जाओ और उन्हें समझा-बुझाकर पुनः शुद्ध करा दो और स्वयं भी शुद्ध हो जाओ। मेरी प्यारी; क्या तुम्हें मालूम नहीं कि क्रिया की प्रतिक्रिया कितनी जबरदस्त होती है ? मुझे उन हिन्दुओं के अत्याचार क्या अभी भूल गये हैं, जो बात-बात में हरिजनों को कष्ट दिया करते हैं, तंग किया करते हैं, जो अपने भविष्य का नहीं सोचते और अपने ही हाथों से अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मार रहे हैं ? भाभी ! जिनके अत्याचार देखकर किसी भी सहृदय का कलेजा दहल उठता है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मैंने सिर्फ यही कह दिया कि जो उन्होंने किया है, वह अच्छा ही किया है और बहुत सोच-समझ कर किया है; उसमें कोई गलती नहीं है। इतनी जरासी बात ! उसके दिल में तभी से मन-मुटाव हो गया; तभी से वह हट गया। लेकिन वह भी मुझे प्यार करता और दिल-जान से प्यार करता है यह मनमुटाव बढ़ता ही गया। शाश्वत को नश्वर धर्म ने अपने अन्दर निगल लिया।

भाभी ! प्रेम में होता है आत्मसमर्पण। आत्मसमर्पण का साध्य है अद्वैतवाद। प्रेमी प्रेमिका की आत्मा बनकर रहना चाहता है। वह शरीर-रूपी द्वैत के नश्वर पर्दे में शाश्वत अद्वैत की एकरूपता देखना चाहता है। वह प्रेमिका को अपने अन्दर जज्ब हुआ देखना चाहता है। वह उसको और कुछ नहीं, अपना आईना बनाकर रखना चाहता है।

उनकी वे भोलीभाली बातें याद आती हैं; जब वे कहा करते थे कि मैं एक दुनिया बसाऊँगा, जिसका मैं राजा बनूँगा और तुम बनना रानी; और हम लोग खूब खुशी से अपनी जिन्दगी व्यतीत करेंगे। उस दुनिया में प्रेम होगा, मानवता होगी, आत्मसमर्पण होगा, और होगा अद्वैतवाद। देखो, इस दुनिया में कुछ आदमी मुट्ठी भर अन्न के लिये भीख मार-मार कर मर जाते हैं; दूसरी तरफ कुछ आदमियों को खाने की वजह से बदहजमी हो जाती है और वे मर जाते हैं। कहीं हाहाकार मचा है, तो कहीं दारुण द्वेष, महान संघर्ष और कहीं भीषण उत्पात। हाय! जब वह प्यार से मेरे सिर को अपनी गोद में लेकर प्रेम-वारिकी वर्षा करते हुए मीठी और आह्लादकारिणी भाषा में "मेरी नूरजहाँ, मेरी नूरजहाँ" कहा करता था तो मानो मैं सचमुच, दुनियाँ कौन कहे, स्वर्ग की रानी बन जाती थी। कहता था, मेरे प्राणों से बढ़कर नूरजहाँ! तेरी एक-एक बात पर मैं हजार-हजार जहाँगीर होकर निसार हो जाऊँगा, हस्ती मिटा दूँगा और अपना अस्तित्व बर्बाद कर दूँगा। हाय! वह भोली-भोली बातें आज दिलको बेचैन कर रही हैं, कलेजा निकाल रही हैं, अधीर कर रही हैं। उसके एक-एक अक्षर करोड़-करोड़ तीरों-सा मेरे हृदय को सालता है; मैं क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता। दिल में आता है कि सीने में भुजाली घुसेड़ लूँ परन्तु आत्महत्या को मैं गुलामी से भी भीषण पाप समझती हूँ। मेरी डूबती हुई जीवन-नौका का एक मात्र तुम्हीं सहारा हो। मैं सिर्फ तेरी आशा में अभी तक जिन्दा हूँ। हाँ! मुझे अब संसार में कहीं शान्ति नहीं, कहीं चैन नहीं, कहीं कल नहीं है। हा अभागे हृदय! रो, रो, रो; जिन्दगी भर रो ले, इस स्वर में स्वर मिला कर रो ले।

पारिवारिक पत्रोत्तर

आवत ही हरषै नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइये, कंचन बरसे मेह ॥

रहिमन चुप हो बैठिये, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहैं देर ॥

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुँ ओर।
वसीकरन एक मन्त्र है, तज दे वचन कठोर ॥

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय ॥

श्वसुर का दामाद को पत्रोत्तर

मथुरा
ता० २८-९-५१

प्रिय सूर्यबलीसिंह !

नमस्ते !

पत्र आपका मिला। विचार में ऐसा हुआ और मेरे मिलनेवालों ने भी कहा कि आपका व्यर्थ है उनको कुछ कहना और लिखना। क्योंकि वह किसी की न सुनते हैं और न मानते हैं—लेकिन फिर भी मैं अपना कर्तव्य समझकर लिख रहा हूँ—आपने महात्माओं की वाणी लिखकर पत्र का उत्तर दिया, लेकिन आप उनकी वाणियों की यथार्थता को नहीं समझे। इसे न समझने के कारण ही गलत मार्ग पकड़े हुए हैं—आप

मिर्जापुरी लोटे की तरह गोल पेंदी के हैं, जो चारों तरफ ढुलक जाता है। एक सिद्धान्त पे अड़े रहनेवाले नहीं!

आपने लिखा—मेरे मन कछु और है०......इसका अर्थ हुआ कि ईश्वर की जो इच्छा होती है, वही होता है, तो छोड़िये विश्वशान्ति की इच्छा को। ईश्वर की इच्छा विश्वशान्ति की होगी तो हो जायगी।

फिर आपने लिखा है—'होइहैं वही जो राम०......जब वही होगा जो ईश्वर को करना है तो आपका कान्फ्रेंस करना निरर्थक है।

आगे चलिये—'हँसि बोले रघुवंश कुमारा। विधि का लिखा को मेटन हारा॥' जब विधाता के लिखे को कोई मिटा ही नहीं सकता तो फिर आप उसके मिटाने का उपाय क्यों कर रहे हैं अर्थात् ईश्वर को तो विश्व में अशान्ति फैलानी है। आपकी चारो धाम की यात्रा से वह कैसे रुकेगी।

यह आपने ठीक लिखा है:—कर्म प्रधान विश्व...इसको मैं मानता हूँ। आप यदि अपने कर्तव्य-कर्म से च्युत होंगे तो आपको वैसा ही फल मिलेगा और यदि ज्ञान द्वारा कर्तव्य-कर्म को सम्पादन करेंगे तो आपको वैसा ही फल मिलेगा।

'सबहि नचावहिं०......' यह चौपाई आधी ठीक है। आधी गलत, इसकी व्याख्या मैं करना नहीं चाहता।

अब आखिरी छंद, जो आपने लिखा—'धन जोबन सब जायगा, जा विधि उड़े कपूर। नारायन हरि भजन कर, क्यों चाटे जग धूर॥' इन चंद भले आदमी महात्माओं ने संसार में बड़ी गलतफहमी फैलाई। यहाँ तक कि आप जैसे कर्मशील सज्जन को अकर्मशील बनाकर ३१ हजार रुपये की भीख माँगने को तैयार कर दिया सूर्यबलीसिंह! भजन किसको कहते हैं, आपने इसको समझा ही नहीं! सो समझिये—

दोहा—भजन कह्यो तातें भज्यो-भज्यो न एकै बार।
दूर भजन जाते कह्यो-सोते भजो गँवार॥

कबीरदासजी ने कभी ३१ हजार की किसी से याचना नहीं की और

न कभी कर्तव्य-कर्म से विमुख ही हुए। सदा खादी को सिर पर धरके काशी के बाजार में बेंच के अपना और अपने बाल-बच्चों का पालन करते रहे, लेकिन आपको तो कबीरदास और रैदास आदि से शिक्षा ग्रहण नहीं करनी। आपको तो उन भले आदमियों से शिक्षा ग्रहण करनी है। जो आपको कल्याण-मार्ग से हटाकर अकल्याण की ओर ले जा रहे है, भला आप इस अर्धांगिनी को दुःख देकर सुख कैसे पा सकेंगे ? कोई भी शुभकार्य अर्धांगिनी के बिना पूरा नहीं होता। राम को भी यज्ञ पूर्ण करने के हेतु सोने की सीता बनवानी पड़ी। फिर भला आपकी चार धाम की यात्रा स्त्री बिना कैसे सफल होगी ! यह मेरी कपोलकल्पित रची गाथाएँ नहीं हैं। यह उन्हीं की रची हुई गाथाएँ हैं जो गृहस्थी में रहते हुए भी ऋषि कहलाते थे ! मालूम होता है कि सूर्यवंशी सिंह आप लोग बड़ाई प्राप्त करने में फँसे हुए हैं, नहीं तो भगवत् प्राप्ति करनेवाले भक्त को कान्फ्रेन्स करने और झंझटों में फँसने की आवश्यकता ही क्या है ! स्त्री-बच्चों को तो आपने झंझट समझ रखा है और कान्फ्रेन्स जिसमें तमाम झंझट ही झंझट है ! उसको आपने अझंझट समझ रखा है, यह आपका कैसा भजन है ! दोहा—माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माहिं। मनुआँ तो चहुँदिस फिरै—यह तो सुमरन नाहिं॥ सच्चे भगवान् के भक्त झाँझ पीट कर लोक-दिखावा कर बड़ाई प्राप्त करना नहीं चाहते। वह तो अपने हृदय में बसे हुए अपने प्यारे की प्रसन्नता के कार्य किया करते हैं, वह खोजने को तुम्हारी तरह चारों धाम में नहीं भटकते। किसी कवि ने क्या अच्छा कहा है—

प्रीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होय बिदेस।
तन में मन में नैन में, ताको कौन संदेस॥

इन बातों को बुरा न मानकर जो कुछ मैंने लिखा है, उस पर विचार करेंगे और ईश्वर को निकटवर्ती समझ कर ढूँढने का सच्चा प्रयत्न करेंगे। किसी कवि ने क्या अच्छा कहा है "घर ही में जोग मांडे, सोई गुरुजन

है''—आशा है कि आप हठ को छोड़कर कल्याणमार्ग ग्रहण करेंगे और लैहुवाओं का साथ छोड़ेंगे—

देखें, यह मेरी आवाज बहरे कानों तक पहुँचती है या नहीं !

आपका शुभेच्छु—
(ठा०) लल्लो सिंह

पत्रोत्तर का समाधान

श्री मंगलमूर्तये नमः

प्रार्थना-सभा,
काशी
ता० १-१०-५१

मान्यवर ठाकुर साहब !

सादर हरिस्मरण !

आपका कृपापत्र मेरे पत्र के उत्तरस्वरूप मिला। कष्ट के लिये क्षमा प्रार्थना।

आपका पत्र करुणा और क्रोध से भरा हुआ है। ऐसा होना स्वाभाविक है—क्योंकि—'स्नेहो दुःखस्य भाजनम्'। स्नेह के कारण किसी व्यक्ति का क्षणिक वियोग भी बड़ा दुःखद होता है। कर्त्तव्य महान् होता है—उसके आगे किसी के सम्बन्ध का विचार करना ठीक नहीं—उसको पूरा करने में ही सबको परमानन्द मिलता है।

आप हमारे श्रद्धेय तथा हार्दिक शुभचिन्तक हैं। आप प्रत्येक अवस्था में मेरा कल्याण ही चाहेंगे। अब तो ता० १६ अक्टूबर को 'चारों धाम की तीर्थयात्रा' की सारी तैयारी और घोषणा हो चुकी है। स्वास्थ्य ठीक रहते पीछे पैर रखना ठीक नहीं। अतः आप बड़े-बूढ़े से यही नम्र निवेदन है कि मेरे ऊपर क्षोभ करना छोड़ कर शुभाशीर्वाद दें कि यह यात्रा मंगलमय हो। वहाँ से आने पर आपके दर्शन कर सकूँगा। सभी प्रियजनों को आश्वासन और अभिवादन। अधिक क्या !

आपका—
सूर्यबलीसिंह

पिता को पत्र (१)

श्री गणेशाय नमः

हरितीरथ काशी
कार्तिक कृष्ण १५
सम्वत् २००८ वि०

पूज्य पिताजी !

सादर प्रणाम ! यहाँ सब कुशल है। आपके लिये भगवान शंकर से सर्वदा विनय है।

विशेष समाचार यह है कि आप जब से 'चारों धाम की तीर्थयात्रा' के निमित्त काशी छोड़ कर बाहर निकले, तब से हमारा समस्त परिवार दुखी, दुर्बल और चिन्तित हो रहा है। हमारी माता को भूख—और नींद नहीं लगती। उनके मुख-मण्डल पर सदा उदासी की एक रेखा रहती है, जो किसी भी साधन से हम लोगों के द्वारा कभी हटाई नहीं जा सकती। आपके जाते ही उनके ऊपर मानसिक क्लेश का पहाड़ टूट पड़ा है। उनके कोमल स्वभाव में स्पष्ट रूप से चिड़चिड़ापन आ गया है। उन्हें हम बच्चो-बच्चों का वैसा ध्यान नहीं रहा। आपके वियोग का एक क्षण भी एक युग की भाँति उनको बिताना पड़ता है। हम लोगों की शिक्षा-दीक्षा की कोई उचित व्यवस्था नहीं है। ऐसी अवस्था में हम लोगों को आप क्या कहते हैं। आप जो कुछ कर रहे हैं—वह है तो पुनीत, पर उसके कारण हमारी परिस्थिति में जो भयंकर क्रान्ति उत्पन्न हो गई है—उसकी शान्ति का क्या उपाय है?—आप अपने उद्देश्य को सफल बनावें—परन्तु समय-समय पर अपने कृपा-पत्र द्वारा हमारा भी पथ-प्रदर्शन करते रहें—हमें इससे अधिक कुछ भी नहीं कहना है। अन्त में सबका यथायोग्य।

आपकी पुत्री—
'सरोज'

पिता को पत्र (२)

श्री हरिः ।

गान्धी-मार्ग,
कार्तिक कृष्ण ११ सं० २००८ वि०

श्रद्धेय पिताजी !

नित्य-नित्य का प्रणाम ! जय श्री कृष्ण ! यहाँ सब कुशल है । आपका शुभ-समाचार तथा यात्रा-वृत्तान्त जानने की हृदय में लालसा बनी रहती है ।

आज मैं इस पत्र द्वारा आपकी सेवा में कुछ नम्र-निवेदन करना चाहती हूँ, आशा है, आप उस पर अवश्य ध्यान देंगे तथा स्पष्ट कहने के लिये हमें क्षमा प्रदान करेंगे ।

इस पत्र से पहले आपको मेरी बड़ी बहन 'सरोजिनी देवी' का करुणोत्पादक पत्र मिला होगा । उसे सुनकर एक बार पत्थर-हृदय की आँखों से भी आँसू टपक पड़ेंगे—उसने उसकी नकल मेरे पास भेज दी है ।

आप चारों धाम की मंगलमय यात्रा करने पैदल यात्रीमण्डल को साथ लेकर काशी से निकल पड़े—इसमें भगवान् की क्या इच्छा है—मैं नहीं समझ सकती, परन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मेरी माता के ऊपर ५ कन्याओं और २ पुत्रों के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का कठोर भार रखकर जाना बहुत ही दुःखदायी हुआ । घर ऊजड़ वन के समान जान पड़ता है । आपके जाते ही आनन्द की धारा ही मानो सूख सी गई । भारी से भारी कष्ट में आपको देखकर तथा आपके स्नेह-प्रदर्शन से हम सभी लोगों को धैर्य, उत्साह तथा साहस प्राप्त होता था । आज हम अनाथ से हो रहे हैं । क्या कहें । कुछ कहते नहीं बनता !

मथुरा से हमारे वयोवृद्ध नानाजी ने भी मेरी माता के नाम रो-रोकर पत्र लिखा है—उसे मैं आप को सुनाना नहीं चाहती । क्योंकि उनके पत्र

का आशय आप स्वयं समझ गये होंगे। विशेषतः हमारी माता के हृदय की पीड़ा का आपसे बढ़कर कौन अनुभव कर सकता है! इतने लोगों के अन्तःकरण को शान्त करने का क्या उपाय है?—आप हमें शिक्षा के रूप में बतावें। इससे अधिक भी जो कुछ आप हमारे चरित्र को उच्चादर्श बनाने के लिये लिख सकें, वह हमारे लिये पालनीय होगा।

श्रद्धेया माताजी ने गदगद कण्ठ से प्रणाम कहा है। हम सभी बहनों और भाइयों का सप्रेम चरणस्पर्श। बराबर पत्र देते रहें। संग के सभी लोगों को नमस्ते कहें! शीघ्र उत्तर देने की प्रार्थना।

आपकी प्रिय पुत्री—
रजतकुमारी
(पुत्र-वधू ठा० नरजोरसिंह)

दो पुत्रियों को पत्रोत्तर

श्री हरिहर-क्षेत्र
का० शु० ११ सं० २००८ वि०

प्रिय बेटी 'सरोज' तथा "रजत।"

शुभाशीर्वाद। यहाँ सब कुशल है। तुम लोगों के लिये भगवान् शंकर से सदैव प्रार्थना रहती है।

तुम्हारा पत्र यथासमय मिल गया था, परन्तु पैदल यात्रा के कारण बक्सर और आरा से उत्तर न दे सका। अब यहाँ हरिहर-क्षेत्र में गजग्राह महोत्सव तक ठहरना होगा। यहाँ बड़े-बड़े सन्तों तथा महात्माओं के दर्शन और सत्संग का अच्छा लाभ प्राप्त हो रहा है।

तुम्हारे पत्र के पश्चात् तुम्हारी छोटी बहिन 'रस्तो' का भी कानपुर से एक पत्र मिला था। मथुरा से तुम्हारे नानाजी का, काशी से तुम्हारी माता-जी के भी ऐसे ही पत्र प्राप्त हुए हैं। उसमें भी हृदय को द्रवीभूत करने वाला करुणाजनक वर्णन किया गया था। उन सभी तथा तुम दोनों के पत्रों

का उत्तर यों है।—इससे तुम लोगों के अतिरिक्त अन्य बालिकाएँ तथा स्त्रियाँ लाभ उठा सकेंगी !

प्रिय बेटी ! मनुष्य जिस कर्तव्य को धारण कर लेता है—उस पर उसे दृढ़ रहना चाहिये। यदि वह गार्हस्थ्य-जीवन में अनुकूल परिस्थिति की प्रतीक्षा करता रहे तो उसे कभी भी कुछ धर्म-कर्म करने की सुविधा ही नहीं मिल सकती।

शास्त्रों का वचन है—तुम उसे ध्यान से देखो ! उसमें सच्चा सिद्धान्त भरा है।

अजरामरवत्प्राज्ञो, विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।
गृहीत इवकेशेषु, मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

अर्थात् अपने को अजर-अमर समझ कर विद्या-धन को बुद्धिमान् लोग कमावें और जैसे काल शिर के बालों को पकड़ कर खींच रहा हो—धर्म का कार्य सम्पन्न करते रहें। 'शुभस्य शीघ्रम्'—अच्छे काम करने में देर करना उचित नहीं। इसलिये हमारा तुम लोगों के लिये उपदेश है कि निश्चिन्त होकर अपना दैनिक कार्यक्रम बनालो ! इससे तुम्हारा निश्चय ही कल्याण होगा।

नोटः—इनके अतिरिक्त हमारी तीर्थ-यात्रा में हमारे श्रद्धेय गुरु श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी, भक्त प्रवर श्री जयदयालजी गोयनका, भाई श्री हनुमान प्रसादजी पोद्दार "कल्याण" सम्पादक और आदरणीय सेठ श्री छोटेलाल जी कानोड़िया कलकत्ते के भी कृपापत्र मिले, जिनमें उन लोगों ने अपने शुभाशीर्वाद और मंगलमय शुभ सन्देश से हमें यात्रा करने के लिए प्रोत्साहित किया है।

सब कुछ करते हुए प्रातःकाल और सायंकाल भगवत्प्रार्थना का समय सुरक्षित रखो ! क्योंकि हरि-भजन में ही इस संसार में सुख भोगकर आनन्द पूर्वक परलोक जाने का अनुपम गुण है। महामना मालवीयजी, महात्मा गान्धीजी जैसे सत्पुरुषों ने रामायण और गीता के नित्य स्वाध्याय का

आदेश किया है। उन लोगों ने इनके प्रताप से अपना जीवन आदर्श बनाया था।

अब हम कई स्थानों से चुनकर सूर, तुलसी, मीरा, कबीर, नानक, नरसी आदि भक्तों के पदों को लिख देता हूँ। इनके सुन्दर व सरस गायन से हृदय में परमानन्द प्राप्त होता है—वे इस प्रकार हैं:—

भजन

उमा कहौं मैं अनुभव अपना।
सत हरि-भजन और सब सपना॥

(राग अडाणा)

हरि! तुम हरो जन की भीर॥ टेक॥
द्रौपदी की लाज राखी, तुम बढ़ायो चीर॥ १॥
भक्त कारन रूप नरहरि, धर्यो आप सरीर॥ २॥
हरिनकस्यप मार लीन्हों, धर्यो नाँ हिय धीर॥ ३॥
बूड़ते गजराज राख्यो, कियो बाहर नीर॥ ४॥
दास मीरां लाल गिरधर, दुख जहाँ तहँ पीर॥ ५॥

(रागदेश या पूर्वी तीनताल)

नहिं ऐसो जन्म बारम्बार।
क्या जानूँ कछु पुन्य प्रकटे मानुसा अवतार॥
घटत पल-पल, छिजत छिन-छिन चल न लागे बार।
बिरछ के ज्यों पात टूटे नहिं लगे पुनि डार॥
भवसागर अति जोर कहिये विषम ओखी धार!
सुरत का नर बाँध बेड़ा बेगि उतरे पार॥
साधु सन्ता ते महंता चलत करत पुकार।
दासि मीरा लाल गिरधर जीवनो दिन चार॥

(राग आसा-ताल दादरा)

दीनन-दुख-हरन देव सन्तन हितकारी ॥ ध्रु० ॥
अजामील गीध व्याध, इनमें कहो कौन साध ।
पंछी हूँ पद पढ़ात गनीका-सी नारी ॥ १ ॥
ध्रुव के सिर छत्र देत, प्रह्लाद को उबारि लेत ।
भक्त हेत बांध्यो सेत, लंक-पुरी जारी ॥ २ ॥
तंदुल देत रीझि जात, साग-पात सों अघात ।
गिनत नहीं जूटे फल, खाटे मीठे खारी ॥ ३ ॥
गज को जब ग्राह ग्रस्यो, दुस्सासन चीर खच्यो ।
सभा बीच कृष्न कृष्न, द्रौपदी पुकारी ॥ ४ ॥
इतने हरि आय गये, वचपन आरूढ़ भये ।
सूरदास द्वारे ठाढ़ो आंधरो भिखारी ॥ ५ ॥

(आरती)

(यह आरती भी गाने की वस्तु है)

ॐ जयजगदीश हरे !
जय जगदीश हरे. पिता जय जगदीश हरे ।
भक्त जनन के संकट, क्षण में दूर करे ॥ १ ॥
जो ध्यावे फल पावे, दुख विनशे मन का ।
सुख सम्पति घर आवे, कष्ट मिटे तन का ॥ २ ॥
मात-पिता तुम मेरे, शरण गहूँ किसकी ।
तुम बिनु और न दूजा, आस करूँ जिसकी ॥ ३ ॥
तुम पूरण परमात्मा, तुम अन्तर्यामी ।
पारब्रह्म परमेश्वर, तुम सबके स्वामी ॥ ४ ॥
तुम करुणा के सागर, तुम पालन कर्ता ।
दीन दयाल कृपालो, कृपा करो भर्ता ॥ ५ ॥

तुम हो एक अगोचर, सबके प्राण पती।
किस विध मिलूँ दयामय ! तुमको मैं कुमती ॥ ६ ॥
दीनबन्धु दुख हर्ता, तुम रक्षक मेरे।
करुणा हस्त बढ़ाओ, शरण पड़ा तेरे ॥ ७ ॥
विषय विकार मिटाओ, पाप हरो देवा।
श्रद्धा भक्ति बढ़ाओ, संतन की सेवा ॥ ८ ॥

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य उपदेश भी लिखता हूँ, जो तुम्हारे चरित्र-निर्माण में सदा सहायक होगा—

आजकल नगरों का ही नहीं, वरन् कितने ही ग्रामों का भी वातावरण दूषित हो रहा है जो हमारी संस्कृति और सभ्यता को खतरे में डाल रहा है, इससे बचते रहने में ही कुशल है ! एक तो इस देश में अभी यथेष्ट स्त्री-शिक्षा का अभाव ही है। जहाँ देखो सिनेमा, मेले-तमाशे और प्रदर्शिनियों की भरमार है। सिनेमा में अश्लील प्रेम के दृश्य, नाच-गाने द्वारा दिखाये जाते हैं—मेले-तमाशे में गुँडे बदमाशी करने और स्त्रियों को उड़ा ले जाने वाले आया करते हैं और प्रदर्शिनियों में आतिशबाजी आदि के समय भी कई गुँडे आदि स्त्रियों को धक्के दे देते हैं। अतः ऐसे स्थानों पर भी न जाने का ध्यान रखना चाहिये। अपने समय का सद्व्यय ग्रन्थावलोकन में करना चाहिये। वही उत्तम सिद्धान्त है।

पतिव्रता स्त्रियों के लिये उसका पति ही परमात्मा है। वह तो उसी के चरणों में बैठकर समस्त संसार का सुख भोग सकती है। वह उसीके आज्ञापालन से इस लोक और परलोक की शान्ति व मुक्ति हाथ में कर सकती है। यही महान् ऋषि-महर्षियों का सदुपदेश है, जो तुम्हें लिख रहा हूँ। अपने को आर्य महिला बनाने का यत्न करती रहो—यही आदेश और उपदेश है—अन्त में हमारा यही शुभाशीर्वाद है :—

अचल होइ अहिवात तुम्हारा।
जब लगि गंग-जमुन-जल धारा॥

सूर्यबली सिंह

धर्मपत्नी का पत्र

मोहल्ला बड़ा गणेश
लोहटिया—काशी का. शु०
५ सं० २००८ वि०

पूज्य पतिदेव ! हृदयेश !

सेवा में सादर प्रणाम ! अपने कुशल के सम्बन्ध में मैं क्या बताऊँ ! आपके लिये सदैव चिन्ता लगी रहती है।

समाचार यह है कि जब से आप हम लोगों को छोड़कर तीर्थ करने निकले, तब से हम लोगों का शरीर यहाँ और मन आपके पास है। लड़कियाँ नाना प्रकार का प्रश्न किया करती हैं। छोटे-छोटे लड़के आपका स्मरण कर उदास हो जाते हैं ! कभी-कभी आपके स्नेह के लिये तरसते और रोते हैं। उनके मनोभाव को बदलना बड़ा ही कठिन हो जाता है। उनके कारण और भी मेरे हृदय की करुणा बढ़ जाती है।

जब से आप इस घर को छोड़ कर गये तब से यह इन्द्रभवन श्मशान की भाँति सुन-सान हो गया। सुख की सारी सामग्री नीरस और दुःख देने वाली प्रतीत होती है। अब मुझ में अकेले दुःख सहने का सामर्थ्य नहीं रह गया। इसे आप सत्य समझें !

आप जानते हैं कि श्री रामजी के समझाने-बुझाने पर भी सीताजी ने उनका साथ नहीं छोड़ा—उन्होंने कहा—

मैं सुकुमारि नाथ बन योगू।
तुम्हहिं उचित तप मोकहँ भोगू॥

को प्रभु सँग मोहिं चितवन हारा।
सिंह बधुहिं जिमि शशक सियारा ॥
पायँ पखारि बैठि तरु छाहीं।
करिहौं बायु मुदित मन माहीं ॥

इसके पश्चात् जानकीजी उनके संग वन में चलने को तैयार हो गईं। रामजी ने आज्ञा भी दे दी। अतः महीनों बाद मैं निश्चय कर सकी हूँ कि अब मेरा यहाँ रहना उचित नहीं। आप जहाँ रहेंगे, वहीं मैं भी रहूँगी, और जो कुछ कष्ट सहन करना होगा—साथ रह कर सहन करूँगी। अतः मैं यहाँ के घर में ताले लगाकर बच्ची-बच्चों को साथ लेकर आपके पास निकट भविष्य में चली आऊँगी। इसमें अब आपको कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं। इस धृष्ठता के लिये मैं आपसे पहले ही क्षमा चाहती हूँ।

महासती अनसूयाजी ने भी सतीशिरोमणि सीताजी को सिखलाया था।—

अमित दान भर्ता बैदेही।
अधम नारि जो सेव न तेही ॥

अर्थात् पति ही विधाता का दिया हुआ वरदान है। वह नारी जो उसकी सेवा नहीं करती—अधम है। बिना साथ रहे कैसे सेवा हो सकती है। अतः मैं तो अब आप के साथ ही-साथ रहूँगी। घर पर रह कर मैं अपने को अधम नहीं बनाना चाहती। आप ही हमारे जीवन सर्वस्व हैं—दूसरा कोई नहीं!

हम सभी का सब को यथायोग्य। आशा है, आप का स्वास्थ्य-सुधर रहा होगा। शीघ्र आने पर। शुभम्।

आपकी चरण-सेविका
पार्वती (पुरो)

पति का पत्रोत्तर

हरिहर-क्षेत्र
का० शु.
११ सं० २००८ वि०

प्रिय 'सरोज की माँ !'

सप्रेम हरि स्मरण ! तुम्हारा तथा दो लड़कियों का पत्र यथासमय बक्सर और आरा में मिल गया था, पर पैदल यात्रा, सत्संग और कीर्तन के कारण समय न मिल सका कि सबके पत्रों का उत्तर दे सकूँ । खैर !

तुम्हारे पत्र का हृदयोद्गार पढ़कर मेरे मन में चिन्ता हुई ! पत्नी और पति के सम्बन्ध का ऐसा ही स्नेह बन्धन होता है जो हठात् मन को अपनी ओर खींचता है । तुम्हारा कोई दोष नहीं और मेरा भी—

जैसी होत होतव्यता, वैसी मिलै सहाय ।
आप न आवै ताहि पहँ, ताहि तहाँ लै जाय ॥

भगवान् की इच्छा को कौन मिटा सकता है—गुरु वशिष्ठ जी ने भरतजी को राम जी के वन में जाने पर समझाया था—वह इस प्रकार है ।

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कह्यो मुनिनाथ !
हानि-लाभ जीवन-मरण, यश-अपयश विधि-हाथ ।

ये छै बातें विधि-ब्रह्मा के हाथ हैं ? तुम मेरे साथ चल सकती हो । मैंने कभी तुम्हें अस्वीकार नहीं किया, पर बच्ची-बच्चों को साथ लेकर चलने में भारी कठिनाई होगी और तीर्थ-यात्रा में भी गृहस्थाश्रम की सी पूरी अशान्ति रहेगी—फिर आत्मानन्द पाना तो दूर रहा । तुम जैसा सोचो—वैसा करो ! परमात्मा तुम्हें सुबुद्धि दें । मुझे जो कुछ कहना है ; पहले ही मैंने काशी में कह दिया था । 'उर प्रेरक रघुवंश-मणि' उन्हीं की प्रेरणा से सब चल रहा है । सभी लोग सुखी हैं । मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं, पर यथाशक्ति उत्साह और साहस से बराबर चल फिर रहा हूँ । सब लोगों से मेरा यथोचित कहना और उत्तर शीघ्र देना । पूनम तक यहीं वास किया जायगा । पुनः पत्र देंगे !

तुम्हारा—
सूर्यवंशी सिंह

तार

ठा० सूर्यबली सिंह 'नारद'

C/o पोस्ट मास्टर, आरा

कुशल	शीघ्र	उत्तर दें		चिन्ता	है	कहाँ
अधिक	ठहरेंगे					
					सरोजकी	माँ

प्रेषक— पार्वती देवी C/o प्रार्थनासभा
बड़ा गणेश–लोहटिया
बनारस

तार का उत्तर

श्री पार्वती देवी

C/o प्रार्थना-सभा, लोहटिया–बनारस

प्राप्त	कुशल है		चिन्ता	नहीं	पत्र	भेजा है
				एस०	बी०	सिंह

प्रेषक— ठा० सूर्यबली सिंह
C/o पोस्ट मास्टर, आरा
(शाहाबाद)

नोटः—पते के साथ ८ शब्दों का ।।।), पश्चात हर शब्द का एक आना लगता है ।

तार के सम्बन्ध में

आरा
(शाहाबाद)

प्रिये !

हरिस्मरण !

इस तार से पहले तुम्हारा एक पत्र बक्सर और एक आरा में मिल चुका है। बक्सर बड़ा सुन्दर स्थान है। यहीं पर भगवान् रामचन्द्र जी ने ताड़का राक्षसी, सुबाहू आदि राक्षसों को मारा और मारीच को अपने बाण से उड़ा दिया। यज्ञ की रक्षा करने पर महर्षि विश्वामित्र ने उन्हें शास्त्र और शस्त्र की विद्या सिखाई थी। पुराने छोटे वनखण्ड, गंगा तट पर पुराने यज्ञ कुण्ड, रामटीला और थोड़ी दूर पर अहल्योद्धार के स्थान दर्शनीय हैं। आरा आने पर कई स्थान, पुस्तकालय, जैनियों के मन्दिर देखने में आये। यहाँ धर्मशाले में ठहर कर दो दिन तक कीर्तन हुए। एक दिन श्री सूर्यनारायण के प्रसिद्ध पूजन और जलूस में भी भाग लिया। अब हरिहर क्षेत्र जाने की तैयारी है।

तार का उत्तर तो मैंने तार द्वारा दे दिया। अब कुछ डाक सम्बन्धी जानकारी की बातें लिख रहा हूँ। उन पर ध्यान देना।—

तुमने तार हिन्दी में भेज कर अपने राष्ट्र भाषा-प्रेम का अच्छा परिचय दिया। जवाबी तार भी दिये जाते हैं। तार में प्रति शब्द –) लगता है। ।।।) से कम का तार नहीं जा सकता। तार-मास्टर तार के शब्द गिनकर जितना दाम बताते हैं, उतने का डाक टिकट खरीद कर फार्म पर सटाना पड़ता है। खाना पूरी करना बहुत जरूरी है। पोस्ट आफिस का फार्म न हो तो ऊपर दिये गये नक्शे के अनुसार कागज पर पटरी से बना लेना चाहिये। कोई आपत्ति नहीं।

देखो, सरकारी कार्ड)।।। पैसे और लिफाफे ≈) में मिलते हैं। सादे कार्ड व लिफाफे पर उतने ही के टिकट लगाये जाते हैं। इक्सप्रेस डिली-

री के लिये ≈) का विशेष टिकट लगाने से चिट्ठी उसी समय जल्दी पहुँचाई जाती है। हवाई जहाज से भी चिट्ठियाँ भेजी जाती हैं। विदेश और बुक पोस्ट पर फी पाँच तोले पर)|||| पैसे का टिकट लगता है। पार्सल पर प्रति सेर अपने देश में ||) और आध सेर पर ।) पोस्टेज होना चाहिये। रजिस्ट्री के लिये पोस्ट कार्ड, लिफाफे और पैकेट आदि पर ।)|| का टिकट लगाना पड़ता है। मनीआर्डर फीस का नियम इस प्रकार है— १) से १०) तक ≈), ११) से २५) तक ।) २६) से ५०) तक ||) और १००) तक १) देना पड़ता है। विशेष बातें पोस्ट और टेलिग्राफ गाइड में छपी रहती हैं। डाकखाने में पूछ-ताछ विभाग से पूछने पर भी नियम ज्ञात होते हैं। बाहर जाने पर C/O पोस्ट मास्टर व स्टेशन मास्टर तथा धर्मशाला के नाम चिट्ठियाँ मँगाने से सहूलियत से मिल जाती हैं।

सू० ब० सिंह

लिफाफा

प्राइवेट-पत्र

२ आने का
स्टैम्प

सेवा में :—

प्रेषिका :—
रजतकुमारी देवी
C/O प्रार्थना-सभा,
लोहटिया, बड़ागणेश
बनारस

श्रीमान् ठा० बरजोरसिंहजी 'सरल'
'साहित्यरत्न' महोदय
९६।६ महात्मा गान्धी मार्ग
(चन्द्रिका-उद्यान)
कानपुर

पुत्र-बधू का श्वसुर को पत्र

(श्री रामजी)

बनारस

१३-७-५२

श्री मान्यवर पिता जी !

सादर प्रणाम ।

आप की सेवा में मैंने एक लेटर भेजा था, लेकिन उसका कोई समाचार ज्ञात न हुआ । शायद आप को छुट्टी नहीं मिली, इसी से आप ने मेरे पत्र का उत्तर न दिया । भैया का भी एक पत्र आया था, उसका उत्तर मैंने शिघ्र ही दिया था । भैया के पत्र में कुछ ऐसी अनुचित बातें लिखी थीं, जिनको पढ़कर मेरे हृदय में अधिक कष्ट हुआ । शायद आप को यह सभी बातें मालूम हों और यदि मालूम न हो तो आश्चर्य की बात है ।

इसे मैं आपको बताए देती हूँ । क्योंकि यह सभी बातें पेट में रखने लायक नहीं हैं । उन्होंने लिखा था, कि जब दुलहिन आई तो २५ वर्ष का पुराना बक्स और सभी पुरानी धोतियाँ और वस्त्र लेकर आई थीं, यह सुनकर मेरी माता व मेरे पिता को भी कष्ट हुआ । आखिर यह सभी बातें लिखने से क्या लाभ हुआ । एक लड़ाई बनकर सामने खड़ी हो गई, जब मैं आप के घर थी तो अक्सर यह बातें सुनने में आया करती थीं, लेकिन मैंने किसी से कुछ न कहा और यह सभी बातें अपने पेट में रक्खीं, लेकिन फिर भी पत्र में लिख दिया गया और मौसा जो भी आए थे उनसे भी कोई ऐसी (अनुचित) बातें नहीं कहीं जिससे कि बुराई पैदा हो । यही बात कही थी कि लड़की आई और उसके साथ कुछ भी (वस्त्र) न था और वाकई में न था । जो बातें देखी गईं, वह कही गईं । जब मैं

यहाँ पर आई तो मेरी बहन की शादी और मेरे पास कपड़ा नहीं। माता-पिता की गरीबी हालत थी, तो मैं किस प्रकार माँग सकती थी। मैं चुप थी और ब्याह-शादी बीत गई। यह सब बातें सभी घर वालों को मालुम हो गईं।'

भैया का इधर कोई पत्र नहीं आया! शायद उन्हीं सभी बातों से नाराज हो गए हैं। आप से मैं प्रार्थना करती हूँ कि आप भैया को समझा दीजिएगा। फिर कभी यह सब बातें न लिखें। क्योंकि बाद में आप ही लोग कहते हैं कि हमारे ही घर से यह सभी बातें उठती हैं। अब ध्यान से सोचिएगा कि यह बात कहाँ से उठीं और कैसे उठीं। मैं तो किसीसे भी कपड़ा और पैसा नहीं मागूँगी। जो मेरे पास होगा, उसी से अपना पालन''''''। भैया ने लिखा था कि वहीं पर किताबें मँगवा कर पढ़ना तो हमारे पिता जी की इतनी औकात नहीं है कि सभी भाई-बहनों को पढ़ावें, किसी सूरत से तो घर का खर्चा चलता है। इसीमें हम उनसे किताबों के लिए रुपया मागें तो यह मैं उचित नहीं समझती। इसी लिए मैं आप से प्रार्थना करती हूँ। आशा है स्वीकार अवश्य करेंगे या तो आप रु० ही भेज दीजिये या पुस्तक। मैं यहाँ पर पढ़ूँगी। मैं वहाँ पर थी तो माता जी ने कहा था कि अब की वहीं पर पढ़ना। सभी किताबें १६ रू० की मिल रही हैं। जल्दी ही भेजियेगा।

अगर आप समझदार होंगे तो सभी बात समझेंगे, नहीं तो,कुछ नहीं। ज्यादा क्या लिखूँ, सभी को प्रणाम और छोटों को प्यार।

आप की—

रजत कुमारी

(छोटी दुलहिन)

लिफाफा

२ आने का
लिफाफा

प्रेषक :—
बरजोर सिंह
चुन्नीगंज—गान्धीमार्ग
कानपुर

श्रीमती रजतकुमारी
C/O डा० सूर्य्यबली सिंह
बड़ागणेश, लोहटिया
बनारस

श्वसुर का उत्तर

सौभाग्यवती छोटी दुलहिन ! कानपुर
आशीर्वाद । २७।७।५२

तुम्हारा पत्र आया। समाचार विदित हुए। पत्र पढ़कर प्रसन्नता हुई। मेरे पास यह तुम्हारा पहिला ही पत्र है। नहीं तो उत्तर अवश्य देता। भैया ने यदि इधर-उधर की बातें लिखी हैं तो अच्छा नहीं किया। मुझे यह सब बातें नहीं मालूम। तुम्हें कष्ट हुआ, यह सुनकर मुझे दुःख हुआ। आशा है तुम अपने हृदय को शान्त करोगी। और उसका कुछ ध्यान न करोगी। तुमने जो बातें अपने हृदय में रक्खीं वह बहुत ही अच्छी बात है। यही बड़प्पन है। गम्भीरता ही स्त्री का भूषण है। जब तुम बहुत घबड़ा गई थी तब मैंने इसी कारण से जाने के एक दिन पहिले हमने तुम्हें डाँटा था। किन्तु इन सब बातों का मतलब यह नहीं है कि तुम्हारे प्रेम में और मेरे प्यार में कोई कमी आ गई है। भैया

में बहुत ही लड़कपन है। गम्भीरता उनमें कम है, किन्तु हृदय स्वच्छ है। उन्हें कभी न कभी समझ तो आवेगी ही! अतएव उनकी बातों को तुम अपने हृदय में मत रखना। क्योंकि तुम्हारा और इन लोगों का तो जन्म का साथ रहेगा। फिर भी तुम्हारे वह बड़े हैं। रह गया तुम्हारी माताजी को उन्होंने जो बात लिखी उसका हमें दुख है। माता जी की बात क्या कहें। उनकी समझ। मौके से समझा देंगे!

इधर १२ तारीख को लिखी १७ ता० को लाल भैया की चिट्ठी बम्बई से हम लोगों के पास आई है। तुम्हारी माता जी ३, ४ दिन से बहुत ही रोती हैं, लाल भैया के लिए। उनकी चिट्ठी में सब हाल अच्छा है। खाने-रहने का प्रबन्ध है—स्वास्थ्य भी ठीक है किन्तु माता-पिता का हृदय नहीं मानता। और कोई बात नहीं है। मेरे एक दोस्त २५ ता० को बम्बई पहुँचेंगे। उनके हाथ रुपया भी भेज रहा हूँ। यदि वह एक सप्ताह तक नहीं ठीक से सूचना अपने कार्य की देंगे, तो मैंने जाना निश्चय कर लिया है, आज तैयारी भी हो गई थी, किन्तु तुम्हारी माता जी वगैरः ने रोक दिया, क्योंकि मेरे व्रत का आज १५ वाँ दिन है, केवल दूध और नीबू लेता हूँ, स्वास्थ्य ठीक है। कल से एक सप्ताह साग सब्जी लूँगा, उसके बाद अन्न, और १, २ अगस्त को बम्बई अवश्य चला जाऊँगा। मामा जी भी प्रयाग से जायँगे, आज उन्हें पत्र लिख रहा हूँ। मैंने पत्र ध्यान से पढ़ा। बाबू जी के स्वास्थ्य की बात सुनकर चिन्ता हुई। तुम उनसे कुछ मत कहना। मैं जाने के पहिले कुछ भेजूँगा। वह केवल व्यय होगा, तुम पुस्तकों की चिन्ता मत करना। मैं यहीं खरीदूँगा, तुम्हें परीक्षा मार्च सन् १९५३ ई० में देना है। अभी आरम्भ करो और माता-पिता की सेवा करो। मैं लौटते ही अच्छे दिन में एक मास के अन्दर ही तुम्हें बिदा कराने आऊँगा। शेष आनन्द है। सबको आशीर्वाद कहना। माता-पिता से यथायोग्य। यहाँ के सब लोगों का आशीर्वाद। माताजी का सबको नमस्ते। बच्चों को आशीर्वाद, तथा नमस्ते।

आशीर्वादक—
बरजोर सिंह

प्रेमिका की चिट्ठी का उत्तर

[लेखक—कविवर 'चंचरीक']

(यह प्रेम-पत्र कपोल-कल्पित नहीं, बिल्कुल सच्चा है। इसकी लाइन-लाइन में कितनी सौम्यता और सरलता है! दोनों ओर में प्रेम-विभोर होने की मस्ती में तारीख लिखने की भूल हुई है। ऐसी भूलें तो तो प्रेमियों के लिए अनिवार्य है।—सं०)

काशी-कैलाश

..................३७

श्रीमान्,

प्रेम—

मैं कुशल-क्षेम से हूँ, आपकी कुशलता चाहती हूँ। आपका कृपा-पत्र भट्टजी के द्वारा उपलब्ध हुआ और आज एक सुन्दर कविता भी श्री पाण्डेयजी के सुन्दर हाथों से मिली। क्षमा कीजियेगा, मैंने आपके पहले पत्र का उत्तर नहीं दिया। कुछ ऐसे ही कारणवश। इससे आप यह न समझियेगा कि मैं आपको भूल गई हूँ। भला आप कभी भूलने वाले हैं? आपने तो मेरे हृदय में साहित्य का सरोवर बहा दिया है। राष्ट्रीयता का शंख फूँक दिया है। इसके लिए सप्रेम मेरा धन्यवाद स्वीकार कीजिये।

आपके दर्शनों की इच्छा है। देखें, उसे ईश्वर कब पूरा करता है।

आपकी वही—

शैल

गोरखपुर
.........३७

स्नेहमयी श्रीमतीजी,

प्रेम—

[१]

प्रिय प्रेम-पत्र प्रेमी के हाथों से मैंने पाया।
पाते ही हर्षित होकर छाती से उसे लगाया॥
पढ़ते ही पढ़ते-पढ़ते आनन्द लहर लहराई।
मानो सहसा खोई निधि जिसने अपनी हो पाई॥

[२]

है प्रेम-पत्र वा किम्वा? जादू है! उच्चाटन है!
है यन्त्र अनोखा कोई? वा तन्त्र-मन्त्र मारन है!!
पहचाना इन आँखों ने—कर-कमलों का वह लिखना!
जागृत में उसको पाकर, मैं देख रहा हूँ सपना!!

[३]

वह भूली नहीं हमें है नित प्रति की सारी बातें!
आशा की आशा में ही कितनी बीती हैं रातें!!
संगीत-काव्य धारा में था गोता निसि-दिन लगता!
जागती अमा की रजनी, 'पूर्णिमा' हमेशा रहता!!

[४]

प्रेयसि! मेरी लम्बी है जीवन की करुण-कहानी।
कुछ छिपी नहीं है तुमसे, जो ठान इधर है ठानी॥
जपता रहता हूँ निशि-दिन तेरे नामों की माला।
पीने को सदा तरसता, मस्ती का मनहर प्याला॥

[५]

इस जीवन-युग में मैंने कितने धक्के हैं खाये!
अपने दिल की भट्ठी में रहता हूँ आग छिपाये!!

मुझको विश्वास नहीं है मेरा संसार बसेगा !
मेरे सूखे आँगन में क्या कभी मेह बरसेगा !!

[६]

जगमग वह ज्योति तुम्हारी आँखों में नित रहती है !
वेदना, कसक ले करके, अन्तरतर में उठती है !!
जी में आता है केवल, बस साथ तुम्हारे डोलूँ !
हो बन्द हृदय के भीतर रस की वह टंकी खोलूँ !!

[७]

मैं रस-लोभी भौंरा हूँ तुम मंजु कमलिनी-रानी !
बस मुझे क्षमा दे देना, यदि कर बैठूँ नादानी !!
मेरी भी तो इच्छा है, दर्शन की प्रेम-मिलन की !
चातक बन सदा तड़पता, है होश नहीं तन-मन की !!

[८]

प्रेयसि ! बड़भागी है वह चिट्ठी का लानेवाला !
झूमता सदा मस्ती में रस का बरसाने वाला !!
कितना सुन्दर मनहर है वह प्यारा काकुलवाला !
उसने तो खूब निबाहा, बन करके 'दूत' निराला !!

[९]

अपनी यह जीवन-नइया, दी मैंने छोड़ लहर में !
तेजी से उछल रही है, पड़ करके कठिन भँवर में !!
बस केवल हाथों में है इसका पतवार तुम्हारे !
मझधार डुबा दो चाहे, वा कर दो इसे किनारे !!

[१०]

प्रेयसि, तुम सुख से रहना, ईश्वर से यही विनय है !
है ध्येय हमारा पक्का तेरे ही लय में लय है !!

अब अधिक नहीं लिख सकता, हूँ बन्द लेखनी करता।
मतवाला-पागल होकर पीड़ा से पीड़ित रहता !!

आपका भूला हुआ—
'चंचरीक'

स्त्री की दर्द भरी चिट्ठियाँ

[लेखक—श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान]

शहर में प्लेग था ! लोग धड़ाधड़ मर रहे थे। बीमारी भी ऐसी थी—बीमार पड़ते ही लाश निकलते देर न लगती। सब लोग शहर छोड़-छोड़ कर बाहर बँगले में या झोपड़े बनाकर रहने के लिए भागने लगे। न चाहते हुए मुझे शहर छोड़ना पड़ा। मुझे यहाँ से वहाँ भागना अच्छा न लगता था। घर में मैंने सबको प्लेग का टीका लगवा दिया था और शाम को ५-५ बूँद प्लेगकिओर भी पिला दिया करता था। इच्छा थी कि शहर में बना रहूँ। कौन यहाँ से भागने की झंझट करे। वैसे ही खर्च के मारे हैरान था। फिर और लोगों की तरह मैं झोपड़ा बनाकर भी तो न रह सकता था। बंगलों की शान में फरक न पड़ जाता ? रहना तो मुझे बँगले पर ही पड़ेगा, और इन दिनों बँगले पर ही पड़ेगा, और इन दिनों बँगले के मालिकों का दिमाग तो सातवें आसमान पर ही रहता है—१००), ७५) और ५०) से नीचे तो वह बात ही नहीं करते फिर आज-कल की आमदनी में किराये का कम-से-कम ५०) माहवारी ही रख लो तो ४ महीने में २००) हो जाते हैं। मुश्किल ही समझो, पर करता क्या ? अपने प्रयत्न भर तो मैंने शहर में ही रहे आने की कोशिश की, पर मेरी स्त्री न मानी। उसने, जब तक मैं मकान बदल कर बँगले पर रहने न चला गया, मेरा खाना-पीना और सोना हराम कर दिया। उसकी एक ज़रा-

सी बच्ची थी, जिसके लिए वह इतनी व्याकुल रहती—जैसे सारे शहर-भर का प्लेग उसी पर फट पड़ेगा।

\+ \+ \+

कचहरी की छुट्टी थी। मैं अपने आफिसवाले कमरे में एक नौकर की सहायता से अपनी कानून की किताबें जमा रहा था। कमरे में कई आलमारियाँ थीं। मैं उन्हें साफ करवा के वहाँ अपनी पुस्तकें और अन्य वस्तुएँ तरतीबवार रखवा रहा था। उन आलमारियों से रद्दी कागजों के साथ एक लिफाफा भी वजन में जरा भारी होने के कारण खट से नीचे गिर पड़ा। मैंने उसे गिरते देखा, किन्तु उदासीन भाव से फिर अपने काम में लग गया। मैं कमरे से बाहर जाने लगा—लिफाफा फिर मेरे पैरों से टकराया, इस बार मैंने उसे उठा लिया, उठाकर देखा तो ऊपर किसी का भी पता तो न था, पर वह मजबूत डोरे से कसकर बाँधा गया था और गाँठ के ऊपर चपड़े से सील लगी हुई थी। लिफाफे को उठाकर मैंने जेब में रख लिया। दिनभर कार्य की अधिकता के कारण मुझे उसकी याद ही न रही।

[२]

शाम को जब मैं भोजन करके लेटा तो क्रम-क्रम से दिनभर की घटनाओं पर विचार करने लगा। एकाएक मुझे उस लिफाफे की याद आ गई। मैंने बिस्तर से उठकर जेब से लिफाफा निकाला और कैंची से धागे को काट कर सावधानी से खोला, देखा तो उसमें किसी स्त्री के लिखे हुए कुछ पत्र थे। उत्सुकता और बढ़ी। मैंने पत्रों को तारीखवार पढ़ना आरम्भ किया। पहला पत्र इस प्रकार था।

शान्ति-सरोवर
१।९।३१

मेरे देवता !

मुझे मालूम है कि आप मुझसे नाराज हैं। थोड़ा भी नहीं बहुत अधिक। यहाँ तक कि आप दो अक्षर लिखकर अपना कुशल-समाचार

देना भी उचित नहीं समझते। आपकी इस नाराजी का कारण भी मुझसे छिपा नहीं है।

मैं ही जानती हूँ कि किन परिस्थितियों में पड़कर मैं आपकी आज्ञा का उल्लंघन कर रही हूँ। यदि आप मेरे स्थान पर होते तो आप भी वही करते जो मैं करती हूँ।

अन्तमें आपसे यही निवेदन करती हूँ कि आप मुझसे नाराज न हो। अपने कुशल समाचार का पत्र भेजकर अनुगृहीत करें।

आपकी ही—
प्रमिला

पत्र २

शान्ति सरोवर
१०।९।३१

मेरे सर्वस्व !

उस दिन पत्र भेजकर कई दिनों तक उत्तर की प्रतीक्षा करती रही, किन्तु आज तक आपका एक भी पत्र नहीं मिला। उत्सुक नेत्रों से रोज पोस्टमैन की राह देखती हूँ। वह आता है और मेरे दरवाजे की तरफ बिना मुड़े हुए ही चला जाता है। सबके पास चिट्ठियाँ आती हैं परन्तु मेरे पत्थर के देवता ! आप न पसीजे। आपका पत्र एक भी न आया, न जाने कितने तरह के विचार आपके दिमाग में आते और जाते होंगे, और आप न-जाने क्या क्या सोच रहे होंगे। कदाचित् आप सोचते हों कि मैं बड़ी अकृतज्ञ, मूर्खा और अभिमानिनी हूँ; जिन लोगों ने मेरे साथ इतनी भलाई की, मुझे सर आँखों पर रक्खा, इन्हीं के साथ मैं कृतघ्नता कर रही हूँ। यही न ? किन्तु मैं क्या करूँ ? मैं परवश हूँ। पत्र में कुछ लिख नहीं सकती। यदि आप कभी मुझसे मिलने का कष्ट करेंगे, अपने चरणों के दर्शन का सौभाग्य देंगे, तब मैं आपके चरणों पर सर रखकर आपको समझा दूँगी—आपको बतला दूँगी कि मैं अपराधिनी

नहीं हूँ; तब आप जान सकेंगे कि मैं कितनी विवश और कितनी निरुपाय हूँ। नाराज तो उसी से हुआ जाता है जो नाराजी सह सके। समय पाकर चरणों पर सर रखकर अपने अपराधों को क्षमा करवा सके। किन्तु आप नाराज हैं ? मुझसे ! जो न-जानें कितने मील की दूरी पर है। जो हर प्रकार से विवश है, जिसे आपको छूने तक का अधिकार नहीं, जो केवल आपकी कृपादृष्टि की भिखारिणी है। आह ! यदि आप मेरी विवशता का कुछ भी अनुभव करते...।

आप मुझसे हँसकर बातें करते हैं। मैं हँस देती हूँ, अपने को धन्य समझती हूँ। कल से आप मुझसे बात ही न करना चाहें तो मैं आपका क्या कर सकती हूँ ? मुझे क्या अधिकार है सिवा इसके कि कलेजे पर पत्थर रखकर, सब चुपचाप सह लूँ। मैं खुलकर रो भी नहीं सकती। मुझे इतना भी तो अधिकार नहीं है। आपने नाराज होकर पत्र लिखना बन्द कर दिया है, कल यदि आपको मेरी शक्ल से भी नफरत हो जाय तो भला सिवा रोने के मेरे पास और क्या बच रहेगा ! मुझ सरीखी तो आपके घर चार दासियाँ होंगी। किन्तु मेरी दुनिया में कौन है ? मैं तो घर-बाहर की ठुकराई अभागिनी अबला हूँ। आपने दया करके मुझे सम्मान, आदर और अपने हृदय में आश्रय दिया है। उसे इस निर्दयता से न छीनिये। एक बार मुझसे मिल लीजिए। इसके बाद जैसी आपकी धारणा हो वैसा किजिए। आप मुझे जिस दंड की अधिकारिणी समझेंगे मैं उसे सहने के लिए तैयार हूँ। यदि आप मुझे अपने चरणों से दूर कर देंगे तब भी मैं आपकी ही रहूँगी। समाज की आँखों में नहीं, किन्तु अपनी और परमात्मा की आँखों में ! आप मुझे भले ही अपनी न समझें, परन्तु मैं तो आजीवन आपको देवता की तरह पूजती रहूँगी। मेरा अटल विश्वास है कि आप सब के होने के बाद थोड़े से मेरे भी हैं कभी साल छः महीने में मिनट-दो मिनट के लिए ही सही, मुझे भी आपके चरणों की सेवा करने का अधिकार है।

उत्तर की प्रतीक्षा में

अभागिनी प्रमिला

पत्र ३

शान्ति सरोवर
३०।९।४१

मेरे स्वामी !

यह तो हो ही नहीं सकता कि मेरे पत्र आपको मिलते ही न हों। क्षण-भर के लिए यह मान भी लिया कि मेरे पत्र आपको मिले ही नहीं। फिर भी क्या एक कार्ड पर दो शब्द लिखकर आप मेरे पत्र न भेजने का कारण न पूछ सकते थे ? खैर, आप अपनी मनमानी कर लीजिये। मैं हूँ भी इसी के योग्य; कहा भी गया है—जैसा देव वैसी पूजा। आपने मुझे ठुकरा कर, मेरी अवहेलना करके उचित ही किया है। इसमें मैं आपको दोष कैसे दूँ ? जिसका जन्म ही अपमान, अवहेलना और अनादर सहने के लिये हुआ हो, वह उससे अधिक अच्छी वस्तु की आशा ही क्यों करे ? मैं अपने आपको भूल गई थी। आज मेरी आँखें खुल गईं। मुझे अपनी थाह मिल गई। मेरी समझ में आ गया कि मैं कहाँ हूँ।

परमात्मा ने स्त्री-जाति के हृदय में इतना विश्वास, इतनी कोमलता और इतना प्रेम शायद इसीलिये भर दिया है। कि वह पग-पग पर ठुक-राई जावें जिस देवता के चरणों पर हम अपना सर्वस्व चढ़ाकर, केवल उसकी कृपा-दृष्टि की भिखारिणी बनती हैं वही हमारी तरफ आँख उठाकर देखने में भी अपना अपमान समझता है। माना कि मैं समाज की आँखों में आपकी कोई नहीं। किन्तु एक बार अपना हृदय तो टटोलिये, और सच बतलाइये, और सच बतलाइये, क्या मैं आपकी कोई नहीं हूँ। समाज के सामने अग्नि को साक्षी देकर हम विवाह-सूत्र में अवश्य नहीं बँधे, किन्तु शिवजी की मूर्ति के सामने भगवान् शंकर को साक्षी बताकर क्या आपने मुझे नहीं अपनाया था ? यह बात गलत तो नहीं ? मैं जानती हूँ कि आप यदि मुझसे बिलकुल न बोलना चाहें, किसी तरह का भी सम्बन्ध न रखना चाहें तब भी मैं आपका कुछ नहीं कर सकती। यदि किसी

से कुछ कहने भी जाऊँ तो सिवा अपमान और तिरस्कार के मुझे क्या मिलेगा ? आपको तो कोई कुछ भी न कहेगा, आप फिर भी समाज में सिर ऊँचा करके बैठ सकेंगे। किन्तु मेरे लिये कौन-सा स्थान रहेगा ? अभी एक रूखा-सूखा टुकड़ा खाकर जहाँ रात को सो रहती हूँ, फिर वहाँ से भी ठोकर मारकर निकाल दी जाऊँगी, और उसके बाद गली-गली की भिखारिन बन जाने के अतिरिक्त मेरे पास दूसरा क्या साधन बच रहेगा ? सम्भव है आप आज मुझे दुराचारिणी या पापिनी समझते हों; और इसीलिए बहुत सोच-विचार के बाद आपने मुझसे सम्बन्ध-त्याग में ही कुशलता समझी हो, और पत्र लिखना बन्द कर दिया हो।

खैर, आप मुझे कुछ भी समझें, किन्तु ऊपर से परमात्मा देखता है कि मैं क्या हूँ ! दुराचारिणी हूँ, या नहीं पापिनी हूँ या क्या ? इसका साक्षी तो ईश्वर ही है, मैं अपने मुँह से अपनी सफाई क्या दूँ ? अब केवल यही प्रार्थना है कि मुझे क्षमा करना, मेरी त्रुटियों पर ध्यान न देना ; और कृपा कर मेरे पत्र का उत्तर भी न देना। क्योंकि अब आपका पत्र पढ़ने के लिये, शायद मैं संसार में भी न रहूँ।

अभागिनी—

प्रमिला

---

[३]

पत्र पढ़कर मैंने एक ठंडी साँस ली और करवट बदली। देखा—न जाने कब से मेरी स्त्री सुशीला मेरे सिरहाने खड़ी है। मुझे देखते ही वह भागी। मैंने दौड़कर उसकी धोती पकड़ ली और उसे पलँग तक खींच लाया। उसे जबरन पलँग पर बैठा कर मैंने पूछा—'तुम भागी क्यों जा रही थी ?'

'तुम बड़े कठोर हो' उसने मुँह फेरे-ही-फेरे उत्तर दिया।

'क्यों ?' मैंने उसका मुँह अपनी तरफ करते हुए पूछा—

'मैं कठोर कैसे हूँ ?'

अपनी आँखों के आँसू पोंछती हुई वह बोली—

'यदि तुम निभा नहीं सकते थे तो उस बेचारी को इस रास्ते पर घसीटा ही क्यों ?'

मुझे हँसी आ गई, हालाँकि प्रमीला के पत्रों को पढ़ने के बाद मेरे हृदय में भी एक प्रकार का दर्द-सा हो रहा था। मुझे स्त्रियों की असहायता, उनकी विवशता और उनके कष्टों से बड़ी तीव्र, मार्मिक पीड़ा हो रही थी। मैंने किञ्चित मुस्कराकर कहा—

'पगली ! यह पत्र मेरे लिये नहीं लिखे गये !'

उसकी भवें तन गईं, बोली—

'तो भला छिपाते क्यों हो ? क्या मैं बुरा मानती हूँ ! बुरा मानती हूँ ! जरूर यदि मैं प्रमीला के पत्र न पढ़ चुकी होती। पत्र पढ़ने के बाद तो मुझे उसपर क्रोध के बदले दया ही आती है। तुम यदि मुझे उसका पता बता दो तो मैं स्वयं उसे यहाँ लिवा लाऊँ। बेचारी का जीवन कितना दुःखी है।'

मैंने कहा—'भला मैंने कभी तुमसे झूठ भी बोला है। यह पत्र मुझे आज इसी कोठरी में रद्दी कागजों में मिले हैं। जिस लिफाफे में ये बन्द थे वह भी यह है—देखो।' यह कहते हुए मैंने लिफाफा उठाकर सुशीला के सामने रख दिया। सुशीला ने एक बार लिफाफे की ओर और फिर मेरी ओर देखते हुए कहा—

'तुम्हीं क्या, पुरुष मात्र ही कठोर होते हैं।

प्रेमलोक

[लेखक—सूर्य्यबली सिंह]

(काल्पनिक पत्र)

गोदौलिया
बनारस ।

प्यारे

पत्र मिला, प्रसन्नता हुई। प्रेम में प्रेरित होकर आपका यह लिखना कि मैं आपको भूल-सी गई हूँ, इसका उत्तर हृदय पर हाथ रखकर पहले अपने मन से पूछिये और फिर हृदय से हृदय, और आँख से आँख मिलाकर मेरे मन में घुसकर देखिये कि मैं आपको भूली हुई हूँ या आपके चित्र को मैंने प्रेम की वेदी पर सजाकर रखा है। अस्तु, हम दोनों में भेद केवल इतना है कि आप एम० ए० पास करके निश्चित होकर रिसर्च में लगे हैं और मैं बी० ए० पास करने की चिन्ता में उलझी हुई हूँ। इस पर भी अगर आप यह खयाल करें कि मैं आपको भूली हुई हूँ तो मुझे किसी कवि का नीचे लिखकर सन्तोष कर लेना होगा।

तुझमें मैं और मुझमें तू आँखें मिलाकर देख ले।
और गर देखे न तू तो मुझ पै है इल्ज़ाम क्या॥

इस बार एक बहुत मजे की बात आपने लिखी है। वह यह कि मुझे रोनी सूरत बनाने का निष्फल प्रयत्न आपने किया है। ज्ञात होता है कि आपको किसी प्रकार यह मालूम हो गया है कि मैं आज कल रोनी शक्लों का एक अल्बम् तैयार कर रही हूँ। इसलिए यह फिकरा मुझ पर कैसा है! ध्यान रहे कि रोते को हँसाने वाली रोनी सूरतें मैंने आपके हँसाने के लिए ही एकत्रित की हैं, जिन्हें गर्मियों की छुट्टी में आपके आने पर दिखाकर हँसाऊँगी सच मानिये, आप अपनी शक्ल देखकर, हँसी के मारे लोट-पोट हो जायँगे।

इस पत्र में मुझे अधिक लिखना था, अतः आपकी मीठी चुटकियों का कहाँ तक उत्तर दूँ, यह बात पत्र लिखते समय मैं सोच रही थी। इतनेमें एक पुराना शेर मुझे याद आ गया, जिसे लिखे देती हूँ। इसी में आप मेरा उत्तर कृपया समझ लें।

यूँ तो ऐ सय्याद आजादी में हैं लाखों मजे।
*दाम के नीचे फड़कने का तमाशा और है॥

ये तो हुईं आपके पत्र की बातें, अब मतलब की बात सुनिये। आप जानते ही हैं कि आजकल नवशिक्षितों में प्रेम के सम्बन्ध में काफी दिलचस्पी है। कालेज डिबेटिंग सोसाइटी में इसी विषय पर अगले मास वादानुवाद होगा। कम्बख्तों की मार, प्रेम पर निबन्ध लिखने के लिए आग्रहपूर्वक मुझसे भी कहा गया है। घबड़ा रही हूँ कि प्रेम ऐसे गहन विषय पर मैं क्या लिख सकूँगी।

जो भी हो, लिखना तो पड़ेगा ही। यह सन्तोष की बात है कि आपके पत्रों में प्रेम के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ चर्चा रहने से उनसे मुझे इस अवसर पर मदद मिल जायगी, फिर भी मुझे अपने निबन्ध के लिए आपकी सहायता की आवश्यकता है।

किसी पत्र में आपने लिखा था कि प्रेम की खोज करनेवालों ने प्रकृति (Matter) में लगाये गये प्रेम को पार्थिव (इश्केमजाजी) और (Force) में लगाये गये प्रेम को पारमार्थिक (इश्के-हकीकी) माना है और जिस प्रकार कि विद्यार्थी को आरम्भ में स्थूल और बाद में सूक्ष्म बातों का ज्ञान कराया जाता है उसी प्रकार पारमार्थिक प्रेम को समझने के लिए पहले पार्थिव प्रेम को समझ लेना जरूरी है। मैं चाहती हूँ कि इस सम्बन्ध में आप कुछ और अधिक प्रकाश डालने के साथ-साथ नीचे लिखी मेरी शंकाओं को भी कृपया दूर करें, ताकि मुझे अपने निबन्ध में सहायता मिल सके।

* दाम = जाल।

कहा जाता है कि विषयों में जो सुख है वह इन्द्रियों का है, प्रेम का नहीं। इस इन्द्रिय-सुख में मनुष्य क्या पशु-पक्षी तक सभी लिप्त हैं। भोग वास्तव में पशुओं का धर्म है, इसीलिए उन्हें भोग-योनि माना गया है, किन्तु मनुष्य भोग में गति रखने के अतिरिक्त कर्म में भी गति रखता है और इसके द्वारा वह अपने को पशु से मनुष्य बना सकता है। इसीलिए मनुष्य को कर्मयोनि माना गया है। भोग में लीन मनुष्य आकृति में तो मनुष्य है, पर स्वभाव में पशु। किसी कवि ने कहा है—

क्या हँसी आती है मुझको हजरते इन्सान पर।
काम बद तो खुद करें लानत करें शैतान पर॥

पशु-स्वभाव रखनेवाला मनुष्य भोग को ही प्रेम समझता है। उन्नत-हृदय मनुष्य प्रकृति-निर्मित सुन्दर एवं सुकुमार शरीरों का स्पर्श उनके आलिंगन और चुम्बन को प्रेम मानकर भोग के प्रेम को अलग करता है। ध्यान रहे कि जिस प्रकार भोग मूत्र-इन्द्रिय का विषय है उसी प्रकार स्पर्श, आलिंगन, चुम्बन आदि भी अन्य इन्द्रियों के विषय हैं। तो फिर बताइये कि प्रेम आप किसे कहते हैं और उसका आनन्द क्या है ?

विस्तार-भय से अधिक नहीं लिखती। आशा है, आप मेरे अभिप्राय को अच्छी तरह समझ गये होंगे। किसी कवि के नीचे लिखे शेर को ध्यान में रख इस पत्र का उत्तर अति शीघ्र देने की कृपा करें।

उड़ा पतंग मोहब्बत का चर्ख से भी दूर।
*खिरद की डोर को अब छोड़ दीजिये तो सही॥

आशा है, आप प्रसन्न हैं।

आपकी प्यारी,
स्नेहलता।

---

* खरद=बुद्धि।

अमीनाबाद,
११।३।३७

प्रिये,

प्रेम से सराबोर तुम्हारा पत्र मिला जिसे पढ़कर मन प्रफुल्लित हुआ। कहना न होगा कि तुम्हारे पत्रों में कुछ ऐसी छेड़छाड़ रहती है जो इतनी दूर होने पर भी मुझे गुदगुदाने लगती है, जिससे कभी-कभी मैं तंग-सा आ जाता हूँ। किन्तु इस गुदगुदी में तुम्हारे प्रेम की झलक मेरे हृदय में प्रतिबिम्बित होकर तुम्हारे सुन्दर रूप को आँखों के सामने खड़ा कर देती है। इस प्रकार हम दोनों मानसिक संसार में मिल लेते हैं। और इस मिलन से प्रवाहित मधुर रसपान करके, मन, मतवाला होकर उस प्रेम-स्रोत को ढूँढ़ने लगता है, जिसके रसपान से प्रेम के पुजारी अमर हुए और प्रेम-देवता बनकर प्रेम-मार्ग में भटकने वाले यात्रियों को ज्योति प्रदान करते हुए उनके हृदयाकाश में अमृत बरसाते रहते हैं।

यह मानी हुई बात है कि प्रेम मतवाला होता है और उसकी मादकता को सँभालना मुझ ऐसे मरीजे लाइलाज के लिये बहुत कठिन है। अस्तु, तुम्हारा पत्र मिलने के थोड़ी देर बाद तुम्हारे प्रेमपाश में बँधा हुआ बिस्तर पर जा लेटा। मस्ती में तो था ही, आँख लगने पर देखता क्या हूँ कि मैं तेजी से मस्ती के नशे में हवा के घोड़े पर उड़ रहा हूँ और उड़ते-उड़ते प्रेम-लोक की ओर जा रहा हूँ। मार्ग में मनको लुभाने वाली सुन्दर-सुन्दर आकृतियाँ मिलने लगीं। पहले तो स्कूलों के सुन्दर और सुकुमार लड़के सिगरेट के धुएँ से कोमल कलेजे को छलनी बनाते हुए प्रेम-लोक का रास्ता दर्याफ्त करते दिखाई दिये, इसके बाद नाविल हाथ में लिये और जनानी शक्ल बनाये कालेज के कुछ विद्यार्थी सिराज कवि की नज्म का नीचे लिखा टुकड़ा गाते हुए मिले।

वह अजब घड़ी थी कि जिस घड़ी, लिया दर्स नुसखाये इश्क का।
कि किताबें अक्ल की ताक पै, जो धरी थी यूँ ही धरी रही॥

आगे बढ़ने पर कुछ कालेज-गर्ल्स अपने-अपने प्रेमियों की फोटो

लिये मिलीं। नीचे लिखा नजीर की नज्म का टुकड़ा मधुर स्वर से कोरस में गा रही थीं।

काँटा किसी के मत लगा, गो मिस्ले-गुल फूला है तू।
वह तेरे हक में तीर है, किस बात पर भूला है तू॥

इतने में देखा कि किसी सिनेमा कम्पनी की ओर से तीरे नजर, तर्जे अदा, हुस्न का नजारा, दर्दे-दिल, जख्मी जिगर, चमन की चिड़िया, नखरों में गरम मसाला तथा तथा बेवफा माशूक नाम के ट्रैक्ट बाँटे जा रहे थे।

इसके बाद एक रिटायर्ड स्काउट मास्टर भी दिखाई दिये जो "सौन्दर्योपासक" नामक पुस्तक की प्रतियाँ बेच रहे थे। साथ में स्काउटों तथा गर्ल्स गाइड के कुछ फोटो भी बिक्री के लिये थे। एक दो मिनट का अन्तर देकर स्काउट मास्टर साहेब प्रेम के आवेश में आकर नीचे लिखा चलतू शेर गा उठते थे।

हम आह भी करते हैं तो हो जाते हैं बदनाम।
वो कत्ल भी करते हैं, तो चर्चा नहीं होता॥

कहना न होगा कि पास ही में एक साहित्य-सेवी भी बाल बढ़ाये खद्दर का कुरता और फतुई पहने, जिसकी जेब में फाउन्टेन पेन खुसी थी, हाथ में डंडा लिये अकड़ रहे थे। इनकी हुलिया में विशेषता यह थी कि उनकी चिन्धी आँखों की सरपरस्त भौंहों के बीच छोटी काली बिन्दी थी। एक आँख का चश्मा, जो काले डोरे में बँधा हुआ गले में पड़ा था, हाथ से अपनी बाँई आँख के सामने लगाकर बातें करते थे। साहित्य-सेवी महाशय के पीछे असली और नकली कोकशास्त्र के मनचले सोल एजेन्ट भी मौजूद थे, जो प्रेम-मार्ग यात्रियों को बनारसी के खयाल का टुकड़ा सुनाकर उत्साहित करते थे।

इश्क में जी जाना हमने, समझा यही जी जाना है।
जाना जाना के दर पर, जान बेचकर जाना है॥

यह देख साहित्य-सेवी महाशय 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की आवाज लगाते हुए सोल एजेण्ट साहब के पास पहुँच कर ऊँचे स्वर में कहने लगे—'ब्यूटी कम्पटीशन' नामक एक पुस्तक मैंने हाल में लिखी है, जिसपर मुझे पुरस्कार भी मिला है। स्कूल, कालेज, होस्टलों में धड़ाधड़ बिक रही है। इसकी एजेन्सी ले लेने से आपको बहुत लाभ होगा। ध्यान रहे, इसका प्रचार बढ़ाने के लिए 'चना जोर गरम' की तर्ज जिसे साधारण लोग बहुत पसन्द करते हैं, अपने विज्ञापन में मैंने नकल कर ली है, जिसे ध्यान देकर सुनिये—

पुस्तक लिखी मैंने अर्जेण्ट, इसको पढ़ते स्टूडेण्ट।
पीते सिगरेट एलीफेण्ट, पाते नम्बर हंण्ट परसेन्ट॥

इस विज्ञापन के सुनने के बाद नशे ने जियादा जोर किया और मैं आगे बढ़ा। देखा कि चन्दा समेट एक लीडर महोदय भी एक हाथ में झोली, दूसरे हाथ में रसीद बही लिये हुए प्रेमियों से उनके प्यारे-प्यारियों के सदके में दान के रूप में धन वसूल कर रहे थे। प्रेमीगण अपने माशूकों की सलामती के लिए खुशी से कुछ-न-कुछ रकम झोली में डाल देते। साथ में एक उपदेशकजी भी थे जो शुद्ध सात्विक प्रेम की मीमांसा करके उसका महत्व प्रेमियों को समझाते थे और जमाने की रफ्तार के सम्बन्ध में उपदेश की जोश में आकर बेढबजी का नीचे लिखा शेर उगल पड़ते हैं—

नयी तालीम से यारो यही निकला नतीजा है।
चचाके सामने लेडी लिये लेटा भतीजा है॥

थोड़ा आगे बढ़ने पर मालूम हुआ कि जिन्दा दिल दो बूढ़े प्रोफेसर भी जा रहे हैं, जो बारी-बारी पारमार्थिक प्रेम-सम्बन्धी प्रसिद्ध कवियों की नीचे लिखी रचना बड़े प्रेम से गाते थे—

जिसका देखना ही मुहाल था, न था जिसका नामोनिशां कहीं।
सो हर एक जर्रे में इश्क ने, मुझे उसका जल्वा दिखा दिया॥

गुलजार में है, गुल में है, जंगल में, बहर में।
सीने में, सर में, दिल में, जिगर में खटक रहा॥

कुछ आगे और बढ़ने पर निर्मल प्रेम के पुजारियों के कुछ मजार मिले। प्रेम के अवतार लैला-मजनू तथा शीरीं-फरहाद के मजारों पर लोग फूल-मालाएँ चढ़ा रहे थे। इनके मजारों के पास एक सुन्दर संगमरमर के चबूतरे पर बहुत कीमती शमियाने के नीचे अपने प्यार पर कुर्बान एक कमसिन नाजनीकी कब्र थी। चबूतरे के ऊपर की ओर जड़ी तख्ती पर सोने के अक्षरों में जहरे इश्क के ये शब्द लिखे हुए थे----

तमाशा देख लो लोगों, ये इश्केबाजी की हकीकत का।
शहीदे नाज है, पढ़ते चलो कल्मा सआदत का॥

इस नाजनीकी कब्र पर उसके बलिदान के लिए प्रेम के आँसू बहानेकी रस्म अदा करके जब मैं आगे बढ़ा तो तरह-तरह के हुस्न के नजारे फिर नजर आने लगे, जिनके सौन्दर्य को देख मैंने अपने को धन्य माना।

मनोहर रूप-रंगवाली हावभाव पूर्ण एवं कटाक्षयुक्त सुकुमारियाँ मिलने लगीं। इन चन्द्रवदनी चंचलांगियों की आकृतियाँ अत्यन्त सुन्दर सुहावनी, शीतल और सुखद थीं। इनके मुख-मण्डल से निकली सुन्दरता की किरणें ज्योति के समान प्रतिबिम्बित होकर उनके मुख-मण्डल को और भी अधिक सुन्दर बनाती थीं। उनकी मधुर मुस्कान के समय सौन्दर्य का देवता एक क्षण के लिये अपना करश्मा दिखाकर गायब हो जाता था।

यद्यपि अब तक कोई रोकटोक न थी; किन्तु और आगे बढ़ने में मैंने समझा कि मैं अनधिकार चेष्टा कर रहा हूँ। इतने ही में पिछली सुन्दरियों से भी अधिक सुन्दर एक रमणी पर मेरी नजर पड़ी। मन को बहुत भाई। दिल में आया कि इससे कुछ छेड़-छाड़ करूँ परन्तु वह तुरन्त मेरे भाव को समझ गई। ज्यों ही मैं बातचीत के लिये उसकी ओर बढ़ा तो उसने डाँटकर कहा—सुन, गंदी वासनाओं का पुतला

यहाँ किसी भी सुन्दरी को स्पर्श नहीं कर सकता। इन्द्रियोपासक की यहाँ गुजर नहीं। सौन्दर्य के सुन्दर स्वरूपों को अपवित्र करने वाला इन्द्रियलोलुप अब आगे प्रेमलोक में प्रवेश नहीं कर सकता। अतः वापस लौट। ध्यान रख, आगे बढ़ा तो जहन्नुम रसीद होगा। यह सुन मैं बहुत डरा। मेरे पैर काँपने लगे। शरीर भारी होने लगा। यहाँ तक भारी हुआ कि फिर मैं उड़ने के बदले नीचे की ओर उतरने लगा और देखते-देखते धड़ाम से पृथ्वी पर आ गिरा और सारा नशा हिरन हो गया। भय की घबराहट से आँख खुल गई।

आँख खुलने पर प्रिये, देखता क्या हूँ कि तुम्हारी फोटो लिये बिस्तर पर लेटा हूँ। इस स्वप्न का अनुसन्धान करने पर ज्ञात हुआ कि तुम्हारे प्रेम की बरकत ने मुझे प्रेम-लोक का रास्ता दिखाया; किन्तु मन की मलिनता के कारण प्रेम-लोक के उस भाग में जहाँ प्रेम के देवता निवास करते हैं प्रवेश न कर पाया और इस प्रकार तुम्हारा प्रेम पाने के लिये वापस आ गया।

प्रिये, जिस प्रकार प्रकृति (Matter) और उसकी सुन्दर, सुकुमार और सुखद आकृतियों एवं उसके विचित्र चमत्कारों में लगाये गये प्रेम को पार्थिक प्रेम अर्थात् इश्के-मजाजी माना गया है, उसी प्रकार पुरुष (Force) जो प्रकृति का आदि कारण और उसे सौन्दर्य प्रदान करने वाला है और जिसमें कार्य उसी का आत्मरूप होकर छिपा रहता है और जो सुन्दर से भी सुन्दर और प्रेम-स्वरूप है, उसमें लगाये गये प्रेम को पारमार्थिक प्रेम अर्थात् इश्के-हकीकी कहते हैं।

पारमार्थिक प्रेम का विषय इतना गम्भीर है कि इसका विशेष अध्ययन और मनन करने पर भी बुद्धि वहाँ तक पहुँचने नहीं पाती। मन पवित्र हो जाने पर ही बुद्धि इस विषय को यत्किञ्चित् समझने में समर्थ होती है। प्रेम का आदि अन्त नहीं। अतः यह पूर्णरूपेण बुद्धि में, जो समय, स्थान और परिस्थितियों से सीमित है, नहीं आ सकता।

पार्थिव प्रेम का पुजारी प्रकृति में और पारमार्थिक प्रेम का पुजारी पुरुष में मन को लगाता है, जो प्रकृति से भी बढ़कर कहीं सुन्दर है। पुरुष के प्रेम में लीन मन निर्वाणपद को प्राप्त होता हुआ सौन्दर्य-जगत् और उसके प्रेम का स्वामी बनता है। यह प्रेम की महिमा है देखो, एक कवि इस सम्बन्ध में क्या कहता है—

ढूँढ़ा है उसको जिसने, उसे आनकर मिला।
अटका जो उसकी राह में, उससे अटक रहा॥

प्रेम परमात्मा की अनन्त शक्ति है, जो तारों की जगमगाहट एवं सूर्य की किरणों के समान उससे भिन्न नहीं किन्तु उसी का रूप है। जिस प्रकार अग्नि में उष्णता, जल में शीतलता है, उसी प्रकार परमात्मा में प्रेम है और जिस तरह ज्वाला में अग्नि और कार्य में कारण मौजूद है, उसी तरह प्रेम में परमात्मा है जिसे रसखान कवि इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

प्रेम हरी को रूप है, वे हरि प्रेम स्वरूप।
एक होय दो में लसे, ज्यों सूरज में धूप॥

परमात्मा प्रेम है। प्रेम से भिन्न पदार्थ नहीं। वह प्रेममय और प्रेम स्वरूप है। इसीलिये, वह प्रेम से ही प्राप्त हो सकता है। इस प्रेम-स्वरूप प्यारे के प्रेम को प्राप्त करने और उसके अद्वितीय सौन्दर्य को देखने के लिये, जो बुरके में छिपा हुआ है, स्वामी रामतीर्थ बतलाते हैं—

निगाहें गौर रख क़ायम जरा बुरका को ताके जा।
यह बुरका साफ उड़ता है, वह प्यारा नज़र आता है॥

जिस प्रकार सूर्य की किरणें समुद्र के जल को आकाश में ले जाकर बादल का रूप देकर पृथ्वी पर बर्साती हैं, उसी प्रकार पारमार्थिक प्रेम में पागल मन अपनी हृदयतंत्री के तारों पर उनके अनहद नाद के उन्माद में नाचता, गाता, थिरकता और तरह-तरह के आह्लादों के आनन्द का अनुभव करता हुआ उन्हीं तारों द्वारा जो प्रेम-लोक तक बराबर खचे

गये हैं और अन्त में अनन्त की किरणों के तारों में जा मिले हैं, पहुँच कर उस प्यार से मेल पाता है, जो प्रेममय और सुन्दर से भी सुन्दर है। यही पारमार्थिक प्रेम के प्रेमी का परम पद है जिसे प्राप्त कर लेने पर उसके हृदयाकाश में आनन्दरूपी अमृत बरसता है, जिससे वह अमरता को प्राप्त होता है।

ये तो हुईं किताबी कीड़ों की बातें जिन्हें सांसारिक प्रेम के परमाणु कीटाणुओं के रूप में खाते रहते हैं किन्तु अपने राम तो मस्तों के मजहब के कायल हैं। कवि कहता है:—

झगड़ा भी तह करो तुम, ऐ शेखेरिन्द अपना।
बेदीन हैं तो हम हैं, दीनदार हैं तो हम हैं॥

तुम्हारा प्यारा,
प्रेम-स्वरूप।

प्रेम-लोक

[उत्तरार्द्ध]

गुदौलिया,
प्यारे, बनारस। ता० १५।४।३७

लम्बा-चौड़ा आपका लिफाफा देखकर मैं समझती थी कि प्रेम के सभी अंगों पर आपने पर्याप्त प्रकाश डाला होगा। पर उसे खोलने पर मालूम हुआ कि प्रेम के अत्यन्त आवश्यकीय अंग—त्याग और बलिदान—को अपने प्रेम के प्रमाद में भुला दिया। आपके विस्तृत पत्र में यद्यपि अनेक बातें मेरे मतलब की हैं और प्रेम विषयक मेरे निबन्ध को सुन्दर बनाने वाली हैं जिनके लिये मैं आपकी अत्यन्त आभारी हूँ, फिर भी अपने निबन्ध को सर्वांगसुन्दर बनाने के लिये मैं त्याग और बलिदान के रहस्य को समझना चाहती हूँ। इसके तत्व को, आशा है, आप

अपनी व्याख्या द्वारा समझाने की कृपा करेंगे। किसी शायर का यह कलाम याद रहे—

वही एक शोलह[1] है, तुरबत[2] भी है, और शमाएँ-तुरबत[3] भी।
मजा मरने का कुछ परवानहे—आतश[4] बजाँतक है।*

साथ ही स्वामी रामतीर्थ जी महारज का नीचे लिखा शेर भी ध्यान में रहे।

यह दिल लेना, जॉ लेना, किसकी अदा है।
मेरी जाँ की जाँ[1] जिस पै शोखी[2] फिदा[3] है।।*

मेरे आशय को, आशा है, आपने समझ लिया होगा। इसके अलावा मैं यह भी चाहती हूँ कि प्रेम के स्वरूप एवं उसके आनन्द के सम्बन्ध में आप और अधिक प्रकाश कृपया डालें। इस पत्र का उत्तर अविलम्ब देने की कृपा करें ताकि मैं अपने निबन्ध को समय से तैयार कर सकूँ।

अपनी प्रसन्नता के समाचार कृपया बराबर देते रहें।

आपकी प्यारी,
स्नेहलता।

---

१ ज्योति। २ कबर, मजार। ३ मजार का चिराग। ४ अग्नि की ज्वाला पर जान देनेवाला पतंग। * मतलब यह है कि अग्नि की इस ज्योति पर मरने का मजा उसी को मिल सकता है जिसका मन प्रेम में पतंग बन जाय।

१. जीवन का आधार अर्थात् आत्मा। २. नाज, चंचलता। ३. कुर्बान। * तात्पर्य है कि मेरे जीवन के आधार अर्थात् आत्मा ने हसीनों में उतर कर उन्हें सुन्दरता प्रदान की है। समस्त सुन्दरता में वही चमकता है और दिल लेना तथा जान लेना उसी की अदा है।

अमीनाबाद,

प्यारी, लखनऊ, ता० १।५।३७

पत्र मिला। पढ़कर प्रसन्नता हुई। यह सन्तोष की बात है कि प्रेम के रहस्य को समझाने में तुम सदैव प्रयत्नशील रहा करती हो। प्रेम की मीमांसा में त्याग और बलिदान पर प्रकाश न डाला जाना वास्तव में ऐसा ही है जैसे कोई चित्रकार सर बनाये बिना ही चित्र को खींचकर पूरा करना चाहे। इतने महत्त्वपूर्ण विषय को मैंने क्यों छोड़ दिया था, इसका कारण तुम्हें आगे मालूम होगा। किन्तु अब मैं अपने मन की कायरता को छिपाना नहीं चाहता, उसे जाहिर कर देना चाहता हूँ।

बात यह है कि जब मैं प्रेम लोक की अपनी स्वप्नयात्रा में वहाँ की अनुपम सुन्दरी द्वारा इन्द्रियोपासक, गन्दी वासनाओं का पुतला एवं सौन्दर्य के सुन्दर स्वरूपों को अपवित्र करनेवाला सम्बोधित किया गया तथा प्रेमलोक के मार्ग में सीमोल्लंघन कर आगे बढ़ने के कारण डाँटा गया, तब मैं अत्यन्त भयभीत हो गया था और उक्त सुन्दरी की आँख से ओझल होने पर उसी घबड़ाहट में शरीर भारी हो जाने से, ऊपर की ओर उड़ने के बदले नीचे उतरने लगा तो कम्बख्ती की मार हजरत इश्क एक हाथ में तसबीह, दूसरे में जहर का प्याला, गले में सेली और सर से कफन बाँधे हुए मेरे रास्ते में आ खड़े हुए और जहर का प्याला पीकर अमर होने के लिए मुझसे आग्रह करने लगे। मैंने कहा कि इस तरह मुझे न फुसलाइये। आपका सब हाल मैं जानता हूँ और पुस्तकों में भी पढ़ चुका हूँ। इस पर हजरत कड़क कर बोले कि दिल में कुफ्र और प्राणों को प्यार करनेवाला एवं चमड़े के चमत्कारों से चकित होकर उसे चूमनेवाला मुझे नहीं जान सकता। इसके अलावा, अगर तू जहर के प्याले में अपनी प्यारी स्नेहलता से अपने अटूट सम्बन्ध से एक दिल नहीं हो सकता और प्राणों की बलि देने से भागता है तो तेरे दिल में

मुहब्बत के बदले कुफ्र है। विचार करके देख ले और किसी हकीकी शायर के इस कलाम को याद रख—

गैर हक दिल में जहाँ आया खयाल। बुत खुदा के घर में पैदा हो गया॥

अपनी कायरता पर विचार करने पर मन ही मन हया के बोझ से इतना घबड़ाया कि धरती पैरों से निकलने लगी। दिल में आया, जमीन फट जाय, मैं समा जाऊँ। किन्तु मेरी हया ने बेहयायी का जामा पहिनकर अपनी झेंप मिटा ली। मैदाने जंग में मौत से डर कर भगे हुए कायर सिपाही की भाँति मुर्दा होकर मैंने जिन्दा रहना चाहा। यह मानी हुई बात है कि पापी को प्राण अधिक प्यारे होते हैं। अतः मन की मलिनता से परीक्षा के समय में उनका उत्सर्ग न कर सका। अपने प्राणों को मैं प्यार करता ही था, अतः उन्होंने भी मुझे न छोड़ा।

कहना न होगा कि मेरा आध्यात्मिक जीवन उसी क्षण समाप्त हो गया जब कि अपने प्राणों की कुर्बानी से मैं भाग निकला; किन्तु अब अपनी इन्द्रियों को जीवित रखने के लिये इस संसार में मुर्दा होकर भी जिन्दा हूँ। मेरी कमजोरी ने मुझे प्रेममार्ग से भ्रष्ट तो जरूर किया किन्तु उस पर किये गये विचार ने बलिदान के सिद्धान्त की अनेक गुत्थियों को सुलझा दिया। वेद में वर्णित बलिदान का सिद्धान्त, जिसका समय के प्रभाव से कुछ का कुछ रूपान्तर हो जाना सम्भव है, न समझ सकने के कारण मैं उस पर हँसता था किन्तु अब उसी के लिये रोता हूँ। मनुष्य के कर्तव्य को निर्धारित करने वाली संसार-प्रसिद्ध पुस्तक गीता में भी इसी सिद्धान्त पर जोर दिया गया है, जिसे स्वामी रामतीर्थजी महाराज अपने शब्दों में इस प्रकार बतलाते हैं—

*लहू का दरया जो चीरते हैं, हैं तख्त पाते वही हकीकी।
[1]जला भी दो तुम [2]तअल्लुकों को, खड़े हैं रोम और गला कटे हैं॥

* अर्जुन को दिया गया उपदेश। १ आराम। २ अहंकार अपना खुदी की गर्दन।

है मौत दुनियाँ में बस गनीमत, खरीदो इसको राहत के भाओ।
न करना चूँ तक यही है मजहब, खड़े हैं रोम और गला रुके हैं॥
ठगों को कपड़े उतार दे दो, लुटा दो, असबाब मालोजर सब।
खुशी से गर्दन २ पै तेग धर तब, खड़े हैं रोम और गला रुके हैं॥

ध्यान रहे कि त्याग और बलिदान का विचार ही मनुष्य को सन्मार्ग पर लाने वाला है। वह चोरी इसलिये करता है कि धन के अभाव में लोप होने वाले सुखों का वह बलिदान नहीं कर सकता। झूठ इसलिये बोलता है कि सत्य बोलने में जिन सुखों के दूर हो जाने की सम्भावना है, उन्हें बलिदान की वेदी पर नहीं चढ़ा सकता। श्वान-समान आचरण से इसलिये अपने को गिराता है कि इन्द्रियजनित सुख की वह बलि नहीं दे सकता। इसी प्रकार अन्य बातों को भी समझ लीजिये। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन को श्रेष्ठ और सफल बनाने के लिये त्याग और बलिदान की पग-पग पर आवश्यकता है और उसके अभाव में खाना, पीना, मैथुनादि कर्म ही केवल रहते हैं, जो पशु-धर्म है। अतः यह मानना होगा कि त्याग और बलिदान का अभाव ही मनुष्य को पशुत्व की ओर ले जाने वाला है।

यह बात लोग जानते ही हैं कि सबको एक समान दिल नहीं मिलता और उन दिलों में भी किसी-किसी में प्रेम अपना घर करके चमकता है। प्रेम से पूर्ण मन तो मस्तों को ही मिलता है और उनमें भी विरले ही प्रेम के लिये बलिदान होते हैं।

लैली को इश्के-दिल से काम था, इसीलिये उसने कपड़े नहीं रँगे और अपनी सत्ता में मजनूँ को और मजनूँ की सत्ता में अपने को देखा। कहा जाता है कि एक बार लैली के पैर से खून निकला देख उसकी सहेलियों ने लैली से खून का कारण दर्याफ्त किया। लैनी ने कहा, मालूम होता है, मजनूँ के पैर में चोट लगी है।

हीर अपने प्यारे राँझे की तालाश में आँसू बहाती हुई कूक-कूक कर

पुकारती फिरी। शीरी अपने प्यारे फरहाद के लिये शहीद हो गई। बुलबुल अपने प्यारे फूल के प्रेम में सर पटक-पटक कर मरता है। और पतंग दीपक में जल कर जान देता है। सर पटक-पटककर मारने का मजा बुलबुल और दीपक में जल कर जान देने का मजा पतंग ही जानता है। सब नहीं जान सकते। जिस प्रकार कि विषयी ब्रह्मानन्द के सुख को नहीं अनुभव कर सकता, उसी प्रकार कि विषयी ब्रह्मानन्द के सुख को नहीं अनुभव कर सकता, उसी प्रकार मरने के मजे को कुर्बान होने वाला आशिक ही समझता है। इन्द्रियों की तृप्ति में तृप्त एवं अपवित्र वासनाओं में लिप्त मनुष्य इस मजे को नहीं जान सकता और जिसके सम्बन्ध में स्वामी रामतीर्थजी महाराज इस प्रकार कहते हैं, जिसे ध्यान देकर सुनिये।

मंसूर से पूछी किसी ने, कूँचये जानाँ[1] की राह।
चुभ साफ दिल में, राह बतलाती जुबाने दार[2] है॥ *

गन्दी वासनायें निकालने के बाद हृदय पवित्र हो जाने पर जब तक उसमें त्याग के भाव उदय न हों, तब तक मनुष्य बलिदान के रहस्य को समझने में असमर्थ ठहरता है। इन्द्रिय-लोलुपता मनुष्य को स्वार्थ की ओर खींचती है और उसका अभाव मनुष्य को त्याग की ओर ले जाना चाहता है। ध्यान रहे कि त्याग के बिना हृदय में पवित्र या सच्चा प्रेम उदय नहीं हो सकता। देखिये; सच्चे प्रेम की लगन को सफन्दर कवि इस प्रकार समझाते हैं:—

तुम्हारे आशिक, तुम्ही से उल्फत, तुम्हीं को जानें तुम्हीं को समझें।
सिवा तुम्हारे नहीं है मतलब, जहानो—अहले जहाँ से हमको॥

यह बात छिपी नहीं है कि भूतपूर्व राजराजेश्वर अष्टम एडवर्ड ने,

---

१ प्यारे की गली का रास्ता। २ सूली की नोक।

* साफ दिल में सूली की नोक चुभकर प्यारेकी गली का रास्ता बतलाती है।

थोड़ा ही समय हुआ, प्रेम के लिए संसार के सबसे बड़े राज्य को त्याग दिया। उनका यह अपूर्व त्याग प्रेम के इतिहास में उनकी कीर्ति को चिरस्थायी रक्खेगा और प्रेम-मार्ग के यात्रियों के हृदय में ज्योति प्रदान करता हुआ उनको त्याग के लिए सर्वदा उत्साहित करता रहेगा।

यह मानी हुई बात है कि प्रेम के लिए, चाहे वह पवित्र हो या अपवित्र, बड़े से बड़ा त्याग मनुष्य कर डालता है। पार्थिव प्रेम का पुजारी जानता है कि जितना मजा अपने माशूक को मेवा, अंगूर और रसगुल्ला आदि खिलाने में उसे आता है, उतना स्वयं खाने में नहीं आता। कचरकूट करने वाला पेटू आशिक अपने खाने में मजा लेता है। अपने माशूक को खिलाने में नहीं। अतः त्याग न होने से इसे प्यार में उतना मजा भी नहीं आ सकता, जितना कि खिला देने वाले को आता है। कारण मजा तो त्याग में। गलती से चमड़े के चमत्कारों में मान लिया गया है। अगर चमड़े के चमत्कार में होता तो फिर प्रेम में त्याग और बलिदान की आवश्यकता ही न रहती और उसके बिना ही लोग मजा लूटते और मंजिले मकसूद तक पहुँच जाते और फिर कोई किसी पर कभी कुर्बान न हुआ होता। विषयी भी भले प्रकार जानता है कि वीर्यपात अर्थात् वीर्य के त्याग में ही वह आनन्द का अनुभव करता है।

इश्के-मजाजी अर्थात् पार्थिव प्रेम में भी देखा जाता है, लाशें फड़कती हैं और खून से रँगा जनाजा निकलता है। अनेक फाँसी पर लटकते और जहर खाते हैं। और कुछ अपने माशूक के दर पर पहुँच कर अपने ही हाथ से अपने कलेजे में छूरा भोंककर मरते हैं। इश्के-हकीकी अर्थात् पारमार्थिक प्रेम में भी पागलपन, फाका, तकलीफ और मौत देखी जाती है। ऐसी दशा में यह सिद्ध है कि मजा, त्याग और बलिदान ही में है और अगर न होता तो फिर कोई किसी पर कुर्बान होकर कभी अपनी जान न देता। इस पर भी कोई कोई व्यक्ति कहेंगे कि उन्हें तो चमड़े के चमत्कारों में ही मजा मालूम होता है। ऐसी दशा में अपने राम की

राय में इस प्रवृत्ति को प्रेम न कहकर श्वान-प्रवृत्ति कहा जाना चाहिए और जिसके सम्बन्ध में फक्कड़ कवि इस प्रकार कहते हैं:—

कुत्ता-पंथी हैं जितने जहाँ में, मस्त हैं काम की वेदना में।
सुन्दर स्वरूपों को करते हैं गन्दा, प्रेम की आड़ में पूरे शैतनी-बन्दा।।

अब रही कुछ भावुक हृदय रखने वालों की बातें। जो दो बिछड़े हुए हृदयों के प्रेमालिंगन में उसी प्रकार मजा लेते हैं, जिस प्रकार कि एक लोफर चित्रपट पर किये गये चुम्बन में। यह बतलाया जा चुका है कि जिस प्रकार भोग जननेन्द्रिय का विषय है उसी प्रकार स्पर्श, आलिङ्गन और चुम्बन आदि भी अन्य इन्द्रियों के विषय हैं, अतः विषय की वासना उनके हृदयस्थ होने से वे जिम्मेदारी से नहीं बच सकते। कारण मनुष्य के मन की तरंगें ही उसके मन को चलाने वाली होती हैं। सुनिये, एक जिन्दादिल कवि इस सम्बन्ध में कितने अच्छे शब्दों में अपने विचार प्रकट करता है:—

जन्नत परस्त जाहिर कब हक परस्त है।
हूरों पर मर रहा है, शहवत परस्त है।।

कहना न होगा कि यह बहुत मजे की बात है कि हमारे कुछ मनचले लेखक और कवि भी कभी-कभी बिछड़े हुए प्रेमियों का आलिंगन कराकर अपनी हवस मिटालिया करते हैं। फिसाना आजाद में जिक्र है कि मियाँ आजाद ने जब मखतबखाने का मुआइना किया और नुक्स निकाले तो उनमें एक नुक्स यह भी था कि हिल हिलकर पढ़ना ऐब है, मगर कहें किससे ? मौलवी साहेब तो खुद झूमते हैं।

खैर, इस पचड़े को जाने दीजिए, मतलब की बात यह है कि त्याग बिना प्रेम नहीं, और प्रेम बिना बलिदान नहीं। बलिदान बिना यज्ञ नहीं। यज्ञ के अभाव में मैथुनादि कर्म केवल पशुधर्म है। इसी पशु की प्रेमयज्ञ में कुर्बानी की आवश्यकता है और पूर्णाहुति में अपने आत्म-समर्पण की।

स्वामी विवेकानन्दजी महाराज ने भी एक स्थल पर कहा है कि अपने आपको यज्ञ का पशु समझो और तुम्हारा जन्म ही इसलिए हुआ है कि तुम अपनी माता के लिये कुर्बान किये जाओ। 'खाओ, पिओ, बच्चे पैदा करो' के सिद्धान्त का मानने वाला यज्ञ के इस विधान को नहीं समझ सकता। इस विधान के रहस्य को प्रेम में लीन प्रेमयोगी ही समझ सकता है।

जिस प्रकार आत्मा के दर्शन होने में मल, विक्षेप और आवरण बाधक होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रिय एवं मनोविकार आध्यात्मिक जीवन की सफलता में प्रतिबंधक हैं। इस बात को स्वामी रामतीर्थजी महाराज ने अच्छे ढङ्ग से समझाया है जिसे उनके ही शब्दों में सुनिये :—

थीं मन के मन्दिर में रक्स[1] करतीं, तरह-तरह की-सी ख्वाहिशें मिल।
चिरागे-खाना[2] से जल गयीं सब, खड़े हैं रोम और गला रुके हैं॥
गुलों के बिस्तर पे ख्वाब ऐसा, कि दिल में दीदों में खार भर दे।
है सीना क्यों हाथ से गया दब, खड़े हैं रोम और गला रुके हैं॥

इन पंक्तियों का अभिप्राय यह है कि मनरूपी मन्दिर में जो तरह-तरह की ख्वाहिशें मिलकर नाच रही थीं, वे घर के दीपक से ही आग लग जाने से सब जल गईं। गुलों के बिस्तर पर ऐसा खौफनाक ख्वाब आ रहा है कि दिल में और आँखों में काँटे भर दे। अपने हाथ से, ऐ गुल, तेरा सीना क्यों दब गया कि जिसके कारण ऐसा भयङ्कर स्वप्न आ रहा है और रोमांच होता और गला रुकता है। मतलब यह है कि माशूक के बिस्तर पर लेटकर भी हमें अपने अध्यात्मिक जीवन की पवित्रता बनाये रहने के लिये इन्द्रिय-लोलुपता एवं उसकी वासना का त्याग कर देना होगा, अगर वास्तव में हम अपने माशूक को चाहते हैं और इन्द्रियों की तृप्ति नहीं चाहते। ध्यान रहे कि पवित्र प्रेम में सौन्दर्य व्यक्ति

१ नाचतीं। २ घर का चिराग, आत्मा का प्रकाश।

दान की वेदी है, वासना की तृप्ति करने की वेदी नहीं। इसी लिये उसका स्पर्श तक शुद्ध सात्विक प्रेम के लिये प्रेमयोग में निंद्य समझा गया है। किसी तत्ववेत्ता ने कहा भी है:—

Beauty is to be admired and not to be touched.

वेद में तीन प्रकरण हैं, कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्ड। यज्ञादिक कर्म काण्ड में सम्मिलित हैं। इन्द्रिय-लोलुपता एवं उसकी वासना का प्रेम में बलिदान प्रेमयज्ञ कहलाता है। अज्ञान के परदे में छिपे हुए हृदयाकाशस्थित सुन्दर से भी सुन्दर प्रेमस्वरूप अपने प्यारे के प्रेम को प्राप्त करने और उसके अद्वितीय सौन्दर्य को देखने के प्रयत्न को उपासना या प्रेमयोग कहते हैं। गुरु नानक महाराज इसके सम्बन्ध में यों समझाते हैं:—

पुष्प मध्य जो बास बसत है, दर्पण माहि ज्यों छाँई।
तैसे ही हर बसत निरन्तर, घट ही में खोजो भाई॥

कर्म-काण्ड के अनुष्ठान से मल अर्थात् पाप दूर होते हैं और उपासना से चित्त की चंचलता अर्थात् विक्षेप मिटता है। इन दोनों के दूर होने पर अज्ञान का परदा जिसे आवरण कहते हैं, उठता है। तब यह प्रेमाभिलाषी जीव अपने प्यारे को पाता और उससे एक हृदय होकर अमर होता है। इसे निर्वाणपद को प्राप्त होना या प्रेम के प्रसाद (फ़ब्रल) में प्रविष्ट होना कहते हैं, ज्ञानयोग भी कहते हैं। इस प्रकार प्रेम के प्रसाद में प्रविष्ट हो जाने पर वह सौन्दर्य संसार एवं उसके प्रेम का स्वामी बनता है और तब हुस्न के कुल नजारे उसके इशारे पर नाचते हैं। ऐसी प्रेम की महिमा है। यह मानी हुई बात है कि नदी-नाले समुद्र से मिलकर समुद्र बनते हैं और जुज कुल से मिलकर कुल बनती है। अतः इस सम्बन्ध में अधिक तर्क-वितर्क की आवश्यकता नहीं मालूम होती और इस बात को एक कवि इस प्रकार समझाता है—

मिटती है लहर जिस दम वह ही तो बहर[1] है।
हर चार सू[2] है शोला[3] मत देख तूर[4] में॥

और भी—

अपना हजाब[5] आप है, ए तू मियां नियाज।
उठने से तेरे होता है, उठना हजाब का॥

इस स्थल पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि प्रकृति का सहारा लेकर भी मनुष्य प्रेमस्वरूप प्यारे तक पहुँच सकता है। क्योंकि प्रकृति के सौन्दर्य में भी तो वही उतरा है। जिनकी आँखें प्रकृति (Matter) के सौन्दर्य में पुरुष (Force) को देखने की अभ्यासी हैं और जो हसीनों के हुस्न और नाजोअदा में ही नहीं, किन्तु सर्वत्र उस कारणरूप अव्यक्त पुरुष को ही सदैव देखती हैं ऐसे प्रेमी जिनका मन सौन्दर्य के चमत्कारों से विचलित नहीं होता और जो जितेन्द्रिय हैं, प्रकृति के द्वारा ही प्यारे को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार से प्राप्त करने के उपाय को भक्तियोग कहा जा सकता है। देखिये, एक भक्त कवि प्रेम के आवेश में अपने प्यारे को सम्बोधित कर कितने अच्छे शब्दों में प्रेम से सराबोर अपने भावों को व्यक्त करता है:—

तुझे देखें तो फिर औरों को किन आँखों से हम देखें।
यह आँखें फूट जायें गर्चे इन आखों से हम देखें॥

दूसरा कवि इस प्रकार कहता है:—

हर एक गुल में बू होके तू ही बसा है, सदाहाये-बुल-बुल में तेरी नवा[1] है।
चमन फैजे कुदरत से तेरे हरा है, बहारे-गुलिस्तां[2] में जल्वा तेरा है॥
मकाँ तेरा हर एक ऐ लामकां है, निशां हर जगह तेरा ऐ बेनिशां है।
न खाली जिमी है न खाली जमां[3] है, कहीं तू निहां[4] है कहीं तू अयां[5] है॥

---

१ समुद्र। २ तरफ। ३ अग्नि की ज्वाला। ४ अग्नि का पहाड़ जहाँ हजरत मूसा ने अग्नि की ज्वाला देखी थी। ५ परदा।

१ गीत। २ बाग की बहार में। ३ काल। ४ छिपा हुआ। ५ जाहिर।

पवित्र और स्वच्छ मन में उसकी वृत्तियाँ दर्पण के समान होती हैं, जिनके स्थिर होने में प्रेममय प्यारे से मेल पा जाने पर अपना आनन्द टपकता है, जिसे विषय बाहर से आया हुआ समझता है। जिस प्रकार स्थिर और निर्मल जल में सूर्य अपने आप चमकता है, उसी प्रकार प्रेम-योगी अपनी लगन अर्थात् समाधि में विषयों के बिना ही अपने तपते हुए आनन्द का मजा लेता है।

अगर प्यास न हो तो जल अच्छा नहीं लगता और भूख न हो तो भोजन में रुचि नहीं होती। विषय की इच्छा या वासना न हो तो स्त्री से आनन्द नहीं मिलता। अगर आनन्द इन सबका सहज और स्वाभाविक गुण होता तो हर समय उनसे मिलता रहता। **आनन्द तो अपने आश्रय में है जो मन की वृत्तियों के शान्त होने में प्रेमस्वरूप प्यारे सेमेल हो जाने पर मिलता है।** देखिए, स्वप्न में मनुष्य स्त्री-सहवास से उसी प्रकार तृप्त हो जाता है। वहाँ अपना ही खयाल होता है, स्त्री नहीं होती। अतः यह कैसे माना जाय कि बिना स्त्री के आनन्द नहीं मिल सकता।

स्त्री-द्वारा मिले हुए इस आनन्द को स्वामी रामतीर्थ जी महाराज इस प्रकार वर्णन करते हैं:—

अजब ! चुभती थी मुँह में जब रग[1] को, खूब लगता लजीज था सग[2] को।
मजा अपने लहू का आता था, पर वह समझा मजा है हड्डी का॥
स्वर्ग की नेमतें हों, दुन्यां की, हैं तो यह हड्डियाँ ही मुरदों की।
इनमें लज्जत जो तुमको आती है, दर असल एक आत्मा की है॥

ध्यान रहे कि जितना अधिक मन का निग्रह होता है उतना अधिक आनन्द मिलता है। प्रेमयोग में तो पूर्ण निरोध होकर प्रेमस्वरूप प्यारे से मिलाप होने से पूर्ण आनन्द मिलता है जिसका मजा प्रेमयोगी लेकर अमरत्व को प्राप्त होता है। यही प्रेम का आनन्द है। प्रेम और उसके

१ हड्डी। २ कुत्ता।

आनन्द को एक प्रेमी कवि ने इस प्रकार अपने शब्दों में ढाला है:—

जो दिल को तुम पर मिटा चुके हैं, मजाके-उल्फत उठा चुके हैं।
वह अपनी हस्ती मिटा चुके हैं, खुदा को खुद ही में पा चुके हैं॥
न हमसे, प्यारे छुड़ाओ दामन, न देखो बागे-बहारो-रिजवाँ[1]।
कब उनको प्यारे हैं हूरो-गिलमा,[2] जो तुमको प्यारा बना चुके हैं॥

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि निर्मल हृदय में ही निर्मल प्रेम अपना घर करके चमकता है और हृदय की पवित्रता ब्रह्मचर्य के पालन के बिना हो नहीं सकती। ऐसी दशा में यह मानना होगा कि कि ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान के बिना मनुष्य प्रेमयोग का अधिकारी नहीं बन सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक प्रेम के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। जब तक कि अन्तःकरण से इन्द्रिय एवं मनोविकार की जड़ उखाड़ कर न फेंक दी जाय, तब तक शुद्ध सात्विक प्रेम हृदय में चमक नहीं सकता। कारण, मन में प्रेम या विषय-वासना ही रह सकती है; दोनों एक साथ नहीं रह सकते। अन्तःकरण की पवित्रता को जरूरी बतलाते हुए आजाद कवि कहते हैं!

दिल साफ कर लिया है, दुनिया के मल से जिसने।
वह देखता है दिल में, दर्शन मुदाम[3] तेरा॥
आजाद को सिखा दो, प्रीती की राह अपनी।
जिससे अमर हो पीके अमृत का जाम तेरा॥

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इन्द्रिय, मन और प्राण से अपने अहंभाव को हटाकर जब तक मनुष्य प्रेम में अपना अहंभाव नहीं रखता, उस समय तक अपने प्रेमस्वरूप प्यारे से, जो प्रकृति को सुन्दरता प्रदान करनेवाला और स्वयं सौन्दर्यस्वरूप है, मिलाप नहीं पा सकता। अहंभाव को हटाने के सम्बन्ध में आजाद कवि इस प्रकार कहते हैं—

---

१ स्वर्ग, बिहिश्त। २ अप्सराएँ और सुन्दर तथा सुकुमार दास।
३ हमेशा।

दिया अपनी खुदी को जो हमने उठा,
वह जो परदा सा बीच में था न रहा।
रहे परदे में अब न वह परदानिशीं,
कोई दूसरा उनके सिवा न रहा॥

दूसरा कवि व्यक्तित्व को मिटाकर प्रेममें लीन होने के लिए इस प्रकार बतलाता है—

तू को इतना मिटा कि तू न रहे। और तुझ में हुई की बून रहे॥

जबतक प्रेमी प्रेम में अपनी खुदी अर्थात् अहंभाव नहीं रखता तब तक एकता नहीं होती और जब तक अभेदता न मिटे प्रेमस्वरूप प्यारे से एक कैसे हो ? एक हो जाने पर यह प्रेम का पुजारी अनन्त प्रेम में लीन होकर उसके आनन्द का अनुभव करता हुआ अपने प्यारे से कह उठता है, जिसे स्वामी रामतीर्थजी महाराज ने अपने शब्दों में इस प्रकार बतलाया है—

तारे कब रोशनी से न्यारे हैं। तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं॥

इस प्रकार यह प्रेम का पुजारी अनन्त प्रेम में लीन होकर अमर बनता और स्वयं प्रेम का रूप होकर अपने स्वरूप में सर्वदा स्वतः स्थिर रहता है। ऐसा प्रेम का महत्व प्रेमशास्त्र में प्रवीण पंडित बतलाते हैं। प्रेम पवित्र है और परमार्थिक उन्नति का मूल कारण है। इन्द्रियों के विषय और उनकी वासना में प्रेम की कल्पना कर उसकी पवित्रता को कलंकित करना है। देखिए, प्रेम के सम्बन्ध में एक प्रेमी कवि के हृदयोद्गार याद रखने योग्य हैं—

जिन प्रेम रस चाख्या नहीं, अमृत पिया तो क्या हुआ।
जिन इश्क में सर ना दिया, जुग-जुग जिया तो क्या हुआ॥
औरों नसीहत है करे, और खुद अमल करता नहीं!
दिल का कुफर टूटा नहीं, हाजी हुआ तो क्या हुआ॥ जिन०
देखी गुलिस्तां बोस्तां, मतलब न पाया शेख का।

सारी किताबां याद कर, हाफ़िज हुआ तो क्या हुआ ॥ जिन०
जब तक पियाला प्रेम का पीकर मगन होता नहीं।
तार मंडल बाजते जाहिर सुना तो क्या हुआ ॥ जिन०
जब प्रेम के दरियाव में गरकाब यह होता नहीं।
गंगा-यमुन गोदावरी न्हाता फिरा तो क्या हुआ ॥ जिन०
प्रीतम से किंचित प्रेम नहीं, प्रीतम पुकारता दिन गया।
मतलूब हासिल ना हुआ, रो-रो मुआ तो क्या हुआ ॥ जिन०

प्रिये, यह बतलाया जा चुका है कि परमात्मा प्रेमस्वरूप होने से प्रेम से ही प्राप्त होता है और प्रेम उसकी अनन्त शक्ति है, जो नित्य और सर्वव्यापी होने पर भी अपने मुख्य स्थान हृदय में उसकी पवित्रता एवं सतोगुण की प्रधानता होने पर उसी तरह चमकती है, जैसे मुख स्वच्छ दर्पण में और सूर्य तथा चन्द्र निर्मल जल में। समस्त ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं जो कुछ भी वजूद या खयाल में सत् या असत् मौजूद है अथवा जो हो सकता है उसी प्रेम के भेद और रूपान्तर हैं। सबका वही आधार है और समस्त चेष्टाएँ उसी की सत्ता में होती हैं। इसीलिए सबकी जान अर्थात् आत्मा प्रेम को कहा गया है। जो कुछ भिन्नता दिखाई देती है, वह केवल नाम और रूप में है।

बहारे गुलशन और हसीनों के ही नहीं किन्तु सर्वत्र हुस्न में उसी प्रेम स्वरूप प्यारे का जल्वा है। प्रेम से पूर्ण प्रेमियों के हृदय में छलक कर वही उनके दिलों को बरकत देता हुआ आनन्द से उन्हें सराबोर करता है। कहना न होगा कि प्रेम ही सबमें सब कुछ है और आदि-अन्त न होने से इसका पूर्णरूपेण निरूपण नहीं हो सकता। जितना पत्र में लिखा जा सका है, उससे प्रेम-निबन्ध तैयार करने में, प्रिये तुम्हें कुछ सहायता अवश्य मिलेगी और जो कुछ कमी होगी, उसे तुम प्रेम-जिज्ञासु होने से, स्वयं पूर्ण कर लोगी, ऐसी आशा है। पत्र का मजमून बहुत बढ़ गया है, अतः अब प्रेम की अनन्त शक्ति के सम्बन्ध में प्रसिद्ध कवि

पं० श्रीधर पाठक की रचना की कुछ पंक्तियाँ लिखकर लेखनी को विश्राम देना उचित है।

प्रेम वार है प्रेम पार है, प्रेमहि है मँझधार।
बेड़ा पड़ा प्रेम-सागर में, प्रेम से होगा पार॥
होजा निडर, छोड़ दे गड़बड़ पकड़ प्रेम की धार।
प्रेम के बल से केवल होगा, निबल तेरा निस्तार॥

अन्त में स्वामी रामतीर्थ जी महाराज की लेखनी से निकली हुई प्रेमस्वरूप प्यारे की उसी अनन्त शक्ति के सम्बन्ध में उपयुक्त पंक्तियाँ उद्धृत कर पत्र को समाप्त करता हूँ।

यह राम सुनियेगा क्या कहानी, शुरू न इसका, खतम न हो यह।
जो सत्य पूछो, है राम ही राम, है महज धोखा यह सारी दुनिया॥

तुम्हारा प्यारा,
प्रेमस्वरूप

लव-लेटर्स के सम्बन्ध में चेतावनी

[ले०—मिर्जा इस्माइल 'बेग' एम० ए०]

भारतीय युवकों में कामुकता के भाव बढ़ रहे हैं। सौंदर्य प्रियता बुरी नहीं, पर कला और सौंदर्योपासना के नाम पर कामवासना को स्थान देना सर्वथा निन्दनीय है। पर आज हम देखते हैं कि अधिकांश स्कूल और कालेजों के छात्रों की मृत्यु के बाद यदि उनके मकानों की तलाशी ली जाय तो किसी शायर का यह कथन सत्य निकलेगा—

चन्द तस्वीरें बुतां, चन्द हसीनों के खुतूत।
बाद मरने के मेरे घर से सामां ये निकला॥

समाचारपत्रों में बहुधा इस तरह के समाचार पढ़ने को मिलते हैं कि अमुक लड़की का अमुक लड़के से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

दोनों में खूब पत्र-व्यवहार होता था। एक दिन लड़की के पिता के हाथ उसका एक पत्र लग गया। पिताने लड़कीको बहुत भला-बुरा कहा और उसके प्रेमी युवकको भविष्यमें पत्र न लिखनेका आदेश दिया। इसके पश्चात् युवक या युवतीकी आत्महत्याका समाचार पढ़नेको मिलता है या दोनोंके किसी अज्ञात स्थानपर भाग जानेकी खबर मिलती है। इस प्रकारकी अनेक घटनाएँ आये दिन होती ही रहती हैं।

हम जानते हैं कि किशोरावस्था और युवावस्थाके सन्धिकालमें हृदयमें कुछ नवीन भाव उठते हैं। सौंदर्योपासनाकी भावना बलवती हो उठती है। आधुनिक युगमें बायरन और शेक्सपियरकी रचनाओंका निरन्तर अध्ययन करनेवाले कालेज के युवक शीघ्र ही किसी कल्पना-जगतमें विचरण करनेवाली कामिनीकी कल्पना कर डालते हैं। उनकी यह कल्पना इतनी बलवती होती है कि वे स्वप्नमें भी नहीं सोच पाते कि कविके कल्पना-जगतकी सुन्दरी इस धराधामपर अवतरित नहीं हो सकती। मैं ऐसे कई अभागे युवकोंको जानता हूँ जो सौन्दर्य-पिपासाके पीछे पागल हो गये हैं। जिनके जीवनका आधेसे भी अधिक भाग सुन्दरियोंकी प्रशंसा और उन्हें प्रेम-पत्र लिखनेमें व्यतीत हो गया है। वे आज इस युवतीको प्रेम-पत्र लिखेंगे तो कल किसी और को। आज मिस [illegible] तारीफ करेंगे तो कल मिस लूसीकी प्रशंसाके पुल बांधेंगे।

पाश्चात्य शिक्षाके कीटाणुओंने हमारे देशके युवकोंके मस्तिष्कोंको इतना विकृत बना डाला है कि वे प्रेम-प्रेम चिल्लाते तो हैं, पर प्रेम क्या है यह समझनेका कभी प्रयत्न नहीं करते। प्रेम एक पवित्र बन्धन है उसमें स्वार्थके लिये कोई स्थान न होना चाहिये। अभी थोड़े ही दिन हुए समाचार आया है कि लन्दनमें एक युवती आत्महत्या कर मर गयी। उसकी लाशके निकट कुछ प्रेम-पत्र मिले थे। उन पत्रोंको पढ़नेसे पता चला कि युवती एक युवक को चाहती थी। युवकने कभी उसपर

उसे जो प्रेमपत्र लिखे थे उनसे पता चला कि वह युवतीकी ओर आकृष्ट हो गया था उसने उससे विवाह करनेका भी वादा किया था; किन्तु कुछ ही दिनों बाद उस युवककी धारणा बदल गयी। वह दूसरी युवतीसे प्रेम करने लगा। जिस दिन उसका वह धोखेबाज प्रेमी अपनी नयी प्रेमिकाके साथ विवाह करनेके लिये गिरजाघर की ओर गया उसकी हताश प्रेमिकाने अपने प्रेमीके पुराने सब पत्र निकाले। उसके प्रेम-पत्रों की एक-एक लाइन को फिरसे पढ़ा। उसका हृदय भर आया। वह सोचने लगी कि पुरुषका हृदय इतना कठोर होता है? पुरुषकी निष्ठुरताके कारण उसके धैर्यका बाँध टूट गया। उसने अपने दगाबाज प्रेमीका नाम ले लेकर अपना प्राणांत कर लिया। उक्त युवती मर गयी है पर लन्दनके कोरोनरके दफ्तरमें उसके वे प्रेम-पत्र अभीतक रखे हुए हैं। क्या इससे यह बात प्रमाणित नहीं हो जाती कि आजकल प्रेमी युवक और युवतियोंकी हत्याओं को प्रोत्साहन देनेमें प्रेम-पत्र घीका काम करते हैं।

मेरे एक हिन्दू मित्र हैं। अभी नये-नये वकालत पास करके आये हैं। इस जमानेमें वकालतकी आमदनीका क्या कहना! यही गनीमत है कि घरकी साइकिलपर बरका बिना कुछ खर्च किये घर लौट आते हैं। यह अच्छा है कि अभी आपके पिताजी जीवित हैं। एक स्कूल में अध्यापकी करके किसी तरह अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करते हैं। उनके सुपुत्र वकील साहबकी कमाईका ईश्वर ही मालिक है। ऐसा होनेपर भी आप पत्र लिखनेमें बड़े पटु हैं। ऐसा बिरला ही कोई दिन जाता होगा जिसमें आप चार पाँच लिफाफे और चार पाँच कार्ड न लिखते हों। पत्र लिखते हैं फिर किसी वियोगिनीसे भी अधिक उत्कंठित होकर उनके उत्तर की प्रतीक्षा करते हैं। कचहरी जा रहे हैं, अगर रास्तेमें पोस्टमैन, मिल गया तो सायकिल रोक दी। पोस्टमैन को पुकारा 'ए! सुनो, हमारी कोई चिट्ठी है?' अगर पोस्टमैन ने कोई पत्र दिया तो पहले उसे वहीं खोलकर पढ़ लिया तब आगे बढ़े। यदि आपको उस दिन कहींका कोई

पत्र न मिला तो आप यह कह कर गाड़ी पर सवार हो जाते हैं, 'भई, डाकखाने वाले भी अजीब जीव हैं। न जाने सुबहकी डाक शामको देनेमें इन्हें क्या मजा आता है!'

उक्त वकील साहबसे मेरी काफी घनिष्टता है। बेचारे मुझसे खूब हिल-मिलकर बातें करते हैं। कोई बात मुझसे छिपाते नहीं हैं। जिन दिनों आप पढ़ते थे उन दिनों आपकी जान-पहचान एक लड़कीसे हो गयी। पहले साधारण बोल-चाल आरम्भ हुई, फिर घनिष्ठता बढ़ गयी। पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया। पढ़ाईके बाद जब हजरत घर आये तब भी प्रेम-पत्रोंका आना जाना जारी रहा। पहले कुछ संकोचके साथ, पर बादमें खुलकर! आप मुझसे उस लड़कीकी प्रशंसा करने लगे। उसके पत्रोंका कुछ अंश भी कभी कभी सुना दिया करते थे। एक दिन आप घबराये हुए मेरे पास आए और कहने लगे कि "भाई गजब हो गया। उसके पिताके हाथ मेरे कई पत्र लग गये हैं। उन्होंने मुझे डाँटकर एक पत्र लिखा है कि भविष्यमें मैं उसे कभी पत्र न लिखूँ। उन्होंने साथ ही साथ मुझे यह भी लिखा है कि यदि भविष्य में मेरा उन्हें कोई भी पत्र मिलेगा तो मेरे विरुद्ध वे कानूनी कार्रवाई भी करेंगे।' मैंने वकील साहबको समझाया कि जो कुछ हुआ सो हुआ, भविष्यमें वे सचेत हो जायँ और इस तरह किसी अविवाहिता कन्याको पत्र लिखनेका कष्ट न करें।

उस दिन तो वे मान गये किन्तु प्रेमी आदमीको चैन कहाँ? चार दिन बाद ही उनकी डाककी रफ्तार फिर बढ़ी। एक दिन उनके पास जब कानूनी नोटिस आ गयी तब जाकर उनका प्रेम-पत्र लिखनेका भूत कुछ कम हुआ। यह हालत है हमारे शिक्षितोंकी। प्रेम-पत्रोंकी बहुधा ऐसी भरमार हो जाती है कि आसपासके लोग कहने लगते हैं कि क्या इन लोगों को पत्र लिखने के सिवाय और कोई काम नहीं है।

नवविवाहित दम्पतियों में भी प्रेम-पत्र लिखने का रिवाज आजकल बढ़ता जा रहा है। यदि पति और पत्नी कहीं दूर हुए मिल गये तो क्या कहना! पति जी यदि बायरन की दो पंक्तियाँ अपने प्रेम-पत्रमें लिखते हैं तो पत्नी महोदया देव के 'आँखिन राख गये मदनु पावस' और सेनापति

के 'डग भई बावन की सावन की रतियाँ' आदि छन्दोंके द्वारा अपनी विरह-व्यथा का वर्णन किये बिना नहीं रहतीं।

हालावाद और प्यालावाद के इस युग में प्रेम-पत्रों का भरमार हमारे समाज के युवक और युवतियों को पतन के गह्वर गर्त की ओर ले जा रहा है। इसके कारण समाज के युवकों में सदाचार और सहिष्णुता के स्थान पर उच्छृङ्खलता का आधिपत्य हो रहा है। वे पत्र जिनमें कामुकता की गंध आती हो, जिनकी एक एक पंक्ति में विरह-वेदना टपक रही हो; भला इस प्रकार के पत्रों से देश और समाज का क्या हित हो सकता है ? ऐसे युवकों को अपनी प्रियतमा को प्रेम-पत्र लिखने और उनके प्रेम-पत्र के उत्तर की प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त और किसी काम के लिए समय ही कहाँ से मिल सकता है।

बहुधा देखा जाता है कि हमारे होनहार युवक ऐसी वस्तु की चाहना करते हैं जिसका मिलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होता है। यदि प्रयत्न करने पर भी उन्हें सफलता न मिली तो उनके आन्तरिक क्लेश की सीमा नहीं रहती। मैं अपने एक मित्र के पुत्र को जानता हूँ जो मध्यम श्रेणी के व्यक्ति हैं। खाने-पीने आदि की उनके यहाँ समुचित व्यवस्था है पर आप ८० हजार वार्षिक की आयवाले एक जमींदार की कन्या से विवाह करने के लिये उत्सुक हैं। प्रेम-पत्र लिखते हैं पर उसके पासतक पहुँचे कैसे। अस्तु, 'उनकी तरफ से खत लिखे खुद ही जवाब में' की कहावत चरितार्थ कर रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि आपका स्वास्थ्य धीरे-धीरे गिरता जा रहा है।

कहने का तात्पर्य यह है कि भारत में प्रेम-पत्रों का यह नया रोग आरम्भ हुआ है। यदि शीघ्र ही युवक और युवतियों को इसकी भयंकरता भलीभाँति समझायी न गयी तो इसका परिणाम बहुत बुरा होगा। हो सकता है हमारे ये शब्द कुछ बालकों को बुरे मालूम हों पर महाकवि अकबर के शब्दों में—

ये बड़ा ऐब है तुझमें अकबर।
जो दिल में आये कह गुजरता है॥

चितेराकी चिट्ठी

[प्रेषक—प्रसिद्ध चित्रकार केदारनाथ शर्मा]

पुर
९-२-११

प्रिये ,

टेढ़ी मुझे अ छोड़ जिस से तुमने
सैं , रे चल दीं, १ भी न ।
था, जरा सी बात को ० से बना
। हृदय की , तुम मेरी की हो। मैं
० हूँ, तुम ६ हो। तुम्हारी सी की अनिष्ट कल्पना से मेरा
ठनकता है, ८, ८ बहाती हैं। आते हैं। १
भी नहीं लगती। पड़ा दिन-दहाड़े गिना
ता हूँ। लोग तले दबाते हैं मेरा ½ देख ।
तुम्हारी की का मन सुननेको तुम्हारी
और की सभी धुना ते हैं।

मेरा तो में दम है, कलेजा को आ लगा है। ख़ैर, अब तो
में पड़ ही गया है। मैं तुम्हारे रगड़ता हूँ।
अब दया निज से शीघ्र समा ४ २। तुम्हारे
१२ पढ़े। २, ३ जों में ही का भाव जान गया। मुझे १६
विश्वास है कि मुझे ना न पड़ेगा। तुम ४
में ला दोगी। जमा दोगी—

चाहे कटके भुट्ठ ही दोष ल के, क्रोध से फुलाया करौ।
चाहे ०००० सतायो हमें, अर सदा गरियाया करौ।
इतने हू पै जो नहीं भी, कवि तो लगाया करौ।
इतनी हमपै तुम दाया करौ, निज को चित लाया करौ !!

तुम्हारा —

चितेरा की चिट्ठी

[प्रेषक—प्रसिद्ध चित्रकार केदारनाथ शर्मा]

कानपूर
नव-दो-ग्यारह

प्रिये सरोज,

आँख भौं टेढ़ी कर मुझे अकेला छोड़ जिस घड़ी से तुमने डेरा डंडा सँभाला, आगरे चल दीं एक भी पत्र न दिया। सिर पर भूत सवार था, जरासी बात को तिल से ताड़ बना डाला। हृदय मन्दिर की देवी, तुम मेरी आँखों की पुतली हो। मैं शून्य हूँ तुम नव हो। तुम्हारी चाँद सी तस्वीर की अनिष्ट कल्पना से मेरा माथा ठनकता है, आँखें आठ-आठ आँसू बहाती हैं। हाथ पाँव फूल जाते हैं। एक घड़ी भी आँख नहीं लगती। पलंग पर पड़ा दिन दहाड़े तारे गिना करता हूँ। लोग दाँतों तले उँगली दबाते हैं। मेरा आधा शरीर देख कर तुम्हारे हाथ की चूड़ियों का झनकार सुनने को तुम्हारी बिल्ली, तोता और घर की मेज बक्स किताबें सभी सिर धुना करते हैं।

मेरा तो नाक में दम है, कलेजा मुँह को आ लगा है। खैर, अब तो ओखली में सिर पड़ ही गया है। मैं तुम्हारे चरणों पर सिर रगड़ता हूँ। अब दया कर निज करकमलों से शीघ्र समाचार दो। तुम्हारे पव बारह पड़े। दो तीन महीनों में ही आँटा दाल का भाव जान गया। मुझे सोलह आना विश्वास है कि मुझे धूनी रमाना न पड़ेगा। तुम आँखें चार कर आँखों में तरी ला दोगी। पत्थर पर दूब जमा दोगी—

चहे रूठके झूठ ही दोष लगाय के, क्रोधसे गाल फुलाया करो।
भले बार हजार सरापो हमें, भर पेट सदा गरियाया करो।

इतने हू पै जो नहीं पेट भरे, कवि 'चोंच' तो लात लगाया करौ।
इतनी हम पै तुम दया करौ, निज नैहर को जिन जाया करौ।

तुम्हारा—शशी

प्रेम पत्रिका, लव लेटर नहीं

[लेखक—व्रजरत्नदास बी० ए० एल-एल० बी०]

काशी
१८-३-३३

प्रिय,

आपका प्रेम-पत्र मिला। हृदय को कुछ ऐसा अनुभव हुआ मानो सुधा-सिंचन ने उसकी समग्र ज्वाला को शान्त कर दिया है। मैंने आपको उलाहना नहीं दिया है और न देना चाहती हूँ क्योंकि मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि आप स्वयम् परवश हैं और आपको भी इस विच्छेद से कष्ट ही है, पर हृदय नहीं मानता था, इससे कुछ लिख गया था। क्या कहूँ। हैंसियेशा मत! जिस दिन मैंने आपको पत्र लिखा था, उसी रात्रि को स्वप्न में मैंने देखा कि आप गृह आए हैं और आतुरता के कारण स्वागत

नोट—इस पत्र में चित्रवाले शब्द काले टाइप में दिये गये हैं और शेष मजमून सादे टाइप में। केदारनाथ शर्मा काशी के प्रसिद्ध चित्रकारों में से हैं। काशी ही क्यों संयुक्त प्रान्तभर में भी आप एक अच्छे चित्रकार समझे जाते हैं। आपकी कृपा से यह चित्र हमें प्राप्त हुआ है। पाठकों के मनोरंजनार्थ हमने इसे यहाँ प्रकाशित किया है। ऊपर दिये हुए चित्र से यदि मतलब अच्छी तरह हल न हो तो ऊपर दिये हुए संकेत से लाभ उठावें। केदार बाबू को हम इसके लिए प्रेमी पाठकों की ओर से धन्यवाद देते हैं।—सं०

करने के लिए जो मैं उठी तो निद्रा तथा स्वप्न दोनों दूर हो गए। अपने दुर्भाग्य को कोसती थी कि स्वप्न का सुख भी कुछ देर तक न उठा सकी। कहते लज्जा आती है, पर मैं उस रात्रि सो न सकी। आँखें कुछ लाल हो आई थीं। दूसरे दिन कुछ सहेलियाँ मिलने आईं और बहुत देर तक चित्त बहलाने के इस साधन से मुझे शान्ति मिली पर वे सब मेरी आँख लाल देखकर हँसी करती रहीं। मैं चुप थी, क्या उत्तर देती। इसी समय एक सखी ने, जो आपके बाहर रहने का वृत्त जानती थी, एक दोहा पढ़ा, जिससे मैं सब कुछ समझकर चुप हो रही—

रात-जगी लालन-विरह, नैन भए रतनार।
सखिन समुझि कछु और ही, हँसि देइ करतार॥

इसी के दो तीन दिन बाद आपका प्रेमपूर्ण उत्तर मिला। पढ़कर कुछ हँसी भी आई। आपने लिखा है कि प्राणनाथ क्यों लिखा है? क्या शरीरनाथ मैं नहीं हूँ। पर शरीरनाथजी, आपने क्यों प्राणेश्वरी लिखा। मुझे तो केवल एक आप हैं, प्राणनाथ कहूँ या शरीरनाथ वा सर्वस्वनाथ कहूँ पर आपने क्यों केवल प्राणेश्वरी लिखा। उपदेश से आदर्श उत्तम है। बतलाइए शरीरेश्वरी कौन है? मेरा आपपर पूर्ण विश्वास है और यह भी जानती हूँ कि आपका मुझपर भी उसी प्रकार पूर्ण विश्वास है। यहाँ तो आप बड़ा परिहास किया करते थे, वहाँ कैसे मुख बन्द किये रहते होंगे। अवश्य कष्ट होगा और इसी की मुझे बड़ी चिन्ता लगी रहती है।

पत्र लम्बा हो गया। क्षमा कीजिएगा।

आपकी (केवल प्राणेश्वरी)

क.........

नवविवाहिताका पत्र

मार्शल स्टालिन को बधाई

लन्दन,

ता० २२ फरवरी

इप्सविच सफाक निवासिनी अठारह वर्षीया श्रीमती कैथलीन वाल्टर्स ने; जिनका पति विवाह के एक महीना बाद ही गत जुलाई मास में स्टुटगार्ड में विमान से धराशायी किया गया था और अब रूसियों द्वारा मुक्त किया गया है, मार्शल स्टालिन को एक पत्र लिखा है। पत्र में वह लिखती है—

'प्रिय मार्शल स्टालिन'

मैं यह नहीं चाहती कि आप मेरे पत्र का सारांश अपनी घोषणाओं में दें परन्तु मैं आशा करती हूँ कि आप अपने वीर सैनिकों को जिन्होंने मेरे पति को मुक्त किया है, धन्यवाद का संदेश भेज देंगे।

प्रति रात मैं प्रार्थना किया करती थी कि रूसी अपने आश्चर्यजनक बज्रास्त्र द्वारा मेरे पति को बन्धनमुक्त करें! मेरी प्रार्थनाएँ सुन ली गयीं। अब मैं अधिक क्या लिखूँ। मार्शल स्टालिन को धन्यवाद! आपको तथा रूसी सैनिकों को धन्यवाद जिन्होंने एक अंग्रेज वधू को सुख-सम्वाद दिया।

मेरा विचार है कि मैं जो कुछ कह रही हूँ यह उन हजारों पत्नियों, माताओं और प्रियतमाओं की वाणी है जिन्हें ऐसे सुख-सम्वाद सुनने हैं परन्तु वे सुनेंगी शिघ्र ही। आपकी—

कैथलीन वाल्टर्स।

पत्र जोसेफ स्टालिन महाशय, क्रेमलिन, मास्को के पते पर भेजा गया था।

—"संदेश"

सुकुमार भावनाओं के प्रेम-पत्र

'प्रभाकर'—सम्पादक

[लेखक—कपिलदेव नारायण सिंह 'सुहृद'

आनन्द-भवन

छपरा

१४-८-३७

मेरे ब्रह्मदेव,

वह समय मैं नहीं भूलती। आप सामने बैठे हैं, आपके मुखसे कोमल शब्दोंकी झड़ी लगी है, मैं मन्त्र-मुग्ध-सी बैठी हूँ। हृदय-सागर लहरियोंपर हिलोरें ले रहा है। सुन पाया कि आप आये हैं, फिर मेघका गर्जन हो, वर्षा की झड़ी लगी हो, ग्रीष्म की झुलसानेवाली तपन हो, या शिशिर को सिहार देनेवाला पाला हो, भला हृदय आपका दर्शन किये बिना कब माननेवाला है। फिर उसमें आपने कविका जो हृदय पाया है वह तो और भी मेरे दिलको बेचैन कर देता है। एक-एक पंक्ति आपकी रचना की सुनकर कुछ ऐसी मीठी बोली हो जाती है, जिसमें कहूँ क्या! 'दो प्रेमी' वाली कविता तो बार-बार गुनगुनाती हूँ, संसार को भूल जाती हूँ।

मेरे आप ही—आपने मुझे कविता-रस-पान कराया, इस कंटकाकीर्ण पथमें प्रवेश करा दिया, अब जो स्रोत-फूट पड़ा है, वह रुक ही नहीं सकता। आपकी रचनाएँ पढ़ती हूँ, अपनी टूटी-फूटी कुछ पंक्तियाँ बनाती हूँ, बस इन्हीं कामों में जीवन की राह काट रही हूँ। यद्यपि मैं छोटी हूँ, फिर भी दिल नहीं रुकता। लेखनी कुछ लिखने को आतुर हो ही जाती है, टूटी-फूटी भाषा में कुछ लिख ही लेती हूँ। मैंने एक रचना आपकी सेवा में जो भेजी है, उसे किसी पत्रिका में सुधा या नवशक्ति में भेज

देने की कृपा कीजिएगा। यह आप ही का प्रसाद है, भूलिएगा नहीं। पत्र तो बराबर भेजते रहिएगा। वह इसे सूखे हृदय को सींचने का काम करेगा। मैं उत्तर दूँ या न दूँ, आपकी याद में उत्तर देने की भी सुधि संभव है न रहे, पर आप सदैव लिखते रहिएगा मालूम नहीं क्यों आपकी प्रतीक्षा में हृदय सदा विह्वल रहता है। पत्र अवश्य, अवश्य लिखिएगा, अवश्य, अवश्य और क्या लिखूँ—

आपकी वही

किरण

पत्रोत्तर

'आनन्द बाग' मुँगेर

१८-८-३७

प्यारी किरण !

स्नेह अभिवादन, पत्र तुम्हारा पाया।
मेरा बिछुड़ा हृदय दर्प से, बार-बार भर आया॥
चूमा, फिर चूमा, फिर चूमा, मन न भरा चूमता रहा।
उन बीती बातों की स्मृति में, बेसुध हो झूमता रहा॥
बहुत दिनों पर इस सेवक की, भूली याद तुम्हें आई।
मेरा भाग्य ! आज पतझड़ में, ऋतु बसन्त मैंने पाई॥

जो आज है छोटी कली कल फूल बन कर आयगी।
उसकी सुगन्ध प्रकीर्ण हो बन में चतुर्दिक छायगी॥
हँसकर उसी से मोद पाकर खिल उठेंगी क्यारियाँ।
कलियाँ बनेंगी फूल औ हँस जायँगी फुलवारियाँ॥

तुम मौन कैसे रह सकोगी जब हृदय की बात है।
मन में अगर है बेकली हग में अगर बरसात है॥
छोटी कली भी है चटखती तब न क्यों तुम भी खिलो।
भगवान की वायु में किसलय न क्यों तुम भी हिलो॥

चिनगारियाँ ज्वाला बनेंगी यह नहीं क्या ज्ञात है।
तुम मौन कैसे रह सकोगी जब हृदय में बात है॥

तुम्हारा वही—
ब्रह्मदेव

भाभी का देवर को पत्र

'लव लेटर्स' प्रेम-पत्र के प्रेमी पाठक और पाठिकाओं के लिये

[illegible]

(चुभती हुई आदर्श चिट्ठियों के लिये भाभी का देवर को पत्र)

डालीगंज, लखनऊ
ता० १।१०।५२

श्री कौशलकिशोरजी अष्ठाना एम० ए०
कमरा नं० २५ बरोचा होस्टल
हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस

मेरे प्यारे देवर !

शुभाशीर्वाद—

मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने एक पुस्तक मेरे पास भेजी थी, जिसका नाम 'लव लेटर्स' याने प्रेम-पत्र था। उसके नाम से पहले तो

में बहुत घबरा गई और उसको तुम्हारे भैय्या से छिपा कर पूरा पढ़ गई। पढ़ने पर मैंने यही अनुभव किया कि तुमने मेरे पास पुस्तक क्या भेजी मानों मेरे लिये कीमती मणियों की एक मनोहर माला भेजी। इसे प्रत्येक स्त्री-पुरुष को बहुमूल्य आभूषण समझ कर अपनाना चाहिये। साथ ही जीवन की विकट समस्याएँ भी जो यदाकदा उलझ जाती हैं, इसे पढ़कर आसानी से सुलझाई जा सकती हैं। मैं सत्य कहती हूँ—मुझे तो ऐसा ही प्रतीत हुआ है। पुस्तक क्या है, यह अनमोल रत्नों से भरी हुई एक सुन्दर पिटारी है।

इस पुस्तक में भारत के उत्कट विद्वान, कवि, लेखक, लेखिका, सम्पादक, नेताओं की क्या ही अच्छी-मजेदार चिट्ठियाँ संग्रहीत हैं। जैसे भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलालजी नेहरू, लोकमान्य तिलक, योगी अरविन्द, महात्मा गांधी, श्रीमती कस्तूर बा गान्धी, विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सुभाषचन्द्र बोस, मद्रास के राजपाल श्री श्रीप्रकाशजी आदि के समय-समय पर लिखे गये—अपनी पुत्री, पत्नी, मित्र, सगे-सम्बन्धी तथा स्नेहीजनों के नाम पवित्र पत्रों का विराट् खजाना है। जिसे प्रेमी पाठक और पाठिकाएँ पढ़कर लोट-पोट हो सकते हैं। मैं तो इसे पढ़कर आनन्द में सराबोर हो गई। इससे मुझ डूबती-उतराती हुई को बड़ा सहारा मिल गया। तुम्हें मेरा धन्यवाद है।

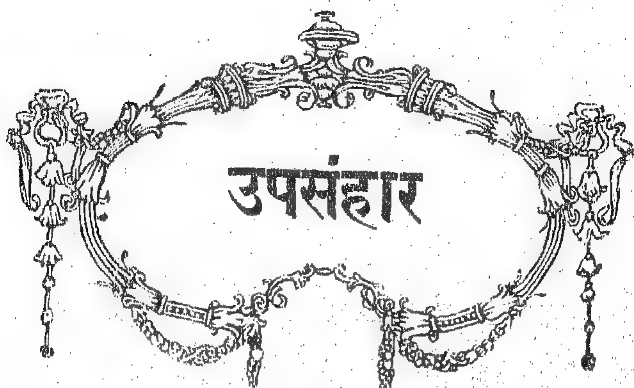
मैंने सुना है कि इसी कार्यालय से 'चुभती हुई आदर्श चिट्ठियाँ' नाम की एक दूसरी पुस्तक भी अक्टूबर सन् १९५३ ई० को निकलने जा रही है, जिसका मूल्य ५) और डाक व्यय ॥=) याने ५॥=) है। संकलनकर्त्ता श्रीयुत ठा० सूर्यबली सिंह और प्रकाशक—काशी-पुस्तक भण्डार, चौक, बनारस से प्राप्त। मैंने सूचना ऐसी पढ़ी है कि जो ५॥=) अग्रिम मनीआर्डर से भेज देगा। वही पुस्तक पा सकेगा। क्योंकि आर्डर बहुत से आ रहे हैं, पर पुस्तक थोड़ी छपेगी। ध्यान रहे कि इसमें 'लव लेटर्स' प्रेम-पत्र में स्थानाभाव के कारण बहुत सी महत्व की चिट्ठियाँ

छपने को रह गई हैं, वे ज्यों-की-त्यों इस 'चुभती हुई आदर्श चिट्ठियाँ' में छापी जा रही हैं। मेरा ध्यान न जाने क्यों बरबस उस ओर अभी से खिंच गया है। मेरे लाला ! तुम काशी में रहते हो, अतः तुम २८=) पाँच प्रतियों का मूल्य डाकव्यय सहित जल्द-से-जल्द जमा कर मुझे सूचित कर दो। इसके लिये मैं सदैव आभारी रहूँगी।

पाँचों प्रतियों को भेजवाने के लिये १ मेरे और १ तुम्हारी बहू के लिये डालीगंज लखनऊ और ३ तुम्हारी तीनों सालियों के लिये आगरा, मुरादाबाद और हरदोई का पता नोट करवा देना।

आशा है, तुम सब प्रकार से प्रसन्न होगे। इधर तुम्हारी कोई चिट्ठी नहीं आ रही है। मालूम होता है कि तुम आज कल पढ़ाई में निमग्न हो, क्योंकि परीक्षा का समय निकट आ रहा है। अच्छा है, तुम सफल हो जाओ, यही ईश्वर से प्रार्थना है। घर के लोग तुम्हें बहुत याद कर रहे हैं। इसलिये अपना समाचार अत्यावश्यक समझकर बराबर लिख दिया करो ! विशेष क्या ! शुभम्

तुम्हारी स्नेहमयी शुभ
चिन्तिका भाभी
चम्पारानी



उपसंहार

(लेखक—देवनारायण द्विवेदी)

प्रिये,

तुमने 'लव-लेटर्स' नामकी पुस्तकका उपसंहार पढ़नेके लिए उत्सुकता प्रकट की है; अतः तुम्हारी इच्छा पूरी करनेके लिए कुछ पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। Love या प्रेम शब्द बड़ा ही व्यापक है। प्रेम लघुसे लघु है और महानसे महान। प्रेम न हो तो संसारका व्यापार ही बन्द हो जाय। घूमने फिरने, सोने-जागने, रोने-हँसने, दुःखमें-सुखमें सबमें हमें प्रेमका आभास दिखायी पड़ता है! प्रेमहीकी महिमा है कि हम पुत्र-कलत्रके लिये सात्त्विकी, राजसी और तामसी कर्मोंद्वारा धन कमाते हैं और प्रेमहीकी महिमासे हम पुत्र-कलत्र आदि सारी झंझटोंको छोड़-छाड़कर भगवद्भक्ति-परायण हो जाते हैं। प्रेममें बन्धन भी है और मोक्ष भी। किन्तु इसमें वह बन्धकत्व नहीं जो प्राणीको दल-दलमें फँसाता है। प्रेम संसारकी प्रत्येक वस्तुमें, हर प्राणीमें बीज रूपसे वर्त्तमान है; यह सकाम मोहकतासे सर्वथा भिन्न है। हर वस्तुके शुद्ध सात्विक अंशमें ढूँढ़नेसे प्रेमकी झलक दिखायी पड़ती है। जिस प्रकार सत्व-रज-तम मिश्रित संसार है तथा तीनों गुणोंमें न्यूनाधिक रूपसे तीनों गुण समाविष्ट रहते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक कार्यके शुद्ध सत्वांशमें प्रेमकी अखण्ड ज्योति जगमगाती रहती है। इसका

ठीक-ठीक अर्थ लिख सकना असम्भव है। शास्त्रोंमें भी कहा गया है कि 'प्रेम' वाक्य द्वारा समझाया नहीं जा सकता। नारद सूत्रमें लिखा है—"मूकास्वादनवत्"। मनीषियोंने कहा है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। प्रकाशते क्वापि पात्रे। गुण-रहितं, काम-रहितं, प्रतिक्षण वर्द्धमानं अविच्छिन्न सूक्ष्मन्तरं अनुभव स्वरूपम्

—नारदीय भक्ति सूत्र।

आजकल पश्चिमी शिक्षाके प्रभावसे बहुतोंकी यह धारणा है कि 'प्रेम इन्द्रियगत, कामसे प्रेरित वासना या आकर्षणके अतिरिक्त अन्य वस्तु नहीं है। वे Platonic love वासना-विहीन प्रेमको कोरी कल्पना मानते हैं। उनके ध्यानमें निरी काम-वासना ही 'लव्' है। किन्तु जब हम देखते हैं कि हृदयमें कभी-कभी कामवासना-विहीन प्रेम भी उत्पन्न होता है, तब ऊपरकी बात बिलकुल भोंड़ी-सी जँचती है और यह प्रतीत होता है कि प्रेम निष्काम है, उसमें वासना होती ही नहीं। जिस आकर्षणमें या प्रेममें वासनाकी बू रहती है, वह प्रेम नहीं है और चाहे जो हो। प्रेम तो स्वर्गीय और अमृत है! वह अपना सर्वस्व दे देना चाहता है, पर लेना कुछ नहीं चाहता। यदि वह याचना भी करता है तो बस यही कि 'तुम मुझे अपनेमें अनन्य प्रेम दो—ताकि मैं तुमसे कभी भी अलग न रह सकूँ।' बस, इसके सिवा प्रेम और कुछ नहीं चाहता। वह तो केवल प्रेमका ही भिखारी बना रहता है। वह आदान-प्रदान नहीं चाहता ;उसमें विनिमयके लिये स्थान ही नहीं। सच्चा प्रेमी जिसपर प्रेम करता है, उससे यह नहीं चाहता कि वह भी उससे प्रेम करे। उसका प्रेम उसपर हो या न हो, पर वह उसपर प्रेम करता है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि प्रेम करनेवाला जिसपर प्रेम करता है, वह रूठा रहता है, पर प्रेम करनेवालेका प्रेम उसपर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। उसके रूठनेसे या मुँह मोड़े रहने-से वह अपनेमें ही त्रुटि समझता है। अन्तमें उसे विवश होकर बरबस

उसकी ओर आकर्षित होना पड़ता है। प्रेममें न तो प्रतिस्पर्द्धाका भाव होता है और न वह आकांक्षा ही रखता है। प्रेम अक्षुण्ण है। वह कम होना नहीं जानता, उत्तरोत्तर बढ़ना जानता है। उसकी प्रगति ऊर्ध्वगामी होती है, अधोगामी नहीं। प्रेम सदा अपूर्ण ही रहता है।

शुद्ध प्रेम दो तरहसे उत्पन्न होता है। कभी तो वह अकारण, अनायास एक क्षणमें पैदा हो जाता है और कभी साधारण रूपमें पैदा होकर कार्य-कारणकी सहायतासे धीरे-धीरे बढ़ता और क्रमशः परिपुष्ट होता जाता है। अकारण और अनायास पैदा होने वाले प्रेमका भी कुछ-न-कुछ कारण तो अवश्य ही रहता है, पर वह इतना सूक्ष्म रहता है कि प्रेमीजनोंको उसका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता। हाँ, यह अवश्य है कि उसमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भी किंचित् भी वासना की झलक दृष्टिगोचर नहीं होती। दोनों ही प्रकार से उत्पन्न होनेवाला प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और वासना रहित होता है। अन्तर केवल यही होता है कि एक का आकर्षण झटिति प्रतीत हो जाता है और दूसरे का कुछ दिनों के बाद धीरे-धीरे। जिस प्रेम में वासना की गन्ध मिले, समझ लेना चाहिये कि वह प्रेम नहीं है—काम है। प्रेम तो पर्वत की तरह स्थिर, सागर की तरह अगाध, गम्भीर और निर्मल, तथा निष्काम होता है। प्रेम असीम है। उसका कहीं भी ओर-छोर नहीं। प्रेम का रूप समझने पर समझ में आता है, पर वह व्याख्या करने का विषय नहीं।

यह तो ऐसा विषय है कि इसपर बहुत बड़े ग्रन्थ का निर्माण किया जा सकता है, फिर भी प्रेम की परिभाषा अधूरी ही रहेगी। यहाँ पर न तो उतना स्थान है और न पर्याप्त समय। थोड़े में प्रेम का लक्ष्य कराया जा रहा है, उससे मेधावी और मननशील बुद्धि प्रेम का असली रूप समझने में समर्थ होगी। काम-वासना को ही प्रेम माननेवालों की धारणा है कि प्रारम्भ से ही Sex प्रजनन की प्रधानता प्रेम तथा धर्म आदि का रूप धारण करती रही है और मनुष्य-धर्म भी पहले Sex worship

प्रजनन-शक्ति की पूजा या किसी-न-किसी रूप में लिंग-पूजा से ही आरम्भ होता है। उन लोगों का अनुमान है कि मनुष्य का जहाँ कहीं भी निवास था, हर जगह Sex worship प्रजनन-शक्ति-पूजा और Phallic Religions लिंग-पूजा की प्रधानता थी और विकास का यही प्रयत्न रहा है कि Sex प्रजनन या काम अच्छे से अच्छे, सुंदर से सुन्दर शब्दों के आच्छादन से ढँका रहे। किन्तु ऐसे विचारवालों ने लिंग-पूजा का रहस्य नहीं समझा है और न समझने की चेष्टा की है। वास्तव में 'लिंग' शब्द का अर्थ है 'लिंग्यते अनेन लिंग धजप्' 'पुंसि घजप्' इति नियमेऽ पि अभिधानात् क्लीव लिंगत्वम्।' लिंग वह है जिससे किसी वस्तु की पहचान हो। या जिससे किसी वस्तु का अनुमान हो; जैसे अग्नि के धूमलिंग हैं। अर्थात् धूम से अग्नि का अनुमान होता है। स्पष्ट शब्दों में यों कहना चाहिए कि लिंग का अर्थ है, चिन्ह, प्रतीक। सांख्य-शास्त्र ने लिंग माना है मूल प्रकृति को। अब यह देखना है कि लिंग-पूजा का अभिप्राय क्या है।

आकाशं लिंगमित्याहुः, पृथिवी तस्य पीठिका।
आलयः सर्व देवानां लयनाल्लिंगमुच्यते॥

—स्कन्द पुराण

अर्थात् आकाश लिंग और पृथ्वी उसकी पीठिका है। यह सब देवताओं का आलय है, इसमें सभी लय होते हैं। उपनिषदों में भी इस बात का उल्लेख है कि सच्चिदानन्द आनन्दघन परब्रह्म का प्रतीक आकाश है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि आकाश निराकार ब्रह्म का प्रतीक कैसे है? सुनो, ब्रह्म आकाररहित है। इसलिए यह बात कही जा सकती है कि जब ब्रह्म का आकार ही नहीं है, तब उसकी प्रतीति कैसे हो सकती है? इस शंका का निवारण आकाश से हो जाता है। क्योंकि आकाश भी तो शून्य है—आकाररहित है; फिर भी हमें प्रतीत होता है कि आकाश है। इससे यह सिद्ध होता है कि आकाररहित वस्तु की

की प्रतीति हो सकती है, अतः ब्रह्म की प्रतीति के विषय में शंका करना व्यर्थ है। बस, इसीसे आकाश को ब्रह्म का प्रतीक या चिह्न कहा गया है। यह आकाश ही वायु संघात से मेघों द्वारा पृथ्वी पीठिका पर वर्षा करता है, जिससे धान्यादि की उत्पत्ति होती है।

ब्रह्म का यह प्रतीक मनुष्य-शरीर में भी है, जिसका अनुभव योगी पुरुष करते हैं। उसका नाम है 'ज्योतिर्मयलिंग'। जिस प्रणव में 'अ' कार रूप से ब्रह्मा, 'उ' कार से विष्णु 'म' कार से 'शिव' का समावेश है, उसी 'ॐ' का प्रतीक ज्योतिर्मयलिंग है। इस ज्योतिर्मयलिंग का दर्शन योगीजन समाधिकाल में करते हैं। योगशास्त्र का वचन है—

"मूर्द्धा ज्योति दर्शनम्।"

यह ज्योतिर्मयलिंग षट् चक्रान्तर्गत मूलाधार से समुत्थित होकर ब्रह्म-रन्ध्र तक परिव्याप्त है। मनुष्य-देह में ज्योतिर्मयलिंग ही ब्रह्म का प्रतीक है। यह लम्बायमान लिंग प्रकाशमय है। उसीका प्रतीक पाषाणमूर्ति शिवलिंग है जिसकी पूजा की जाती है। लिंगपूजा केवल भारत में ही आबद्ध नहीं थी। मिश्र देश में भी ओसीरिस देव की लिंग-पूजा बहुत प्रबल थी। चीन और जापान के प्राचीन साहित्य में भी लिंग-पूजा की गवाही मिलती है। अमेरिका के महाद्वीपों के प्राचीन निवासी भी लिंग-पूजा करते थे। पर लिंग-पूजा का असली रहस्य यही है, जिसे हम ऊपर प्रकट कर चुके हैं।

प्रत्येक जीवन में प्रकृति और पुरुष के मिलन की जो दुर्दमनीय इच्छा वर्तमान रहती है, उसी इच्छा से सृष्टि का आरम्भ होता है। इसी का प्रतिरूप शिवलिंग-पूजा है। इसे यों भी कह सकते हैं कि लिंग-पूजा सृष्टि-रहस्य का एक चिह्न है। क्योंकि ज्योतिर्मयलिंग 'ॐ' स्वरूप है और 'ॐ' ही सृष्टि का स्रष्टा है। उसी का प्रतीक लिंग है। यह लिंग-पूजा जननेन्द्रिय के आधार पर नहीं प्रचलित हुई है, बल्कि सृष्टिरहस्य के चित्र-रूप में सृष्टि के स्रष्टा साक्षात् परब्रह्म परमात्मा की अपरोक्ष विज्ञानपूर्ण

मधुर स्मृति है। इससे मनुष्य जाति की उच्च भावना का पता चला है। अधिक स्पष्ट शब्दों में यों कहा जा सकता है कि लिंग-पूजा सृष्टि के स्रष्टा की पूजा है।

इस विवेचन से यह स्थिर हुआ कि लिंग-पूजा की दुहाई देकर प्रेम का अनर्गल अर्थ करना कपोल-कल्पना है और एक पवित्र वस्तु को कलंकित करना है। न तो प्रेम काम-लिप्सा है और न इस आधार पर लिंग-पूजा का प्रचलन ही हुआ है। प्रेम में भोग, आकांक्षा, वासना या काम कुछ भी नहीं हुआ करता है। प्रेम मोक्षदाता है। मोक्षदायिनी वस्तु में भोग कहाँ ? देखिये न, अनादि भगवान् शिवजी ने कहा है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो। यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः ॥

अर्थात् 'जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं और जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं'। दोनों परस्पर भिन्न वस्तुएँ हैं। जहाँ दिन है वहाँ रात नहीं और जहाँ रात है वहाँ दिन नहीं। एक के अवसान में ही दूसरे का पदार्पण हो सकता है। ठीक यही बात मोक्ष और भोग के सम्बन्ध में है। पहला ज्ञान का परिणाम है और दूसरा अज्ञान का। ज्ञान प्रकाशमय है और अज्ञान अन्धकार-पूर्ण। इसलिए न तो प्रकाश में अन्धकार हो सकता है और न अन्धकार में प्रकाश ही। इससे यह निष्कर्ष निकला कि प्रेम भोग से परे वस्तु है।

प्रेम के सम्बन्ध में यह कथन बिलकुल सही है कि 'God is love and love is God' 'ईश्वर प्रेम है और प्रेम ही ईश्वर है' भारतीय कवियों ने भी कहा है—

प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै में लसै, ज्यों सूरज अरु धूप ॥

सर्वथा ध्वंस रहितं, सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भाव बन्धनं यूनोः, स प्रेमा परिकीर्त्तितः ॥

छिनहि चढ़ै छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय॥
प्रेम सदा बढ़िबौ करै, ज्यौं ससिकला सुवेष।
पै पूनों यामैं नहीं, तातैं कबहुँ न शेष॥

निजांगमपि या गोप्यो, ममते समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ! निगूढ़ प्रेम भाजनम्॥

एक नेम यह प्रेम को, नेम सबै छुटि जाहिं।
पै जो छाँड़ै जानि कै, तहाँ प्रेम कछु नाहिं॥

प्रथम सीस अरपन करै, पाछे करै प्रवेस।
ऐसे प्रेमी सुजन को, है प्रवेस यहि देश॥

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं। जानेहु प्रीति-रीति यहि माहीं॥

ऊपर के अवतरणों से प्रेम का स्वरूप समझने में बहुत कुछ सहायता मिलेगी। प्रेम केवल स्त्री-पुरुष में ही होता है, ऐसा कहना ठीक नहीं। हमारा निजी अनुभव है कि प्रेम पुरुष-पुरुष में भी होता है, मनुष्य और पशु-पक्षी में भी होता है और वह अन्ततक निर्दोष, निस्स्वार्थ एवं सुन्दर बना रहता है*। यह धारणा भ्रान्त है कि प्रेम केवल स्त्री-पुरुष में ही

---

* एक महात्मा का एक हारिल पक्षी से प्रेम था। वह हारिल भी उनसे प्रेम करता था। तारीफ यह थी कि उसे उन्होंने पाला नहीं था।

होता है। मातृ-प्रेम, भ्रातृ-प्रेम, पुत्र-प्रेम, धर्म-प्रेम, देश-प्रेम, जाति-प्रेम, मित्र-प्रेम, विद्या-प्रेम आदि में यदि प्रेम का शुद्ध रूप हो तो इन सब को प्रेम के सिवा दूसरा कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि ये सब प्रेम की सीमा में न भी आते, तब भी अब प्रेम ही कहे जाते। क्योंकि मानव स्वभाव ने जिस बात को मान लिया है, उसमें किसी प्रकार का तर्क करना व्यर्थ है। शब्द का अर्थ बदलने के लिए फिर से सृष्टि का निर्माण नहीं किया जा सकता। ऐसे बहुत से शब्द हैं जिनका यथार्थ अर्थ कुछ और ही है, पर वे मूल अर्थ से सर्वथा भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होते हैं और भाषा ने उन्हें उस प्रयुक्त होनेवाले अर्थ में ही ग्राह्य भी कर लिया है। उदाहरण के लिए आनन्द, ज्ञान आदि शब्द हैं। इनका असली अर्थ वेदान्त-शास्त्र ने कुछ और ही माना है, पर ये प्रयुक्त होते हैं कुछ और ही अर्थ में। तो क्या इन्हें असली अर्थ में लाने के लिए कोष बदले जा सकते हैं? इनका बदलना तो तभी सम्भव होगा जब भाषा स्वभावतः इन्हें भिन्न अर्थ में स्वीकार कर लेगी। इसलिए हम तो यही मानेंगे कि प्रेम हर किसी उपयुक्त पात्र में हो सकता है और होता है। रही बात प्रेम के पूर्णता की सो तो दुर्लभ है ही। क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो 'सियाराम मय सब जग जानी' की सार्थकता कैसे होगी?

हाँ, यह अवश्य है कि पुरुष का पुरुष के साथ प्रेम होने के उदा-

वह पक्षी जहाँ दूसरों को देखकर उड़ जाता था, वहाँ उन्हें देखते ही उनकी गोद में आकर बैठ जाता था। जिस दिन वह महाशय कहीं चले जाते थे, हारिल दिन भर चारा-पानी छोड़कर उदासभाव से वृक्ष की डाली पर बैठा दरवाजे की ओर देखा करता था। हारिल के न देखने पर उक्त महाशय भी बेचैन रहा करते थे। अन्त में लगातार कई दिनों तक पक्षी को न देखने पर उनकी मृत्यु हो गयी। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रेम प्राणि-विशेष में सीमित नहीं। ऐसा प्रेम आत्मैक्य का द्योतक है।

हरण बहुत कम मिलेंगे, किन्तु स्त्री-पुरुष में प्रेम होने के उससे अधिक। सच्चा प्रेम तो केवल भगवान में ही होता है, उसके बाद स्त्री-पुरुष में। या यों कहना चाहिए कि पति-पत्नी में। दाम्पत्य जीवन की यही विशेषता है। प्राण का प्राण में, मन का मन में, आत्मा का आत्मा में मिला देना ही दम्पति-जीवन का चरमोत्कर्ष है। केवल शरीर का शरीर के साथ मेल होना ही दम्पति-जीवन का सर्वस्व नहीं। 'एक जान दो कालिब' इस कहावत का चरितार्थ होना पति-पत्नी-प्रेम में अधिक सम्भव रहता है। पति-पत्नी प्रेम वास्तव में प्रकृति और पुरुष का मेल है जो कि सर्वथा स्वाभाविक और सरल है। प्रेमोत्कर्ष में अनन्यता आ जाती है। एक को छोड़कर दूसरे में और दूसरे को छोड़कर तीसरे में प्रेम का होना प्रेम नहीं है—कामुकता है। प्रेमी तो अपनी प्रेमिका में ही पूर्णता देखता है; इसी प्रकार प्रेमिका भी अपने प्रेमी में। दोनों को शेष समूचे जगत में अपूर्णता दिखायी पड़ती है। जहाँ प्रेमी अपने प्रेम में पूर्णता देखता है, वहाँ वह अपने प्रेम में सदैव अपूर्णता का अनुभव किया करता है। पूर्णता में शान्ति होती है, चंचलता या उद्विग्नता नहीं। इसलिए उसकी प्रवृत्ति अन्य ओर नहीं होती। अपूर्णता का अनुभव होने में पूर्णता लाने का प्रयास होता है, अतः उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है।

प्रेम में लय है। पवित्र दम्पति-जीवन में दोनों ही अपने को एक दूसरे में लय कर देते हैं। अभिन्नता रही नहीं जाती। प्रेम में अशुद्धता या धर्म-विरुद्धता नहीं है। वह स्वयं धर्ममूर्ति है, आनन्द-स्वरूप है। जिस प्रकार इसका शुद्ध रूप निराला है, उसी प्रकार इसका पंथ भी निराला है।

अतएव 'लव-लेटर्स' या प्रेम-पत्र में पति-पत्नी के प्रेम-पत्रों का समावेश होना स्वाभाविक है। पति-पत्नी के पत्र-व्यवहार में ही प्रेम की झाँकी दिखायी पड़ सकती है। यही कारण है कि इस पुस्तक में केवल ऐसे ही पत्र रखे गये हैं। भले ही स्त्री परकीया हो या स्वकीया। इसे लेखक और लेखिकाएँ जानें।

अन्त में हम रामचरित-मानस की दो चौपाइयाँ उद्धृत करके इस पत्र या उपसंहार को समाप्त करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास की इन चौपाइयों से तुम्हें इस बात का ज्ञान हो जायगा कि प्रेम कैसे होता है।

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
बिना प्रीति नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जल की चिकनाई॥

तुम्हारे ही शब्दों में—
'सरकार'।

सर्वे भवन्तु सुखिनो सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, माकश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ॥१॥

सत्यं शिवं सुन्दरम्

ॐ शान्तिः ३